भगवान श्री कुन्द कुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प ७१

मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें

दूसरा भाग



पं० प्रवर श्री टोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक शास्त्र पर
पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का सार



अनुवादक :
मगनलाल जैन



प्रकाशक :
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

भगवान श्री कुन्द कुन्द–कहान जैन शास्त्रमाला
पुष्प ७१

मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें

[भाग दूसरा अध्याय सातवाँ]

पं० प्रवर श्री टोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक शास्त्र पर
पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का सार



अनुवादक :
मंगनलाल जैन



प्रकाशक :
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रथम संस्करण वीर नि० सं० २४८३ प्रति १०००
द्वितीय संस्करण वीर नि० सं० २४८६ प्रति-१०००



मूल्य २)



मुद्रक : नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)

निवेदन

श्रीमान् पण्डित प्रवर श्री टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ की रचना की है। उसका सातवाँ अधिकार अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि वस्तुस्वरूप जैन धर्म है; तथापि उसके अनुयायी उसे कुलधर्म मान बैठते हैं और स्वयं वस्तुस्वरूप धर्म के अनुयायी हैं—ऐसा मानकर श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, तप, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, पुण्य, नवतत्त्व, अनुप्रेक्षा, निश्चय और व्यवहारादि में कैसी गम्भीर भूलें करते हैं—उसका इस सातवें अधिकार में अत्यन्त सुन्दर निरूपण किया गया है। इस अधिकार पर पूज्य श्री कानजी स्वामी ने अपनी अत्यन्त रोचक शैली में विशद रीति से वीर सं० २४७६ में प्रवचन किये थे और वे सोनगढ़ से प्रकाशित होने वाली "श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद" नामकी हस्तलिखित (गुजराती) दैनिक पत्रिका में क्रमशः दिये जा चुके हैं। उन्हीं को संक्षिप्त करके यह पुस्तक प्रकाशित की गई है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रथम छह अधिकारों के प्रवचनों का संक्षिप्त सार "मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें" (भाग–१) के रूप में श्री दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट की ओर से वीर सं० २४७६ में प्रकाशित हो चुका है, और दूसरा भाग आपके हाथ में है। पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से प्रगट हुई इन किरणों द्वारा मोक्ष का मार्ग सदैव प्रकाशमान रहे।

आचार्यकल्प पण्डितवर्य श्री टोडरमलजी साहब का महान उपकार है कि जिन्होंने इतनी सरलता से उन सब बातों को बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से स्पष्ट किया है कि जो मोक्षमार्ग के साधक जीव की

साधना के मार्ग में अटक जाने के स्थान आते हैं जिससे कि साधक कहीं भी न अटक कर यथार्थ मार्ग में लग जावे।

दूसरा उपकार है पूज्य श्री गुरुदेव का जिन्होंने श्री पण्डितजी के विषय को विशदरूप से स्पष्टीकरण करके हम साधकों के लिये मार्ग को और भी सरल बनाया।

"श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद" में प्रकाशित प्रवचनों को संक्षिप्त करने में भाई श्री शिवलाल देवचन्द दोशी वकील राजकोटवालों ने अच्छा सहयोग दिया है; उसके लिये उनका आभार मानते हैं।

गुजराती पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भा० श्री मगनलालजी जैन ने किया उसको आद्योपान्त मिलान करने आदि का कार्य ब्रह्मचारी भाई गुलाबचन्दजी ने किया उसके लिये उनका भी आभार मानते हैं।

सोनगढ़
वीर सं० २४८६
पौष बदी १४

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख—श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)



विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
(१) केवल निश्चयनयावलंबी जैनाभासों का वर्णन	३–८९
संसार पर्याय में मोक्ष पर्यायकी मान्यता वह भ्रम है	४
तीन प्रकारकी विपरीत मान्यता	६
शक्तिमें से व्यक्ति	७
आत्माका परमपारिणामिक भाव	८
स्वभावमें से केवलज्ञान प्रगट होता है	९
आत्मामें केवलज्ञान की शक्ति है	१०
पंचमहाव्रतादिके परिणाम वह राग है	११
प्रथम क्या निर्णय करना चाहिये !	१२
कर्मोदय का अर्थ	१२
निमित्त–उपादान, नि० नैमित्तिक	१६
व्यवहारके कथनका आशय	२१
शास्त्रमें विकार को पुद्गलजन्य कहने में आशय–	२२
विकार जीव और कर्म प्रकृति इन दोनों का भी कार्य नहीं है	२३
रागादि अकेली कर्म प्रकृति का भी कार्य नहीं है	२४
रागादि भाव आत्मामें ही होते हैं	२५
कर्म राग नहीं कराते	२६
रागादि भाव औपाधिक भाव है	३०
निमित्तकी मुख्यता से रागादि पुद्गलमय हैं	३१

विभाव भावके नाश का उद्यम करना योग्य है ३२
निश्चयभासीकी भूलके चार प्रकार ३२
बुद्धिपूर्वक–अबुद्धिपूर्वक का पुरुषार्थ ३४
तत्त्वविचारादि उद्यम कर्मके क्षयोपशमादि के आधीन है ३६
कर्म–नोकर्मका बंधन; आत्मा और शरीर दोनोंकी स्वतंत्र अवस्था ३७
द्रव्य दृष्टिसे रागादि और कर्म नोकर्म का संबंध अभूतार्थ है ३८
कर्म नोकर्मके साथ तादात्म्यसम्बंध नहीं है नि० नै० संबंध है ३९
शुद्ध अशुद्ध पर्यायोंका पिंड वह आत्मद्रव्य है ४४
स्व पर प्रकाशक शक्ति आत्माकी है ४८
परद्रव्यसे भिन्न और अपने भावोंसे अभिन्न वह द्रव्यकी शुद्धता है ४९
सम्यग्दृष्टि जानता है कि मेरी शक्ति तो सिद्ध ही होनेकी है ५१
आत्माकी निर्मल अनूभूति होकर अकषाय भावका होना वह पर्याय की शुद्धता है ५३
ज्ञानीको भी शास्त्राभ्यास आदि शुभ विकल्प होते हैं ५६
शास्त्राभ्यास का प्रयोजन ५९
तत्त्वज्ञान के बिना मात्र तपसे धर्म नहीं होता ७६
पहले तत्त्वज्ञान करना चाहिये ७८
परिणाम और बाह्य क्रियाका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध ७९
सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही सच्ची प्रतिज्ञा होती है। ८२
शुभ भावसे कर्मके स्थिति अनुभाग घट जाते हैं। ८५
शुभाशुभ दोनों आस्रव हैं, किन्तु अशुभको छोड़कर शुभमें प्रवर्तन करना योग्य है। ८७

(२) मात्र निश्चयावलम्बी जीवकी प्रवृत्ति ९० से ११३
उपयोग को स्व में लगाने के उपदेश का प्रयोजन १०७
परद्रव्य रागादिका कारण नहीं है। १०८
परद्रव्यका ज्ञातृत्व दोष नहीं है १०९
आत्माका श्रद्धा, ज्ञान-आचरणका अर्थ १११
(३) मात्र व्यवहारावलम्बी जैनाभासोंका निरूपण ११४ से १५२
व्यवहार प्रथम कहकर दो हजार वर्ष पहले श्वेताम्बर संप्रदाय की स्थापना हुई है ११५-१७
जड़ चेतन की पर्याय क्रमबद्ध है ११८
स्वभाव दृष्टि करना चारों अनुयोगोंका तात्पर्य है ११९
सामान्य-विशेष दोनों निरपेक्ष १२१
कुलक्रमसे धर्म नहीं होता १३०
मात्र आज्ञानुसारी सच्चे जैन नहीं हैं १३३
परीक्षा करके आज्ञा मानना वह आज्ञा सम्यक्त्व है १३८
तीर्थंकर, गणधर के नाम से लिखे हुए कल्पित शास्त्रोंकी परीक्षा करके श्रद्धा छोड़ना चाहिये १४१
पर जीवोंकी दया पालन करना आदि जैन धर्म का सच्चा लक्षण नहीं है। १४४
दया, दान, तपसे सम्यक्त्व नहीं होता १४६
धन प्राप्ति आदि लौकिक प्रयोजन के हेतु धर्मक्रिया करे उसे पुण्य भी नहीं होता १४९
(४) जैनाभासी मिथ्यादृष्टियों की धर्म साधना १५३से१६२

सर्व शास्त्रोंका तात्पर्य "वीतरागभाव शुभभावधर्म नहीं
किन्तु पुण्य है १५८
व्यवहार रत्नत्रय आश्रव है, अर्हन्त की महानता बाह्य वैभवसे नहीं
किन्तु वीतरागी विज्ञान से है १६१
[५] जैनाभासोंकी सुदेव–गुरु–शास्त्र भक्ति का मिथ्यापना
१६३ से १८९
केवलज्ञानके कारण दिव्यध्वनि नहीं खिरती १६५
ज्ञानीके ही सच्ची भक्ति होती है १७३
ज्ञानी और अज्ञानी की भक्तिमें विशेषता १७५
अज्ञानीकी गुरु भक्ति १७६
मुनि का सच्चा लक्षण १८१
अज्ञानीकी शास्त्र भक्ति सम्बन्धी भूल १८३
जैन शास्त्रों का सच्चा लक्षण १८५
(६) तत्त्वार्थ श्रद्धान की अयथार्थता १९० से २५९
भावभासनका दृष्टान्त सहित निरूपण १९१
जीव–अजीव तत्त्वके श्रद्धानकी अयथार्थता १९४
नैमित्तिक क्रिया स्वतंत्र होती है, उसमें अन्य पदार्थ निमित्त
मात्र हैं १९८
आस्रवतत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता २०१
बन्धतत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता २०८
संवरतत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता २१२
शुभराग संवर नहीं किन्तु आश्रव है २१५

निर्जरातत्त्व के श्रद्धानकी अयथार्थता २२६
नियत का निर्णय पुरुषार्थ से होता है। २३१
निर्जरा के चार प्रकार २३३
जैन और अजैन कौन २३४
आत्मा के भान बिना उपवास लंघन है २३६
केवली भगवान् के असाता सातारूप में परिणमित होती है २४०
विशुद्धता के अनुसार निर्जरा होती है बाह्य प्रवर्तनके अनुसार नहीं २४१
मोक्षतत्त्वके श्रद्धानकी अयथार्थता २४६
अनन्तताके स्वरूपको केवली भगवान अनन्तरूपसे जानते देखते हैं २४७
अज्ञानी को तत्त्वार्थ श्रद्धान नामनिक्षेप से है। २५५
सविकल्प और निर्विकल्प भेदज्ञान २५५
सम्यग्दर्शन के बिना अकेला व्यवहार व्यर्थ है। २५७
(७) सम्यग्ज्ञानके हेतु होनेवाली प्रवृत्तिमें अयथार्थता २६०-२७७
"सद्गुरु कहै सहज का धंधा, वाद विवाद करै सो अंधा।"
"खोजी जीवै वादि मरै।" २६१
शास्त्राभ्यास अपने ज्ञान लाभ के लिये है, मात्र दूसरोंको सुनाने के लिये नहीं। २६२
शास्त्र पढ़ने का प्रयोजन २६३
आत्मा पर जड़ कर्म का प्रभाव नहीं है। २६७
चारों अनुयोगों के अभ्यास का प्रयोजन २६६
देशनालब्धि में सम्यग्ज्ञानी ही निमित्त होते हैं २७२
(८) सम्यक् चारित्र के हेतु होनेवाली प्रवृत्ति में अयथार्थता २७८-३२

सम्यग्दर्शनरूपी भूमि के बिना व्रतरूपी वृक्ष नहीं होता। २८३
तत्त्वज्ञान के विना सर्व आचरण मिथ्या है। २८५
ज्ञान प्रत्याख्यान है। २८८
धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। २८९
ज्ञानी अपनी शक्ति अनुसार प्रतिज्ञादि लेता है २९३
श्री महावीर जन्म कल्याणक दिन २९५
भगवान जीवों का उद्धारक है–यह कथन निमित्त का है २९८
छहों द्रव्योंका परिणमन स्वतंत्र है। जैन धर्म की आम्नाय ३००
तत्त्वज्ञान पूर्वक ही प्रतिज्ञा लेना योग्य है ३०१
आत्माके भान बिना आचरण मिथ्याचारित्र है
तत्त्वज्ञानपूर्वक आचरण सम्यक्चारित्र है। ३११
चारित्र आनंददायक है, उसे कष्टप्रद मानना वह मिथ्यात्व है। ३१४
तेरह प्रकार का चारित्र मंदकषाय है, धर्म नहीं। ३१६
द्रव्यलिंगीका मिथ्यापना सम्यग्दृष्टि जान सकते हैं। ३१८
जाति स्मरण ज्ञान ३१९

(९) द्रव्यलिंगीके धर्म साधनमें अन्यथापना ३२१–३३३

परद्रव्यको इष्ट–अनिष्ट जानकर ग्रहण–त्याग करना वह मिथ्याबुद्धि है। ३२२
कोई परद्रव्य भले–बुरे हैं ही नहीं फिर.... ३२५
निमित्त के कारण भाव नहीं बिगड़ता। ३२५
सच्ची उदासीनता ३२७
परवस्तु अपना परिणाम बिगाड़ने में समर्थ नहीं है। ३२७

महाव्रतादि प्रशस्तराग चारित्र नहीं है किन्तु चारित्र में दोष है ३३०

(१०) द्रव्यलिंगी के अभिप्रायका अयथार्थपना ३२४–३४७

तत्त्वज्ञानके बिना द्रव्यलिंगी कषायका पोषण करता है। ३३४

सर्वज्ञके मार्गके साथ किसी भी धर्मका समन्वय नहीं हो सकता जैन अर्थात् स्वतंत्र वस्तु स्वभावका कथन करनेवाला ३३६

शुभभाव ज्ञानी के दंड समान है, मिथ्यादृष्टि को व्यापार समान है। ३३७

द्रव्यलिंगी वास्तवमें कर्म और आत्माको भिन्न नहीं मानता ३३९

द्रव्यलिंगीसाधु–असंयत सम्यग्दृष्टि तथा देश संयत की अपेक्षा में हीन है ३४१

संयोगदृष्टि वाले को कभी धर्म नहीं होता ३४५

संसार तत्त्व कौन ? ३४७

(११) निश्चय–व्यवहाराभासावलम्बी मिथ्यादृष्टियोंका स्वरूप ३४८–४१८

मोक्षमार्ग दो नहीं, उसके निरूपण के दो प्रकार हैं। ३४९

सच्चा निरूपण वह निश्चय तथा उपचार निरूपण वह व्यवहार है। ३५१

संसारका मूल मिथ्यादर्शन है; उसका नाश करने से संसार का नाश होता है। ३५३

व्यवहारनय असत्यार्थ है, निश्चयनय सत्यार्थ है। ३५४

निश्चय–व्यवहारनयकी व्याख्या ३५७

व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं है, तथापि निमित्तादि की अपेक्षा उसे

मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है। ३६०

कारण–कार्यमें निश्चय–व्यवहार ३६१

प्रवृत्ति नयरूप नहीं है, अभिप्रायानुसार प्ररूपणासे प्रवृत्तिमें दोनों नय बनते हैं। ३६४

"निश्चयनयाश्रित मुनिवर, प्राप्ति करें निर्वाणकी।" ३६६

निश्चयको उपादेय और व्यवहार को हेय मानना वह दोनों नयों का श्रद्धान है। ३६७

जो आत्मार्थ में जाग्रत हैं वह व्यवहार में सोते हैं। ३७०

व्यवहार जानने योग्य है आदरणीय (उपादेय) नहीं है। ३७२

नौ–प्रकारके आरोप–व्यवहार ३७२

व्य० नय असत्यार्थ निरूपण करता है; इसलिये तदनुसार मानना मिथ्यात्व है। ३७३

दोनों नयों के ग्रहणका अर्थ ३७६

दोनों नयोंको समान सत्यार्थ नहीं जानना चाहिये। ३७७

निमित्तका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। ३७८

व्यवहारनय परमार्थको समझाने के लिये है ३७९

व्य० नय से कथनका तीन प्रकार ३८१

जिसके वीतराग भावरूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उसके व्रतादि को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। ३८५

"बोले उसके दो" ३८७

व्यवहार का पहला प्रकार ३८८

" दूसरा " ३८९

" तीसरा " ३९२

व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहना वह उपचार है। ३९३
तीनों प्रकारके व्यवहार ३९५
व्यवहारनय कार्यकारी का अर्थ ३९८
जो मात्र व्यवहार को ही समझता है वह उपदेशके योग्य नहीं है ३९९
व्रतादिक व्यवहार नहीं है, किन्तु व्रतादि को मोक्षमार्ग मानना वह व्यवहार है। ४०३
सम्यग्दर्शन होने के पश्चात व्रतादि शुभ भाव को मोक्षमार्ग का उपचार आता है, अशुभ को नहीं ४०४
एकही पर्यायमें परस्पर विरुद्ध दो भाव मानना वह मिथ्यात्व है ४०८
शुद्ध उपयोग ही धर्म का कारण है ४११
वीतराग शुद्ध उपयोग ही मोक्षका कारण है ४१२
शुभको और शुद्धको कारण-कार्यपना नहीं है। ४१४
निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी अज्ञानी का भ्रम ४१६
(१२) सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टिका निरूपण ४१९
सम्यग्दर्शन पूर्वकी पात्रता ४२०
विकार जीवका उस समय का स्वकाल है; कर्मके कारण विकार नहीं है। ४२७
स्वानुभव प्रगट करने के लिये प्रेरणा ४३०
शुभ भावसे संसार परिमित नहीं होता ४३२
भाव भासन पूर्वक प्रतीति वही सच्ची प्रतीति है। ४३३
परीक्षा करके हेय-उपादेय तत्वों को पहिचानना ४३५
प्रयोजनभूत हेय-उपादेय तत्वोंकी परीक्षा करके यथार्थ निर्णय करना ४३६

अवश्य जानने योग्य तत्त्व	४३६
सम्यक्त्व सन्मुख जीवका उत्साह पूर्वक पुरुषार्थ	४४०
तत्त्व विचार होते ही सम्यक्त्व का अधिकारी	४४१
चैतन्यकी निर्विकल्प अनूभूति वही सम्यग्दर्शन !	४४२
सम्यक्त्व के साथ देव-गुरु-धर्म आदि की प्रतीतिका नियम है	४४३
पंच लब्धियों का स्वरूप।	४४४
परिणामों की विचित्रता।	४४८
संसार का मूल मिथ्यात्व है।	४५२



❀ श्री सिद्धेभ्यः नमः ❀

❀ श्री मोक्षमार्गप्रकाशकेभ्यः नमः ❀

१

अध्याय सातवाँ

जैनमतानुयायी मिथ्यादृष्टियों का स्वरूप

[वीर सं० २४७६ माघ शुक्ला १०, शनि, २४-१-५३]

दिगम्बर सम्प्रदायमें सच्चे देव–गुरु–शास्त्रकी मान्यता होने पर भी जीव मिथ्यादृष्टि किस प्रकार हैं ? वह कहते हैं। जो वेदान्त, बौद्ध, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि हैं वे जैन मतका अनुसरण करनेवाले नहीं हैं;—यह बात तो इस शास्त्रके पाँचवें अधिकारमें कही जा चुकी है। यहाँ तो यह कहते हैं कि—जो वीतरागकी प्रतिमाको पूजते हैं, २८ मूल गुण धारक नग्न भावलिंगी मुनिको मानते हैं, उनके कहे हुए शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं—ऐसे जैन-मतानुयायी भी किस प्रकार मिथ्यादृष्टि हैं।

"सता स्वरूप" में श्री भागचन्दजी छाजड़ ने कहा है कि दिगम्बर जैन कहते हैं कि—हम तो सच्चे देवादिको मानते हैं इसलिये हमारा गृहीत मिथ्यात्व तो छूट ही गया है। तो कहते हैं कि—नहीं; तुम्हारा गृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटा है; क्योंकि तुम गृहीत मिथ्यात्वको जानते ही नहीं। अन्य देवादिको मानना ही गृहीत मिथ्यात्वका स्वरूप नहीं है। सच्चे देव–गुरु–शास्त्रकी श्रद्धा बाह्यमें

भी यथार्थ व्यवहार जानकर करना चाहिये; सच्चे व्यवहारको जाने विना कोई देवादिकी श्रद्धा करे तो वह भी गृहीत मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो अगृहीत मिथ्यात्वकी बात करते हैं—

इस भव तरुका मूल इक जानहु मिथ्या भाव।
ताकौं करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव॥ १॥

—इस संसाररूपी वृक्षकी जड़ एक मिथ्यात्व भाव ही है; उस मिथ्यात्व भावका यदि समूल नाश करदे तो मोक्षका उपाय होता है।

जो सच्चे देवादिको मानते हैं वे जैन हैं; उनके अतिरिक्त अन्य जीव तो जैन भी नहीं कहलाते; और जो जैन हैं तथा जिन आज्ञाको मानते हैं उनके भी मिथ्यात्व रहता है।—उसका यहाँ वर्णन करते हैं। जिन्होंने दिगम्बर सनातन जैनकुलमें जन्म लिया हो, वे जिन-आज्ञाका पालन करते हैं, किन्तु देवादिका यथार्थ स्वरूप कैसा होता है उसकी उन्हें खबर नहीं है इसलिये उनके भी मिथ्यात्व होता है। अठारह दोष रहित सर्वज्ञ वीतरागको देव मानते हैं, नग्न दिगम्बर अट्ठाईस मूल गुणोंके धारी जो मुनि—उन्हें गुरु मानते हैं और उनके कहे हुए शास्त्रोंको मानते हैं,—उन्हें भी आत्माके यथार्थ स्वरूपका भान न होनेसे मिथ्यात्व होता है। जिन्हें सच्चे देवादिकी खबर नहीं है उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है। जिन्हें आत्माका यथार्थ भान हुआ हो उन्हें तो सच्चे देवादिकी सच्ची श्रद्धा और भक्ति आदि आये बिना नहीं रहते। भले ही नाम न लें, किन्तु उनके अंतरमें तो भक्ति-भाव होता है। यहाँ तो उन मिथ्यादृष्टियोंकी बात करते हैं जिन्हें—दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें जन्म लेकर—सच्चे देवादिको श्रद्धा होती है किन्तु यथार्थ आत्माका भान नहीं होता।

हम तो सनातन जैन धर्मावलम्बी हैं और वीतरागकी आज्ञाका पालन करते हैं—ऐसा माननेवाले जैन भी मिथ्यादृष्टि होते हैं। उस मिथ्यात्वका अंश भी बुरा है, इसलिये वह सूक्ष्म मिथ्यात्व भी छोड़ने योग्य है।

अब कहते हैं कि जिनागममें निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है; उसमें यथार्थका नाम निश्चय और उपचारका नाम व्यवहार है। षट्खण्डागम और समयसारादिको आगम कहा जाता है; उसमें जैसा निश्चय-व्यवहारका स्वरूप कहा गया है वैसे स्वरूपको जो यथावत् नहीं जानते और विपरीत मानते हैं वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। उनकी यहाँ बात करते हैं।

मात्र निश्चयनयावलम्बी जैनाभासोंका वर्णन

जो अकेले निश्चयनयको मानते हैं किन्तु व्यवहारको मानते ही नहीं—ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंका स्वरूप कहते हैं। कोई कोई जीव निश्चयको न जानकर मात्र निश्चयाभासके श्रद्धानी बनकर अपने को मोक्षमार्गी मानते हैं वे निश्चयके स्वरूपको नहीं जानते। हमें मोक्ष-मार्ग प्रगट हुआ है—ऐसा वे मानते हैं और अपने आत्माका सिद्ध समान अनुभव करते हैं, किन्तु स्वयं प्रत्यक्ष संसारी होने पर भी भ्रमसे अपने को वर्तमान पर्यायमें सिद्ध समान मान रहे हैं वही मिथ्यादृष्टि—निश्चयाभासी हैं। जैन कुलमें जन्म लेकर, समय-सारादि शास्त्र पढ़कर भी जो अपनी मति कल्पनासे पर्यायमें होने-वाले विकारको नहीं मानते वे मिथ्यादृष्टि हैं।

संसारपर्यायमें मोक्षपर्यायकी मान्यता वह भ्रम है

आत्माकी पर्यायमें रागादि हैं वह संसार है; वह प्रत्यक्ष होने

पर भी संसारपर्यायको मोक्षपर्याय मानना सो भ्रम है। एक समयमें दो पर्यायें नहीं होती—संसारपर्यायके समय सिद्धपर्याय नहीं होती और सिद्धपर्यायके समय संसारपर्याय नहीं होती। आत्मामें राग या विकारी पर्याय अपने कारणसे—अपने अपराधसे होती है; उसे कर्मके कारण माने—अथवा अपने परिणाम न माने, किन्तु जड़के परिणाम माने वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। "सिद्धसमान सदा पद मेरो" शास्त्रमें आत्माको सिद्ध समान कहा है वह कथन द्रव्य दृष्टिसे है। आत्मामें सिद्ध होनेकी शक्ति त्रिकाल विद्यमान है इस अपेक्षासे कहा है; किन्तु पर्याय अपेक्षासे सिद्ध समान नहीं कहा। स्वभावकी दृष्टिसे विकारका नाश हो जाता है;—इस अपेक्षासे विकारको अभूतार्थ—व्यवहार कहा है।

अन्तरमें छट्ठे गुणस्थानकी मुनिदशा होती है तब बाह्यमें यथार्थ नग्नता होती है।—इसे यथार्थ समझना चाहिये। मात्र नग्न हो जाये वह मुनित्व नहीं है; तीन कषायोंका नाश होने पर नग्नदशा तो सहज ही होती है; किन्तु नग्नदशा न हो और मुनिपना मानले, तो वह भी ठीक नहीं है।

पर्यायकी अपेक्षासे संसारी और सिद्ध एक समान नहीं हैं। जिसप्रकार राजा और रंक मनुष्यताकी अपेक्षा समान हैं, उसीप्रकार सिद्ध और संसारी जीवत्वकी अपेक्षासे एक—से हैं। मतिश्रुतादि चार ज्ञान भी पूर्ण केवलज्ञानरूप दशाकी अपेक्षासे अनन्तवें भागरूप हैं; तो फिर मिथ्यात्वकी पर्याय जो कि संसारभाव है उसे और सिद्ध पर्यायको समान मानना वह भ्रमणा है। पर्यायमें अनादिसे शुद्धदशा

ही हो तो संसार कैसा ? चौदहवें गुणस्थानमें भी औदयिकभाव—असिद्धत्व है। इसलिये वर्तमान प्रगट पर्यायमें 'हम सिद्ध हैं'—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

जीवके दो भेद हैं—सिद्ध और संसारी। जीव चौदहवें गुणस्थान तक संसारी कहलाता है। शास्त्रमें पर्याय बुद्धि छुड़ानेके लिये द्रव्य दृष्टिकी बात कही हो वहाँ निश्चयाभासी जीव वर्तमान पर्यायको नहीं मानता; इसप्रकार वह द्रव्यकी भूल करता है, यह बात कही। अब, केवलज्ञान पर्यायमें क्यों भूल करता है वह बात करते हैं।

और कोई अपने में केवलज्ञानादिका सद्भाव मानता है; अनन्तानन्द–वीर्य आदि वर्तमानमें प्रगट हैं ऐसा मानता है; किन्तु वर्तमान पर्यायमें तो अपने में क्षायोपशमिक भावरूप मति–श्रुतादि ज्ञानका सद्भाव है और क्षायिक भाव तो कर्मोंका क्षय होने पर ही होता है; तथापि भ्रमसे कर्मक्षयके बिना भी अपने में क्षायिकभाव मानता है वह भी मिथ्यादृष्टि है। जो इस पर्यायके स्वरूपको नहीं जानते ऐसे जीव जैन मतमें होने पर भी मिथ्यादृष्टि हैं—वह बात कही।

× × ×

[वीर सं॰ २४७९ माघ शुक्ला ११, रविवार, २५–१–५३]

शास्त्रमें केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तानन्द आदि स्वभाव शक्ति–अपेक्षासे कहे हैं; क्योंकि सर्व जीवोंमें उन रूप होनेकी शक्ति है।

तीन प्रकारकी विपरीत मान्यता

(१) आत्माका स्वभाव केवलज्ञान शक्तिरूपसे है, उसे कोई

व्यक्त-पर्यायमें है ऐसा माने तो वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है ।

(२) आत्मामें केवलज्ञान सत्तारूप है, अर्थात् पर्यायमें वह प्रगट है किन्तु कर्मके कारण रुका हुआ है—ऐसा जो मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि जड़कर्मके कारण पर्याय रुकी है—ऐसा मानना वह मिथ्यात्व है ।

(३) आत्मा शक्तिसे केवलज्ञान स्वरूप है—ऐसा जो मानता है, किन्तु ऐसा मानता है कि निमित्त या शुभभाव हो तो वह प्रगटे; वह भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है । क्योंकि जो शक्तिरूपसे ध्रुव है उसमें एकाग्र होनेसे वह प्रगट होगा—ऐसा वह नहीं मानता; इसलिये वह दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें होने पर भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है ।

—उपरोक्त तीन प्रकारकी विपरीत मान्यता जिसके विद्यमान है उसका मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ है, इसलिये उसे सम्यक्त्व नहीं है ।

श्वेताम्बर मानते हैं कि केवलज्ञान सत्तारूपसे है किन्तु कर्माच्छादनके कारण प्रगट नहीं है, वह भ्रम है और इसीलिये वे व्यवहाराभासी हैं । कोई-कोई दिगम्बर सम्प्रदायवाले ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञान शक्तिरूपसे है, किन्तु व्यवहाररत्नत्रय हो तो निश्चयरत्नत्रय प्रगट हो । पंच महाव्रतादि शुभराग हो तो शुद्धभाव हो—ऐसा कोई मानें तो वे रागको केवलज्ञान प्रगट करनेका साधन मानते हैं । शक्तिरूपसे केवलज्ञान है और वह अन्तरावलम्बनसे प्रगट होता है—ऐसा नहीं मानते इसलिये वे भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि हैं ।

शक्तिमें से व्यक्ति

लेंडी पीपरमें चौंसठपुटी चरपराहट शक्तिरूपसे है, किन्तु प्रगट रूपसे नहीं है। उसे वर्तमानमें प्रगटरूपसे माने तो वह मूर्ख है। और कोई चौंसठपुटी माने तथा ऊपर डिब्बी या किसी अन्य वस्तुका आवरण है ऐसा माने तो वह भी मूर्ख है। और कोई ऐसा माने कि–शक्तिरूपसे वह पत्थरके या अन्य किसी निमित्तके कारण प्रगट होती है, तो वह भी मूर्ख है। चौंसठपुटी चरपराहट तो शक्तिरूपसे है और उसीमें से प्रगट होती है—ऐसा मानना बुद्धिमत्ता पूर्ण है। उसीप्रकार आत्मामें भी केवलज्ञानादि शक्तिरूपसे विद्यमान हैं, उस पर दृष्टि जाना चाहिये। दियासलाईमें अग्नि प्रगटरूप नहीं है किन्तु शक्तिरूप है. उसीमें से वह प्रगट होती है—बाहरसे नहीं आती। उसीप्रकार शक्तिमें केवलज्ञान है उसका जिसे विश्वास नहीं है वह भले ही जैन, दिगम्बर साधु या श्रावक नाम धारण करता हो तथापि मिथ्यादृष्टि है।

"एक होय त्रण कालमां परमारथनो पंथ।" आम्रवृक्षमें आमों की ही उत्पत्ति हो–ऐसा एक ही प्रकार होता है। उसीप्रकार आत्मा का यथार्थ धर्म तो एक ही प्रकारसे होता है। शुभसे या निमित्तसे धर्म होता है–ऐसा माननेवाला यह नहीं मानता कि–वास्तवमें शक्ति विद्यमान है उसीमें से व्यक्तरूप होती है; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। द्रव्यमें त्रिकाल केवलज्ञानकी शक्ति विद्यमान है उसका विश्वास आये और निमित्त–व्यवहारकी दृष्टि छूटे तो सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं। जो ऐसा नहीं मानता कि—आत्माके पुरुषार्थ द्वारा शक्तिमें से केवलज्ञान प्रगट होगा, उसके तो सम्यक्त्वका भी पुरुषार्थ नहीं

होता। केवलज्ञान तो तीनकाल–तीनलोकको एक समयमें जानता है, वह कर्माच्छादनके कारण अटके–ऐसा नहीं हो सकता; किन्तु अपनी पर्यायमें इतनी निर्बलता है, इसलिये व्यक्त नहीं है; उसमें कर्म निमित्त मात्र है। कोई कहे कि कर्म हैं ही नहीं तो ऐसा भी नहीं है। आत्मा स्वयं अपने स्वभावका लक्ष नहीं करता तब परके ऊपर लक्ष जाता है, उसमें कर्म निमित्त मात्र है; किन्तु कर्मके कारण आत्माकी पर्याय रागरूप या अपूर्णदशारूप है—ऐसा नहीं है। वर्तमान पर्यायमें अपने कारण केवलज्ञानादि नहीं हैं, उसमें वर्तमान कर्मका निमित्त है ऐसा मानना चाहिये। इसके अतिरिक्त उल्टा–सीधा माने तो वह वस्तुके स्वभावको नहीं मानता है। निमित्त निमित्तमें है और आत्मामें नैमित्तिकभाव अपने कारण है; उसका यथावत् ज्ञान करना चाहिये।

आत्माका परमपारिणामिक भाव

आत्मामें परमपारिणामिक भाव त्रिकाल है। केवलज्ञान त्रिकाल शक्तिरूपसे है। केवलज्ञानकी पर्याय त्रिकाल नहीं होती; किन्तु नवीन उत्पन्न होती है; जो शक्तिरूप है वह व्यक्तरूप होती है, और जब वह प्रगट होती है तब कर्मोंका स्वयं अभाव होता है। पूर्ण पर्यायको क्षायिकभाव कहते हैं; वह पारिणामिकभाव नहीं है। क्षायोपशमिक-भाव अपूर्ण दशा है; उसका अभाव होकर क्षायिकभाव प्रगट होता है, वह पारिणामिकभाव नहीं है। जिसमें सर्व भेद गर्भित हैं—ऐसा चैतन्यभाव ही पारिणामिकभाव है।

आत्माका चैतन्य स्वभाव त्रिकाल है; निगोदमें भी चैतन्यभाव है। मति–श्रुतज्ञानादि जो प्रगटरूप हैं वे पारिणामिकभाव नहीं हैं।

चैतन्यभाव अनादि–अनन्त है । सम्यक्मति–श्रुत–अवधि–मनःपर्यय ज्ञान आदि और अन्तवाले भाव हैं और केवलज्ञान पर्यायकी आदि है किन्तु अन्त नहीं है । समयसारकी छट्ठी गाथामें कहा है कि आत्मा ज्ञायक है, वह प्रमत्त नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; ज्ञायक तो एक ज्ञायक ही है । ज्ञायकभाव कहो या परमपारिणामिकभाव कहो-वे एक ही हैं । ध्रुव एकरूप शक्तिरूपसे है उसकी बात है । नियमसारमें उसे कारणपरमात्मा कहा है; उसके अवलम्बनसे केवलज्ञान नवीन प्रगट होता है, किन्तु केवलज्ञानादिका सद्भाव सर्वदा मानने योग्य नहीं है ।

× × ×

[वीर सं० २४७९ माघ शुक्ला १२ सोमवार २६–१–५३]

स्वभावमें से केवलज्ञान प्रगट होता है

कर्म या शरीरमें से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता । आत्मा कर्म और शरीरसे भिन्न है; राग–द्वेष तथा अल्पज्ञता तो पर्यायमें है । जिसे राग–द्वेष और अल्पज्ञता दूर करना हो उसे निर्णय करना चाहिये कि मेरा स्वभाव ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्ण है । ऐसी मान्यतासे वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट होता है । देहकी या विकारकी क्रियासे शांति नहीं आती; विकार तो अशांति है । अशांति में से शांति नहीं आती । ज्ञान, आनन्द और शांति शक्ति स्वभावमें भरे हैं, उसमें एकाग्र होने से ज्ञान और शांति प्रगट होती है ।

एक समयमें तीनकाल–तीनलोकको जानलें—ऐसे भगवान् किस प्रकार हुए ? अंतरंग स्वभावमें एकाग्रता करने से हुए हैं । उसीप्रकार

अपने आत्माकी श्रद्धा-ज्ञान करने से केवलज्ञान प्रगट किया जा सकता है—ऐसा मानना चाहिये।

सूर्य और मेघपटलका दृष्टांत

शास्त्रमें सूर्यका दृष्टान्त दिया है। उसका इतना परमार्थ समझना चाहिये कि जिसप्रकार मेघपटलके दूर होने पर सूर्यका प्रकाश प्रगट होता है उसीप्रकार कर्मोदय दूर होने पर केवलज्ञान होता है। कर्म तो जड़ है। आत्मा अपने में एकाग्र हो और केवलज्ञान प्रगट करे तो कर्म उनके अपने कारण दूर होते हैं। दृष्टान्तमें सूर्य जाज्वल्यमान है और मेघोंसे आच्छादित है, उसीप्रकार आत्मामें केवलज्ञान प्रगटरूप जाज्वल्यमान अथवा प्रकाशरूप है और ऊपर कर्मरूपी मेघोंके आजाने से ढँक गया है—ऐसा नहीं है। वर्तमान पर्यायमें तो मति-श्रुतज्ञान हैं। जीवका कर्मोंकी ओर झुकाव है; जबतक वह स्वोन्मुख नहीं होगा तबतक पर्यायमें केवलज्ञान प्रगट नहीं हो सकता और तभीतक कर्म निमित्तरूपसे होते हैं।

आत्मामें केवलज्ञानकी शक्ति है

जिसप्रकार अग्निकी ज्वाला पर कोई बरतन ढँक दे; उसीप्रकार आत्माके भीतर केवलज्ञानकी ज्वाला जल रही है और ऊपर कर्मोंके आवरणने उसे ढँक लिया है—ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु जिसप्रकार दियासलाईके सिरेमें अग्नि प्रगट होने की शक्ति है। उसीप्रकार आत्मामें केवलज्ञानकी शक्ति है। अपने में एकाग्र हो तो केवलज्ञानरूपी ज्वाला प्रगट होकर कर्मरूपी मेघ छिन्नभिन्न हो जावें।

तदनुसार सर्व गुणोंमें समझना। शरीरकी क्रियासे या पंच-महाव्रतसे चारित्र प्रगट नहीं होता। वस्तुमें चारित्रशक्ति भरी है; उसमें एकाग्र होने से चारित्रदशा प्रगट होती है। प्रथम चारित्र शक्ति की प्रतीति होना चाहिये और फिर एकाग्रता करना चाहिये। कोई कहे कि वस्त्र–पात्रादि होने पर भी मुनिपना प्रगट होगया, तो वह बात मिथ्या है। और कोई मुनि निर्दोष आहार ले, अपने लिये बनाया हुआ आहार न ले, तथापि वह वृत्ति धर्म नहीं है; उससे चारित्र प्रगट नहीं होता। अन्तरमें एकाग्र होने पर चारित्र तथा शांति प्रगट होती है, और जब ऐसी अंतरदशा प्रगट हो तब बाह्यमें नग्न-दशा न हो—ऐसा नहीं हो सकता और बाह्यमें नग्नदशा तथा पंच-महाव्रतादिके परिणाम हुए इसलिये चारित्र प्रगट होता है—ऐसा भी नहीं है।

पंचमहाव्रतादिके परिणाम वह राग है

यहाँ कहते हैं कि पंचमहाव्रतादिके परिणाम राग हैं। उनमें आनन्द नहीं है। आनन्द तो अन्तरमें भरा पड़ा है; इसलिये विकार और परपदार्थोंकी रुचि छोड़कर अपने स्वभावकी रुचि करना चाहिये; फिर स्थिरता करनेसे आनन्द प्रगट होता है। आत्मामें दर्शन–ज्ञान-चारित्र त्रिकाल विद्यमान हैं, उसीमें से उनकी दशा प्रगट होती है; दया–दानादिसे या परमें से दर्शन–ज्ञान–चारित्रदशा प्रगट नहीं होती। इसलिये निमित्तकी, विकारकी और अल्पज्ञ–पर्यायकी रुचि छोड़कर स्वभावकी रुचि करना चाहिये। स्वभावकी रुचि करते ही वर्तमान में केवलज्ञान प्रगट होगया—ऐसा नहीं है, किन्तु क्रमशः केवलज्ञान प्रगट होता है।

लेंडी पीपर और पत्थर दो भिन्न वस्तुएँ हैं। प्रत्येक वस्तु अपने अपने में वर्तती है एक–दूसरे को स्पर्श नहीं करती। यह दो उँगलियाँ हैं। प्रत्येक उँगली स्वयं अपने में वर्त रही है; अपनी पर्यायमें ही वह प्रवर्तन करती है। वर्तन=वर्तमान पर्याय। एकका दूसरे में अभाव है, तथापि एक वस्तु दूसरीका स्पर्श करती है—ऐसा कहना वह व्यवहार का कथन है।

प्रथम क्या निर्णय करना चाहिये !

आत्मा क्या है, उसकी त्रैकालिक शक्तियाँ क्या हैं और वर्तमानमें क्या है,—वह मानकर स्वभावोन्मुख होने से सुख प्रगट होता है। अज्ञानी उठाईगीर होकर परमें सुख मानता है, किन्तु परमें आत्माका सुख नहीं है। अपने में सुख–आनन्द त्रिकाल है, उसका प्रथम निर्णय करना चाहिये। हीरेकी तौलमें किंचित् भी फेरफार होने से बड़ी हानि हो जायगी, इसलिये हीरेका काँटा बारीक होता है; उसीप्रकार यहाँ मुनिपनेको तथा धर्मको तौलनेका काँटा बिलकुल सूक्ष्म है। आत्मा क्या है, गुण क्या है, पर्याय क्या है—आदि का जिसे ज्ञान नहीं है उसे धर्म नहीं होता।

कर्म–उदयका अर्थ

जिसप्रकार मेघपटल होने से सूर्य प्रकाश प्रगट नहीं होता, उसी प्रकार कर्म–उदयमें जुड़ने से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता। कर्मका उदय तो निमित्त मात्र है। आत्मा स्वयं ज्ञानानन्द–स्वभावी है ऐसी प्रतीति और एकाग्रता न करे तो केवलज्ञानावरणीय कर्म निमित्त है, और उसे उदय कहा जाता है, और सर्वथा एकाग्रता करके केवल-

ज्ञान प्रगट करे तो केवलज्ञानावरणीय कर्म छूट जाता है।—जैसे कि सच्ची श्रद्धा करने से दर्शन–मोहनीय कर्म दूर हो जाता है और वीतरागता करने से चारित्रमोहनीय कर्म टल जाता है।

प्रथम सम्यग्दर्शन–निर्विकल्प प्रतीति–होती है; किन्तु प्रतीति हुई इसलिये चारित्र होगया—ऐसा नहीं है। आत्मामें विशेष एकाग्र होने से चारित्रदशा प्रगट होती है और उस समय मुनिको विकल्प-दशामें २८ मूल गुणके पालनका विकल्प आता है। सन्तोंने मार्ग सुगम कर दिया है, कुछ बाकी नहीं रखा। परमें या रागमें आत्मा की शक्ति नहीं है; पर्यायमें आत्माकी परिपूर्ण शक्ति नहीं है; परिपूर्ण शक्ति तो शुद्ध द्रव्यमें भरी है। ऐसी प्रतीतिके बिना सम्यग्दर्शन न होता और सम्यग्दर्शनके बिना चारित्र नहीं होता। वर्तमान पर्याय में चारित्र न होने पर भी चारित्र मान ले तो वह मूढ़ है। वर्तमान पर्यायमें जितनी शुद्धता प्रगट हो उतनी ही मानना चाहिये—ऐसा कहते हैं।

इस लकड़ी की वर्तमानमें लाल अवस्था है, वर्तमानमें हरी अवस्था प्रगट नहीं है। पुद्गलमें रंग गुण त्रिकाल है; उसकी हरी या लाल अवस्थाके समय दूसरी अवस्थाओंका अभाव है। लालके समय हरी का अभाव है। हरी अवस्था होने की शक्ति है; किन्तु लालके समय हरीको प्रगट माने तो वह भूल है। उसीप्रकार आत्मामें ज्ञान गुण त्रिकाल है; उसमें मति–श्रुतज्ञानकी अवस्थाके समय केवलज्ञानको प्रगट माने तो वह भूल है। केवलज्ञान शक्तिरूपसे है किन्तु उसे प्रगट माने तो वह भूल है। आत्मा और ज्ञान गुण त्रिकाल हैं। उसकी

पर्यायमें मतिज्ञानके समय केवलज्ञान प्रगट हो ऐसा नहीं हो सकता, और केवलज्ञानके समय मतिज्ञान रहे—ऐसा भी नहीं हो सकता।

अल्प पर्याय होने पर भी पूर्ण पर्याय मानना वह असत्य है। असत्य अर्थात् अधर्म है। आत्मामें ज्ञान गुण त्रिकाल है, उसके आश्रयसे पूर्ण पर्याय प्रगट होती है। अपूर्ण पर्यायमें पूर्ण पर्याय न मानना वह सत्य है, धर्म है और अहिंसा है। और निमित्त, शरीर या रागमें से धर्म होगा—ऐसा मानना वह अधर्म है, हिंसा है। संसार और मोक्ष दोनों विपक्ष हैं। जिस पथ पर संसार है उस पर मोक्ष नहीं है, और जिस पर मोक्ष है उस पर संसार नहीं है।

प्रश्न:—आवरणका अर्थ तो वस्तुको आच्छादित कर लेना है। अब, यदि पर्यायमें केवलज्ञान प्रगट है ही नहीं तो केवलज्ञानावरणीय क्यों कहते हैं? वर्तमानमें अल्पज्ञ पर्याय है और सर्वज्ञदशा प्रगट नहीं है, तो फिर केवलज्ञानावरणीय कर्म क्यों कहते हैं?

और कोई जीव ऐसा तो नहीं मानता कि अभव्यको केवलज्ञानावरणीय कर्म होता है, किन्तु ऐसा मानता है कि उसके मनःपर्यय ज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय कर्म नहीं होते। उसकी दलीलमें वह कहता है कि अभव्यको मनःपर्यय और केवलज्ञान प्रगट नहीं होना है इसलिये उसके यह दोनों आवरण नहीं होते। किन्तु यह बात मिथ्या है।

अभव्य हो या अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि हो—दोनों को पाँचों ज्ञानावरणीय कर्म प्रकृतियाँ निमित्तरूप होती हैं।

× × ×

[वीर सं० २४७९ माघ शुक्ला १३ मंगलवार २७–१–५३]

प्रश्नः—आवरण शक्तिमें तो होता नहीं है, व्यक्त (प्रगट) पर्यायमें होता है; इसलिये केवलज्ञानको प्रगट मानें तो क्या आपत्ति है ?

उत्तरः—शक्तिको व्यक्त न होने दे उस अपेक्षासे आवरण कहा है। शास्त्रमें निमित्तकर्ताकी बात है। निमित्तकर्ता कहो या व्यवहार-कर्ता कहो—दोनों एक ही हैं। अर्थात् उसका ऐसा अर्थ समझना कि निश्चयसे निमित्त कर्ता नहीं है। निमित्तकी अपेक्षारूप केवल-ज्ञानावरणीय है; वह केवलज्ञान प्रगट न होनेमें निमित्त कारण है—ऐसा यहाँ उपचारसे कहा जाता है। व्यवहारसे निमित्त कर्ता, करण, अधिकरण आदि कहे जाते हैं वे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका ज्ञान करानेको कहे हैं। किन्तु प्रथम निरपेक्ष स्वयं अपनेसे कर्ता–करणादि है—ऐसा निर्णय करनेके पश्चात् उपचारसे निमित्तमें सापेक्षतासे कर्ता, करणादि कहे जाते हैं। छहों कारक निमित्तमें लागू होते हैं। निश्चय–व्यवहारको यथावत् जानना चाहिये। जिस समय उपादानमें छह कारक लागू होते हैं उसी समय निमित्तमें उपचारसे छह कारक लागू होते हैं। निमित्त है इसलिये उपादानमें कर्ता–करणादि हैं ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्त की उपस्थिति है ऐसा बतलाते हैं।

निमित्त और उपादान

यहाँ, आत्मामें जो शक्ति है उसे व्यक्त न करे वहाँ तक कर्म निमित्तरूपसे कारण है—ऐसा कहा जाता है स्वयं शक्तिमें केवलज्ञान है, उसे आत्मा व्यक्त नहीं करता, तब निमित्तसे ऐसा कहा है कि केवलज्ञानावरणीय कर्म व्यक्त नहीं होने देता। आत्मा स्वयं केवलज्ञान प्रगट करे तब कर्मको अभावरूप निमित्तकर्ता कहा जाता है। इसीप्रकार कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण—यह छहों कारक लागू होते हैं। साधन दो प्रकार से हैं—निश्चय साधन किया तब व्यवहार साधन हुआ कहा जाता है। यदि निमित्त उपादानका कार्य करे तो दो साधन नहीं रहते।

निमित्त और नैमित्तिक

आत्मा स्वभावका अवलम्बन लेकर शुद्धता प्रगट करे तो पंच महाव्रतादिको व्यवहार साधक कहा जाता है। वास्तवमें तो शुभभाव बाधक हैं; तथापि आत्मा अपनी साधना करके शुद्धभाव प्रगट करे तो शुभभावको निमित्तसे साधक कहा जाता है। निमित्त ने नहीं होने दिया—ऐसा कहा हो उसका यह अर्थ है कि जीवने अपनी नैमित्तिक अवस्था प्रगट नहीं की तो उसे निमित्तने प्रगट नहीं होने दिया। किन्तु वास्तवमें तो निमित्त ऐसा घोषित करता है कि नैमित्तिक स्वतंत्र अपने कारणसे परिणमन कर रहा है, उस समय जो दूसरी अनुकूल वस्तु उपस्थित होती है उसे निमित्त कहा जाता है। नैमित्तिक पर्याय हो तब निमित्तमें निमित्तकर्ताका आरोप

आता है। उस अपेक्षासे ऐसा कहा है कि कर्मने आवरण किया।

अब दृष्टांत देते हैं। आत्मामें सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके पश्चात् देशचारित्र अर्थात् पाँचवाँ गुणस्थान प्रगट न होने देनेकी अपेक्षा से अप्रत्याख्यानावरण कषाय कही है। किंचित् भी प्रत्याख्यान न होने दे अर्थात् अंशतः भी स्थिरता न होने दे उसमें अप्रत्याख्याना-वरण कषायकर्म निमित्त है। प्रगट दशा है और कर्मने आवरण किया है ऐसा नहीं है, किन्तु आत्मा स्वयं स्वभावकी लीनता करके अंशतः चारित्रकी दशा प्रगट नहीं करता, इसलिये निमित्तसे ऐसा कहा जाता है कि—अप्रत्याख्यानावरणीय कर्मने चारित्र प्रगट नहीं होने दिया।

प्रश्नकारने प्रश्न किया था कि हम केवलज्ञानको प्रगट मानते हैं और कर्मने उसे रोक रखा है, क्योंकि केवलज्ञानावरणीय कर्म नाम है; तो उससे कहते हैं कि भाई! जिसप्रकार चौथे गुणस्थानमें देश-चारित्रकी दशा नहीं है, वहाँ व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि अप्रत्या-ख्यानावरणीय कर्म देश चारित्रकी पर्यायको प्रगट नहीं होने देता; किन्तु वहाँ देशचारित्र प्रगट है और उसे अप्रत्याख्यानावरणीय कर्मने रोक रखा है—ऐसा नहीं है। आत्मामें यथाख्यातचारित्र प्रगट हो ऐसा स्वभाव तो शक्तिरूपसे त्रिकाल है; किन्तु उसे प्रगट न करे वहाँ तक निमित्तरूप कर्म हैं—ऐसा कहा है। स्वयं नैमित्तिकभाव प्रगट नहीं करता, इसलिये कर्म पर आरोप आता है। यहाँ तो कर्म निमित्त है उसका ज्ञान कराते हैं; किन्तु उस निमित्तके कारण आत्माका देश-चारित्र रुका है ऐसा नहीं है।

जब आत्मामें मुनिपना प्रगट होता है, उस समय निमित्तरूपसे पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूल गुणका विकल्प होता है; इसलिये उसे निमित्तकर्ता भी कहा जाता है। शरीरमें नग्नदशा हुए बिना आत्मा में मुनिपना नहीं होता—ऐसा निमित्तकर्ता रूपसे यथार्थ है; किन्तु उसका अर्थ ऐसा है कि आत्मामें मुनिपनेकी नैमित्तिक पर्याय प्रगट करे तो नग्नताको निमित्तकर्तापनेका आरोप लागू होता है। मोक्ष-मार्ग प्रकाशकके ४१५ वें पृष्ठमें कहा है कि—मुनिलिंग धारण किये बिना तीन कालमें मोक्ष नहीं हो सकता। आत्मा केवलज्ञानका पुरुषार्थ करे और नग्नदशा न हो ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये ऐसा कहा है कि मुनिलिंगके बिना मोक्ष नहीं हो सकता; किन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं है कि नग्नदशाके कारण मोक्ष होता है।

आत्मामें चारित्रदशा हुए बिना मोक्ष नहीं होता। वह चारित्र तो आत्माके आश्रयसे प्रगट होता है। आत्माके स्वभावको यथार्थ जानकर उसमें लीन होने से जब जीव स्वयं यथार्थ चारित्र प्रगट करता है तब निमित्तरूपसे नग्नदशा होती है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। किन्तु आत्माके भान बिना मात्र नग्नदशा धारण करले तो वह कहीं मुनिपना नहीं है इसलिये निश्चय-व्यवहारका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये।

सर्वज्ञ परमात्मा देवाधिदेवने जो मार्ग कहा है—उससे विरुद्ध जिसकी प्ररूपणा है उसे परम्परा मार्ग नहीं कहा जा सकता। उसे तो व्यवहार मार्गका भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। वह मुनिनाम रखकर मात्र नग्नदशा धारण करे तो उसे मुनि मानना वह भ्रमणा है। उसकी विनय सत्कारादि करने से गृहीत मिथ्यात्वका पोषण होता है।

सागार धर्मामृतके ८१ वें पृष्ठकी टिप्पणीमें उद्‌धृत श्लोकमें सोमदेव आचार्यने कहा है कि जिसप्रकार जिन बिम्ब पूजनीय है उसीप्रकार पूर्व मुनियोंकी स्थापना करके आधुनिक मुनि भी पूज्य हैं। इसलिये मुनिका द्रव्यलिंग बाह्यमें बराबर होना चाहिये। उन्हें व्यवहारसे पूजनीक कहा है; किन्तु आत्मज्ञान न हो और व्यवहारका भी ठिकाना न हो और मुनि माने तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है। निश्चय मुनिपना भले ही प्रगट न हुआ हो, किन्तु व्यवहार तो बराबर होना चाहिये। तभी उनका व्यवहारसे सत्कार किया जा सकता है। यदि व्यवहार भी बराबर न हो तो उन्हें द्रव्यलिंगी भी नहीं मानना चाहिये। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ १९४ में कहा है कि पद्‌मपुराणमें एक कथा है कि—किसी श्रेष्ठी धर्मात्माने चारण मुनियोंको भ्रमसे भ्रष्ट जानकर आहार नहीं दिया, तो फिर जो प्रत्यक्ष भ्रष्ट हो उसे भक्तिसे आहारादि देना कैसे सम्भव हो सकता है? इसलिये जो भ्रष्ट हो उसे कोई पूजनीक मानकर अथवा तो मुनि समझकर दानादि दे तो वह मिथ्यादृष्टि है। इसलिये प्रथम यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। भूल करे और भूलको स्वीकार न करे तो भूल दूर नहीं हो सकती। प्रथम भूलको भूलरूपसे जाने तभी वह दूर हो सकती है।

यहां कहते हैं कि आत्मामें देशचारित्र प्रगट न होने में अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय निमित्त है। वस्तुमें पर निमित्तसे जो भाव होते हैं उनका नाम औपाधिकभाव है; तथा पर निमित्तके बिना जो भाव होते हैं उनका नाम स्वभावभाव है। आत्मामें शक्तिरूपसे जो स्वभाव है उसके अवलम्बनसे जो निर्मल भाव होते हैं वे स्वभावभाव हैं; किन्तु अपना आश्रय न करके पर द्रव्यके आलम्बनसे जो

भाव होते हैं। वे औपाधिकभाव हैं। इसमें निमित्तकी अपेक्षा है, इसलिये जहाँ जैसा है वैसा समझना चाहिये।

जिसप्रकार जलमें अपनी योग्यतारूप निज शक्तिसे उष्णता हुई; अर्थात् पानी उष्णरूप हुआ है उसमें अग्नि निमित्त है। पानी की उष्ण दशाके समय शीतलताकी अवस्था नहीं है, किन्तु अग्निका निमित्त मिटने पर पानीकी अवस्था ठण्डी हो जाती है; इसलिये पानीका स्वभाव शीतल है—ऐसा सिद्ध होता है। वर्तमानमें उष्ण होने पर भी स्वभाव तो शीतल ही है; किन्तु उष्ण पर्यायके समय शीतलता प्रगट नहीं है; तथापि शक्तिरूपसे तो त्रिकाल है। वह शक्ति जब व्यक्तरूप होती है तब स्वभाव व्यक्त हुआ कहा जाता है।

× × ×

[वीर सं० २४७९ माघ शुक्ला १४ बुधवार २८-१-५३]

आत्मा जिसप्रकार स्वभावसे शुद्ध है उसीप्रकार पर्यायमें भी (वर्तमानदशामें) शुद्ध है—ऐसा कोई माने तो वह भ्रान्ति है। पर्यायमें यदि प्रगट शुद्धदशा हो तो कुछ करना नहीं रहता।

यहाँ पानीका दृष्टान्त दिया है कि पानीका स्वभाव तो शीतल है; किन्तु वर्तमान उष्णदशा है वह पानीका असली स्वभाव नहीं है। उसीप्रकार आत्मामें वर्तमान पर्यायमें अल्पज्ञता है विकार है वहाँ तो केवलज्ञानका अभाव ही है; किन्तु जब कर्मके निमित्तकी ओर झुकाव न करके पूर्ण वीतरागता प्रगट करते हैं तब केवलज्ञान होता है। यहाँ कर्मका निमित्त मिटने पर केवलज्ञान होता है ऐसा कहा है; उसका अर्थ यह है कि आत्मा केवलज्ञानका पुरुषार्थ करे तब केवल-

ज्ञान प्रगट होता है और उस समय कर्मका निमित्त नहीं रहता। इसलिये ऐसा कहा है कि निमित्तका अभाव होने पर स्वभाव प्रगट होता है।

आत्मा केवलज्ञान शक्तिको प्रगट करता है, इसलिये उसका सदाकाल केवलज्ञान स्वभाव है—ऐसा कहा जाता है। ऐसी शक्ति तो आत्मामें सर्वदा होती है, किन्तु जब वह प्रगट हो तब प्रगट हुआ कहलाता है। जिसप्रकार पानी वर्तमानमें उष्ण हो, और उसे कोई वर्तमानमें ठण्डा मानकर पी ले तो मुँह जल जायेगा; उसीप्रकार केवलज्ञान स्वभाव द्वारा अशुद्ध आत्माको भी वर्तमानमें केवलज्ञानी मानकर उसका अनुभवन करे तो उससे दुःखी ही होगा। इसप्रकार जो आत्माका केवलज्ञानादिरूप अनुभवन करता है वह मिथ्यादृष्टि है। और कोई अपने को रागादिभाव प्रत्यक्ष होने पर भी भ्रमसे रागादि रहित मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। वर्तमान पर्यायमें रागादि नहीं हैं—ऐसा जो मानता है वह, और कोई जैनोंमें भी रागादि परिणाम कर्मके कारण होते हैं,—ऐसा माने तो वह—दोनों एक-से मिथ्यादृष्टि हैं।

व्यवहारके कथनका आशय

आत्मामें शुभाशुभभाव वर्तमानमें होते हैं, तथापि जो आत्माको रागादिरहित मानता है उससे हम पूछते हैं कि यह जो रागादि होते दिखाई देते हैं वे किसमें होते हैं? यदि वे शरीरमें या कर्ममें होते हों तो वे भाव अचेतन और मूर्तिक होना चाहिये, किन्तु वे रागादिभाव तो प्रत्यक्ष अमूर्तिक ज्ञात होते हैं; इसलिये सिद्ध होता है

कि वे आत्माके ही भाव हैं। एक भाई ऐसा कहते थे कि यह जो क्रोध हुआ है वह कर्मोदयके कारण हुआ है; क्योंकि गोम्मटसारमें लिखा है कि कर्मोंका प्रबल उदय आता है इसलिये क्रोधादि होते हैं। वह गोम्मटसारके भावार्थको समझता ही नहीं है; क्योंकि क्रोधादि होते हैं वे तो आत्मामें करनेसे होते हैं; वह आत्माकी विकारी पर्याय है। कर्ममें वे नहीं होते, क्योंकि कर्म तो अचेतन और मूर्त हैं। और विकार तो चेतन भूमिमें होता है; इसलिये वह चेतन और अमूर्तिक है। तथापि कर्मके कारण विकार होता है—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है; वह वस्तुके स्वतन्त्र परिणमन स्वभावको नहीं जानता।

शास्त्रमें विकारको पुद्गलजन्य कहा है उसका आशय

जो क्रोधादिभाव होते हैं वे औपाधिक भाव हैं। वे आत्माकी भूमिकामें होते हैं, क्योंकि वह चेतनका आभास है, वे अचेतन मूर्तिक जड़के नहीं हैं। चारित्रमोहनीय कर्मके कारण वे विकारी-भाव नहीं हैं। संज्वलनके तीव्र उदयसे छट्ठा गुणस्थान होता है और मन्द उदयसे सातवाँ गुणस्थान होता है—ऐसा नहीं है। कर्मके कारण आत्माकी शुद्धता या अशुद्धता नहीं है। आत्माकी पर्याय जड़के कारण तीन कालमें नहीं होती। शास्त्रमें विकारको पुद्गल-जन्य कहा है, वह तो यह बतलानेके लिये कहा है कि विकार आत्मा का नित्य स्वभाव नहीं है तथा विकार दूर हो जाता है; किन्तु प्रथम आत्मामें अपने कारण विकार होता है ऐसा माने, फिर आत्माका वह मूल स्वभाव नहीं है—ऐसी स्वभावदृष्टि करनेके लिये और

विकारको हटा देने के लिये वह पुद्गलका विकार है—ऐसा कहा है। श्री समयसारके कलशमें भी कहा है कि:—

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥२०३॥

यह रागादिरूप भावकर्म किसी ने नहीं किये—ऐसा नहीं है; क्योंकि वे कार्यभूत हैं। रागादि आत्माके त्रिकाली स्वभावमें नहीं हैं किन्तु पर्यायमें नये-नये भाव जीव स्वयं करता है। तत्त्वार्थसूत्रमें औदयिक भावको जीवका स्वतत्त्व कहा है; अर्थात् आत्माका वह कार्य है, उसका कर्ता आत्मा है, इसलिये रागादिभाव कार्य नहीं हैं—ऐसा नहीं है और उन्हें किसीने नहीं किया है—ऐसा भी नहीं है।

और वह, जीव तथा कर्मप्रकृति इन दोनोंका भी कर्तव्य नहीं है

जीव और जड़ दोनों एकत्रित होकर रागादिभाव करते हैं—ऐसा भी नहीं है। आत्मा स्वयं अपने अपराधसे क्रोधादि विकारी-भाव करता है उसमें कर्म निमित्त है; किन्तु वास्तवमें दोनों एकत्रित होकर यदि रागादि करें तो उस भाव कर्मका फल जो सुख-दुःखादि हैं वे कर्मको भी भोगना पड़ेंगे; किन्तु ऐसा नहीं होता। हल्दी और फिटकरी—दोनोंके मिश्रणसे लाल रंग हो जाता है; उसीप्रकार कर्म और जीव मिलकर रागादि करते हैं ऐसा कोई माने तो वह बात

मिथ्या है। हल्दी और फिटकरीमें भी दोनोंके रजकण अपनी–अपनी योग्यतानुसार लाल रंगरूप परिणमित होते हैं। उसीप्रकार आत्मा पर्यायमें स्वयं विकार करता है, कर्मने विकार नहीं कराया। अन्य-मती मानते हैं कि ईश्वर कर्ता है; और कोई–कोई जैनी ऐसा मानते हैं कि कर्मके कारण विकार होता है; तो दोनों की एक ही प्रकारकी मान्यता हुई, इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं। अन्यमती तो अपने दोषमें किसी ईश्वरको कर्तारूप मानता है और यह जैनी तो अचेतन–जड़को अपने भावका कर्ता मानता है, इसलिये वह तो अन्यमतीकी मान्यता की अपेक्षा महान विपरीत मान्यतावाला हुआ। उसे जैन वीतराग मार्गकी खबर नहीं है।

और रागादि अकेली कर्मप्रकृतिका भी कार्य नहीं है

कर्म तो अचेतन जड़ है और विकारीभाव चेतन हैं, इसलिये उन भावोंका कर्ता जीव स्वयं ही है और वे रागादिक जीवका ही कर्म हैं, क्योंकि भावकर्म तो चेतनका अनुसरण करनेवाले हैं—चेतना के बिना नहीं होते; और पुद्गल ज्ञाता नहीं है। इसप्रकार रागादिभाव जीवमें होते हैं। कोई ऐसा कहे कि रामचन्द्रजी छह महीने तक वासुदेवका मृत कलेवर लेकर फिरे थे वह सब चारित्र मोह कर्मके कारण था; किन्तु वह बात बिलकुल मिथ्या है। आत्माकी रागादि-पर्याय और कर्म अचेतन पर्यायके बीच अत्यन्त–अभाव है। अत्यन्त-अभावरूपी वज्रका महान दुर्ग बीचमें खड़ा है; इसलिये कर्मकी पर्याय के कारण आत्माके विकारीभाव नहीं होते—ऐसा समझना चाहिये। आत्मा स्वयं अपने स्वभावको भूलकर रागादि परिणाम करता है,

किन्तु यदि भेदज्ञानके बल द्वारा स्वभावका भान करके स्वरूपमें लीन हो तो रागादिभाव नहीं होते—ऐसा जानना।

जो रागादिमें कर्मका कारण मानता है उसने व्यवहार रत्नत्रय को—जो कि राग है उसे—कर्मके कारणसे माना। और व्यवहारके कारण निश्चय प्रगट होता है—ऐसा जिसने माना, उसने यही स्वीकार किया है कि निश्चय धर्म भी कर्मसे प्रगट होता है।

प्रथम तो आत्मा स्वयं स्वतंत्ररूपसे विकार करता है ऐसा मानना। कोई कहे कि दो हाथोंसे ताली बजती है; तो वह बात भी मिथ्या है; क्योंकि वास्तविक दृष्टिसे देखो तो एक हाथ दूसरे हाथका स्पर्श नहीं करता; और जो आवाज होती है वह हाथके कारण नहीं होती किन्तु उस स्थान पर शब्द वर्गणाके रजकण हैं; उनकी अवस्था उनके अपने कारण उससमय होती है। विकार तो चेतन ऐसे आत्मा का अनुसरण करके होता है; अर्थात् आत्मा स्वयं अनुसरे—करे तो होता है। जड़ कर्म रागादिमें अनुसरण नहीं करते; कर्मकी भूमिका में वे नहीं होते। अब, इसका तात्पर्य यह है कि रागादिभाव तू स्वतंत्र करे तो होते हैं किन्तु कर्मके कारण नहीं होते; यदि विकारको स्वतंत्र माने तो उसे नष्ट करनेका उपाय स्वयं स्वतंत्ररूपसे कर सकता है—ऐसा निश्चित है।

रागादिभाव आत्मामें ही होते हैं

संसार, पुण्य–पाप आत्माके बिना नहीं होते; जड़ कर्मोंमें या शरीरमें वे भाव नहीं हैं, इसलिये आत्मामें वे भाव होते हैं ऐसा मानना चाहिये; किन्तु जो कर्मोंको ही रागादिभावोंका निमित्त मान-

४

कर अपनेको रागादिका अकर्ता मानते हैं, वे स्वयं कर्ता होने पर भी अपनेको अकर्ता मानकर, निरुद्यमी बनकर, प्रमादी रहना चाहते हैं इसीलिये कर्मोंका दोष निकालते हैं; किन्तु यह उनका दुःखदायी भ्रम है।

आत्मा स्वयं विकार तथा दोष करता है,—ऐसा न मानकर जो कर्मों पर डालता है वह प्रमादी होकर मिथ्यादृष्टि रहता है। समयसार नाटकमें वनारसीदासजी ने कहा है कि—दो द्रव्य मिलकर एक परिणाम नहीं करते और दो परिणाम एक द्रव्यसे नहीं होते। इसलिये कर्मके कारण दोष होता है—ऐसा नहीं मानना चाहिये।

× × ×

[वीर सं० २४७९ फाल्गुन कृष्णा १, शुक्रवार, ३०-१-५३]

कर्म राग नहीं कराते

जो ऐसा मानता है कि कर्मके निमित्तसे विकार होता है वह निश्चय और व्यवहार दोनोंका आभासी है। कर्म प्रेरक होकर राग नहीं कराते, तथापि अज्ञानी मूढ़ ऐसा मानता है कि कर्म प्रेरक होकर जबरन् राग कराते हैं, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

श्री समयसारके कलशमें भी कहा है किः—

"रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयंति ये तु ते'
उत्तरन्ति न मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः।" (२२१)

अर्थः—जो जीव रागादिकी उत्पत्तिमें पर द्रव्यका ही निमित्तपना मानता है वह भी शुद्ध ज्ञानसे रहित है; अन्ध बुद्धि है जिसकी—

ऐसा बनकर मोह नदीके पार नहीं उतरता। समयसारमें ऐसा भी आता है कि विकार और कर्मको व्याप्य व्यापकभाव है; किन्तु वह तो विकारको आत्मामें से निकाल देने के लिये—त्रिकाल स्वभावदृष्टि करानेको कहा है। वास्तवमें विकार कहीं कर्ममें व्याप्त नहीं होता। मैं ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसे भान बिना उपवासादि करे, तथापि विकार अपने कारण अपनी पर्यायमें होता है—ऐसा वह जीव नहीं मानता, इसलिये वह अंधा है। उसका मोह नष्ट नहीं होता।

कोई ऐसा कहे कि—जितना कर्मका उदय हो उतना राग होता है जैसे कि—जितना बुखार हो उतना ही डिग्री थर्मामीटरमें आता है। चार डिग्री बुखार हो तो मापमें चार डिग्री आता है; किन्तु वह भ्रमणा है। और वह दृष्टान्त भी देता है कि—स्फटिकमें जैसा रंग आये वैसी झाँई दिखाई देती है; उसीप्रकार जैसे कर्मका उदय हो तदनुसार विकार होता है;—ऐसा वह मानता है किन्तु वह महान भूल है। जो ऐसा मानता है वह अंधा है; उसे सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं है; उसका मिथ्यात्वभाव कभी नष्ट नहीं होता।

कर्म प्रभावके कारण विकार करना पड़ता है–ऐसा एक समय भी माने तो उसे कभी भी आत्माका पुरुषार्थ करके संसार नाश होने का अवसर नहीं रहता। इसलिये कर्मके कारण आत्मामें विकार नहीं होता—ऐसा मानना चाहिये।

और जो आत्माको सर्वथा अकर्ता मानता है उससे कहते हैं कि—कर्म ही जगाता है, कर्म ही सुलाता है, परघात कर्मसे हिंसा है, वेद कर्मसे अब्रह्म है; इसलिये कर्म ही कर्ता है—ऐसा मानने वाले जैन को भी श्री समयसारके दर्शनविशुद्धज्ञान अधिकारमें सांख्य-

मती कहा है। दर्शनावरणीय कर्मका उदय होने से निद्रा आती है और उसका क्षयोपशम होने पर जाग उठते हैं; ज्ञानावरणीय कर्मका उदय हो तो हमारा ज्ञान हीन होता है और उसका क्षयोपशम हो तो ज्ञानका विकास होता है;—ऐसा जो मानता है वह सांख्यमती है; क्योंकि कर्मके दोषके कारण तीन कालमें भी आत्माकी पर्यायमें दोष नहीं होता। पुनश्च, वह कहता है कि हमारा हिंसाभाव नहीं है; किन्तु परघात कर्मका उदय आता है इसलिये हिंसा होती है। पुरुषवेद—स्त्रीवेद का उदय आता है तब हमारे विषय भोगका भाव होता है; इसलिये कर्म ही कर्ता है। जैन होकर भी जो ऐसा मानता है उसे सांख्यमती कहा है।

किसी पदार्थका प्रभाव दूसरे पदार्थ पर नहीं पड़ता। अग्निके प्रभावके कारण वस्त्र जलता है ऐसा नहीं है; वस्त्र तो अपनी योग्यता से जलता है; अग्नि तो निमित्तमात्र है, जो कोई ऐसा माने कि कर्म के प्रभावके कारण विकार होता है तो वह सांख्यमती जैसा है। जिसप्रकार सांख्यमती आत्माको शुद्ध मानकर स्वच्छन्दी बनता है वैसा ही यह भी हुआ। वैरागी—त्यागी हो, तथापि जो ऐसा मानता है कि कर्मके कारण विकार होता है, वह जैनी होने पर भी सांख्यमती है—दोनोंमें कोई अन्तर नहीं रहता। कोई ईश्वरको जगतका कर्ता माने और जैन कहे कि पर जीवोंकी दया मैं पाल सकता हूँ, तो वे दोनों मिथ्यादृष्टि हैं। दोनोंकी कर्तृत्वकी मान्यता एक–सी है। कर्मके उदयसे विकार होता है—ऐसी श्रद्धासे यह दोष हुआ कि अपने अपराधसे रागादिकका होना नहीं माना, किन्तु अपनेको उनका अकर्ता समझा, इसलिये रागादिक होनेका भय नहीं रहा; अथवा

रागादिको दूर करनेका उपाय भी उसे करना नहीं रहा; इसलिये वह स्वच्छन्दी होकर बुरे कर्म बाँधकर अनन्तसंसारमें भटकता है।

देव–गुरु–शास्त्रकी श्रद्धा आत्मा करता है—ऐसा माने और फिर कहे कि रागादि कर्मके कारण होते हैं; तो वहाँ कोई मेल नहीं रहता; क्योंकि देवादिकी श्रद्धा भी राग है; उस श्रद्धाको भी कर्मके कारण माना, तो वह शुभभाव भी आत्मा नहीं कर सकता—ऐसी उसकी मान्यता है। इसलिये यदि रागको कर्मके कारण माने तो राग दूर करके स्वभावदृष्टि करनेका अवसर नहीं रहता और स्वच्छन्दी होता है।

समयसारादि ग्रन्थ पढ़ते हैं इसलिये ऐसा तो कह नहीं सकते कि कर्म आत्माको राग कराते हैं, किन्तु कर्मके निमित्त बिना किसी को कुछ भी राग नहीं होता, इसलिये कर्मोंका प्रभाव होता है, निमित्त का प्रभाव होता है, वह तो होना ही चाहिये—ऐसा कुछ लोग मानते हैं। किन्तु जीवपर एक समय भी परका प्रभाव माना गया तो उसे सदैवके लिये—कोई समय कर्मोदयके बिना नहीं रहता इसलिये—कर्मका प्रभाव हुआ; अर्थात् उसे कभी भी पुरुषार्थ करनेका समय नहीं रहता; इसलिये वह स्वच्छन्दी होकर चार गतिमें परिभ्रमण करता है।

समयसार नाटकके बन्ध अधिकारमें तथा इष्टोपदेशमें आता है कि कर्मकी बलवत्ता है। किसी समय आत्माकी बलवत्ता है और कभी कर्मकी; किन्तु इसका अर्थ ऐसा है कि जब स्वभावसे च्युत होकर रागादिभाव करता है तब कर्मकी बलवत्ता कहलाती है। कर्म बलवान होकर रागादि नहीं कराते।

प्रश्न:—समयसारमें ही ऐसा कहा है कि—वर्णाद्या वा राग-मोहादयो वा, भिन्ना भावा सर्व्वं एवास्य पुंसः।

अर्थ:—जो वर्णादि या रागादिभाव हैं वे सब इस आत्मासे भिन्न हैं। और वहीं रागादिको भी पुद्‌गलमय कहा है।

देखो, यहां ग्रन्थकार प्रश्नकारकी ओरसे प्रश्न करता है कि—रागादि और शरीरादि, दया–दानका भाव, व्यवहार रत्नत्रयका भाव आत्मासे भिन्न है और पुद्‌गलमय है—ऐसा कहा है। रागसे आत्मा और आत्मासे राग परस्पर भिन्न है;—ऐसा दूसरे शास्त्रोंमें भी आता है; वह किसप्रकार ?

रागादिभाव औपाधिकभाव हैं

उत्तर:—परद्रव्यके निमित्तसे वे रागादिभाव औपाधिकभाव हैं। आत्मामें जितना उपाधिभाव होता है वह सब परद्रव्यके आश्रयसे होता है। कर्मके निमित्तके समय आत्मा स्वयं नैमित्तिकभाव रागादि करता है, इसलिये वे उपाधिभाव हैं। अब, यदि यह जीव उन्हें स्वभाव समझे तो बुरा क्यों मानेगा ? अथवा नाशका उपाय भी किस तरह करेगा अर्थात् यदि जीव रागादि उपाधिभावोंको कथंचित् हितकर माने तो वह उन्हें नाश करनेका उपाय नहीं करता। मुनिको छट्ठे गुणस्थानमें अट्ठाईस मूल गुणोंका विकल्प आता है वह उपाधिभाव है, विकारभाव है, वास्तवमें निश्चयसे—अधर्मभाव है। सम्यग्दृष्टिके व्यवहार रत्नत्रयको उपचारसे धर्म कहा जाता है, किन्तु वास्तवमें तो व्यवहार रत्नत्रयका भाव भी अधर्मभाव है। अगर जीव उस रागको अपना स्वभाव माने तो उसे नाश करनेका उपाय कब करेगा ? इसलिये निमित्तकी मुख्यतासे रागको पुद्‌गलका कहा है।

निमित्तकी मुख्यतासे रागादिभाव पुद्गलमय हैं

देव–गुरु–शास्त्रकी श्रद्धा, आगमज्ञान और कषायकी मन्दता वह व्यवहार है, उपाधि है, मलिन है। अज्ञानी उसे अच्छा मानता है इसलिये वह उसके नाशका पुरुषार्थ नहीं करता। जिससे लाभ माने उसका नाश क्यों करेगा? स्वभावकी रुचि करूँ तो मिथ्यात्वका नाश होता है और स्वभावमें स्थिर होऊँ तो अस्थिरतारूप रागका नाश होता है। इसलिये उन उपाधिभावोंको छुड़ानेके लिये ऐसा कहा है कि—वे सब आत्मासे भिन्न हैं, और निमित्तकी मुख्यतासे पुद्गलमय हैं; विकार रखनेके लिये भिन्न नहीं कहा है।

गोम्मटसारमें आता है कि—दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यात्व होता है। वहाँ आत्मा स्वयं मिथ्यात्वभाव करता है उसमें दर्शनमोह निमित्त है—ऐसा ज्ञान करानेके लिये कहना है; किन्तु यहाँ रागादिको आत्मासे भिन्न और पुद्गलमय क्यों कहा है? तो कहते हैं कि रागादिको छुड़ानेके लिये उन रागादिको निमित्तकी मुख्यतासे—अर्थात् विकारमें कर्म निमित्त है ऐसी मुख्यतासे कथन करके वीतरागता प्रगट करनेके लिये रागादि उपाधिभावोंको आत्मासे भिन्न और पुद्गलमय कहा है।

अब कहते हैं कि—जिसप्रकार वैद्यका हेतु रोग मिटानेका है; वह शीतकी अधिकता देखने पर रोगीको उष्ण औषधि देता है और उष्णताकी अधिकता देखे तो शीत औषधि बतलाता है। उसीप्रकार श्रीगुरु विकार छुड़ाना चाहते हैं इसलिये जो रागादिको पर मानकर स्वच्छन्दी बनकर निरुद्यमी होता है उसे उपादान कारणकी मुख्यतासे "रागादि आत्माके हैं"—ऐसा श्रद्धान कराया, तथा जो रागादिको

अपना स्वभाव मानकर—हितकर मानकर उनके नाशका उद्यम नहीं करता उसे निमित्त कारणकी मुख्यतासे "रागादि पर भाव हैं"—ऐसा श्रद्धान कराया है।

विभावभावके नाशका उद्यम करना योग्य है

यहाँ अज्ञानी घोटाला करता है कि—रागादि आत्माके हैं और पुद्गलके भी हैं; तो यह बात ठीक नहीं है। वास्तवमें तो प्रगट दशामें रागादि उपाधिभाव आत्माके ही हैं, किन्तु उन्हें छुड़ानेके हेतुसे पुद्गलका कहा है—ऐसा समझना चाहिये। रागादि आत्माके भी हैं और पुद्गलके भी हैं—यह दोनों विपरीत श्रद्धान हैं। उन मिथ्या श्रद्धान रहित जो होता है वह आत्मा। ऐसा माने कि—यह रागादिभाव आत्माका स्वभाव तो नहीं है किन्तु कर्मके निमित्तके समय आत्मा स्वयं अपने अपराधसे रागादि करता है तब वह विभाव पर्याय होती है। वह आत्मा स्वयं नैमित्तिक विकार न करे तो उस समय कर्म निमित्त नहीं कहलाते। इसलिये यहाँ कहा है कि वह निमित्त मिटने पर—उसका नाश होने पर—स्वभावभाव रह जाता है। यहाँ विभावभाव है तब सामने कर्मोंका निमित्त है, और यहाँ विभाव नहीं होता तब वह निमित्त भी नहीं है। इसलिये विभाव-भावोंके नाशका उद्यम करना योग्य है।

× × ×

[फाल्गुन कृष्णा २ शनिवार ता० ३१-१-५३]

निश्चयाभासीकी भूलके चार प्रकार

देखो, निश्चयाभासी चार प्रकारसे भूल करता है वह बात यहाँ कही गई है। पहले तो यह बात कही थी कि—वह आत्माकी संसार

पर्यायमें वर्तमान सिद्धपर्याय नहीं है तथापि सिद्धदशा मानता है। दूसरी बात यह कही कि वह वर्तमान अल्पज्ञदशामें केवलज्ञान मानता है। तीसरी बात—कोई ऐसा मानता है कि रागादि वर्तमान पर्यायमें नहीं होते। और चौथी बात यह कही कि विकार निमित्तके कारणसे होता है—ऐसा कोई मानता है।—इन चारों अभिप्रायवाले मिथ्यादृष्टि हैं।

पहले बोलमें, द्रव्यपर्याय अर्थात् सिद्धपर्याय वर्तमान न होने पर भी उसे वर्तमान मानता है। दूसरेमें, ज्ञानगुणकी पर्याय पूर्ण शुद्ध न होने पर भी पूर्ण शुद्ध मानता है। तीसरी बातमें, वर्तमान रागादि विकारी पर्याय होती ही नहीं—ऐसा मानता है; और चौथी बातमें, कर्मके निमित्तके कारणसे राग होता है—ऐसा मानता है,—वे सब मिथ्यादृष्टि हैं।

अब प्रश्न करते हैं कि—यदि कर्मोंके निमित्तसे रागादि होते हैं तो जबतक कर्मका उदय रहेगा तबतक विभाव किसप्रकार दूर होगा? इसलिये उसका उद्यम करना तो निरर्थक है? देखो, जो राग-द्वेषका होना आत्माके कारणसे नहीं मानते किन्तु निमित्तके कारणसे मानते हैं—ऐसी मान्यतावालेकी कैसी भूल होती है?—इस बातका निर्णय प्रश्न उठाकर कराते हैं। वह ऐसा मानता है कि कर्मका उदय हो तबतक रागके नाशका उद्यम नहीं होता, तो फिर उद्यम कैसे करें?

उत्तर:—एक कार्य होने में अनेक कारणोंकी आवश्यकता है। उनमें जो कारण बुद्धिपूर्वक के हों उन्हें तो स्वयं उद्यम करके प्राप्त

५

करे और अबुद्धिपूर्वकके कारण स्वयं प्राप्त हों तब कार्यसिद्धि होती है।

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक का पुरुषार्थ

यहां दो बातें कहीं हैं—बुद्धिपूर्वकके कारण स्वयं उद्यम करके प्राप्त करे और अबुद्धिपूर्वक के कारण तो अपने आप स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। जैसे कि—पुत्र प्राप्त करनेका कारण बुद्धिपूर्वक तो विवाहादि करना है, तथा अबुद्धिपूर्वक कारण भवितव्य है। अब, पुत्रका अर्थी विवाहादिकका तो उद्यम करे और भवितव्य स्वयं हो तब पुत्र होता है उसीप्रकार विभाव अर्थात् मिथ्यात्वादि दूर करनेका कारण बुद्धिपूर्वक तत्त्वकी रुचि, ज्ञान, और रमणता है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषायादिको दूर करनेका कारण तो तत्त्वकी रुचि विचार और लीनता है,-वह तो बुद्धिपूर्वक करना चाहिये। तत्त्वका यथार्थ विचार सम्यग्दर्शनका कारण है। तत्त्व विचार तथा तत्त्वकी रमणता स्वयं पुरुषार्थ करे तो होती है। और जब ऐसा पुरुषार्थ करता है तब मोह कर्मका उपशम, क्षयोपशम या क्षय स्वयं हो जाता है। मोहकर्म के उपशमादि अबुद्धिपूर्वक होते हैं। अबुद्धिपूर्वकका अर्थ ऐसा है कि—आत्माका पुरुषार्थ जड़कर्मके उपशमादिको नहीं करता, क्योंकि मोहकर्मके उपशमादि स्वयं (जड़कर्मके अपने कारण) होते हैं,— ऐसा यहां कहते हैं।

अब, जिसे आत्माकी रुचि, ज्ञान और रमणता करना हो वह तत्त्वादिके विचारादिका उद्यम करे तथा मोहकर्मके उपशमादिक स्वयं हों तब रागादि दूर होते हैं; अर्थात् तत्त्वादिका विचार करता

है तब मोहकर्मके उपशमादि स्वयं होते हैं; किन्तु आत्माके पुरुषार्थके कारण मोहकर्मके उपशमादि नहीं होते। इसलिये ऐसा कहा है कि अबुद्धिपूर्वक स्वयं उसके उपशमादि होते हैं; और रागादि भी नहीं होते। रागादि नहीं होते, इसमें भी यही बात है कि बुद्धिपूर्वक रागादिका नाश होना है तब निमित्तरूप कर्मके स्वयं अपने कारण से उपशमादि हो जाता है। इसका सार यह है कि आत्मा तत्त्वादिके विचार पूर्वक सम्यग्दर्शनादिका पुरुषार्थ करता है तब कर्मके उपशमादि आत्माके पुरुषार्थ बिना स्वयं उनके अपने कारण होते हैं— ऐसा निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। पुनश्च, निमित्त मिटने पर रागादिका नाश होता है और तत्त्वादिका विचार होने पर मोहकर्म के उपशमादि होते हैं; इसका अर्थ यह नहीं है कि वे एक दूसरे के कारणसे होते हैं।

कई लोग ऐसा मानते हैं कि आत्मा तो बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करे; किन्तु कर्मोंका नाश हो या न भी हो; किन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा पुरुषार्थ करे और कर्मोंका नाश न हो ऐसा हो ही नहीं सकता; और आत्माने पुरुषार्थ किया है इसलिये पुरुषार्थसे कर्मोंका नाश हुआ है— ऐसा भी नहीं है। आत्माका सम्यग्दर्शनका काल है। उस समय दर्शनमोहके नाश आदिका भी काल है। जब यहाँ ज्ञानके विकाशका काल है, उसी समय ज्ञानावरणीयके क्षयोपशमका काल है, और आत्मामें रागादिके अभावका काल है उस समय चारित्रमोहके नाश का काल है; किन्तु कर्मोंके कारणसे वह नहीं है और आत्माके पुरुषार्थके कारण कर्मोंका नाश नहीं है—ऐसा समझना।

ज्ञानावरणका क्षयोपशम

अब प्रश्न करते हैं कि जिसप्रकार विवाहादि भवितव्याधीन हैं; उसीप्रकार तत्त्व विचारादि भी कर्मके क्षयोपशमादिकके आधीन हैं; इसलिये उद्यम करना व्यर्थ है ?

उत्तर:—तत्त्वविचारादि करने योग्य ज्ञानावरणका क्षयोपशम तो तुझे हुआ है; इसीलिये उपयोगको वहाँ लगानेका उद्यम कराते हैं असञ्ज्ञी जीवोंका क्षयोपशम ऐसा नहीं है, तो फिर उन्हें किसलिये उपदेश दें ?—नहीं देते। आत्माका उपयोग अज्ञानसे परमें लग गया है उसकी हम दिशा बदलाना चाहते हैं तत्त्वादिके विचारका और श्रद्धाका पुरुषार्थ कर सके इतना तुझे वर्तमान विकास है, इसलिये हम तुझे उपदेश दे रहे हैं। असंज्ञी जीवोंकी वर्तमान योग्यता उनके अपने कारण नहीं है, इसलिये उपदेश नहीं देते। वहाँ कर्मों का जोर हो-ऐसी बात नहीं है, किन्तु उन जीवोंकी योग्यता ही ऐसी है।

प्रश्न:—होनहार हो तो उपयोग आत्मामें लगे; होनहारके बिना कैसे लग सकता है ?—भला होना हो तभी हमारा पुरुषार्थ कार्य करेगा न ?

उत्तर—यदि ऐसा श्रद्धान है तो सर्वदा किसी भी कार्यका उद्यम तू न कर ! खान–पान, व्यापारादिका उद्यम तो तू करता है और यहाँ होनहार बतलाता है; इसलिये मालूम होता है कि तेरा अनुराग ही यहाँ नहीं है; मात्र मानादिके लिये ऐसी बातें करता है। जो होना है सो होगा—ऐसा तू मानता है तो फिर सदैव मानना चाहिये; लेकिन घरके और व्यापारादिके कार्योंमें तो पुरुषार्थको

मानता है और जब धर्मकी बात आती है तब होना होगा तो हो जायेगा—ऐसी बातें करता है। इससे निश्चित होता है कि धर्मके प्रति तुझे प्रेम ही नहीं है। जहाँ प्रेम हो वहाँ पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। यदि सर्वत्र "होना है वह होगा"—ऐसा माने तो तू ज्ञाता हो जाता है; किन्तु तुझे धर्मकी रुचि नहीं है, मात्र मानादिसे ही झूठी बातें करता है।

कर्म–नोकर्मका निमित्तरूपसे प्रत्यक्ष बंधन

और वह, पर्यायमें कर्म–नोकर्मका संबंध निमित्तरूपसे होनेपर भी आत्माको निर्बंध मानता है। चौदहवें गुणस्थान तक कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। द्रव्य दृष्टिसे तो आत्मा निर्बंध है; किन्तु यहाँ तो पर्यायमें संसारदशामें पर्याय दृष्टिसे कर्म–नोकर्मके साथ सम्बन्ध है; तथापि ऐसा माने कि बिलकुल सम्बन्ध नहीं है; तो वह भी मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि कर्म–नोकर्मका निमित्तरूपसे बंधन तो प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

आत्मा और शरीर दोनोंकी स्वतंत्र अवस्था

ज्ञानावरणादिकसे ज्ञानादिक घात देखते हैं अर्थात् उसका निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध यहाँ बतलाते हैं कि—आत्मामें जब ज्ञान की पूर्णदशा नहीं है उससमय निमित्तरूपसे ज्ञानावरणीय कर्म है। और, आत्मा तथा शरीरका भी निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है; क्योंकि शरीर द्वारा उसीके अनुसार होनेवाली अवस्था देखते हैं। शरीरके हलने–चलने अनुसार आत्माके प्रदेशोंकी अवस्था होती दिखाई देती है। आत्माकी अवस्थामें शरीरका निमित्त तो प्रत्यक्ष

दिखाई देता है। शरीरके कारण आत्माकी अवस्था होती है—ऐसा नहीं है, किन्तु दोनोंकी अवस्था स्वतन्त्र अपनी-अपनी योग्यतासे होती है; उसमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

शरीरकी अवस्थानुसार आत्माकी अवस्था होती है—ऐसा यहाँ कहा है। हाथ ऊँचा होता है तो आत्माके प्रदेश भी तदनुसार ऊपर उठते हैं। वहाँ आत्माकी अवस्था तो अपने कारण होती है, किन्तु संसारदशामें शरीरका सम्बन्ध है; इसलिये वहाँतक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ऐसा भलीभाँति मानना चाहिये। यदि बिलकुल सम्बन्ध ही न हो तो ऐसी जो अवस्था दिखाई देती है वह न हो। सम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध रहित माने तो ज्ञान मिथ्या होता है; और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध माने तो भी मिथ्या होता है। इसलिये जैसा है वैसा मानना चाहिये।

द्रव्यदृष्टिसे रागादि और कर्म-नोकर्मका सम्बन्ध अभूतार्थ है

ज्ञान तो स्व-पर प्रकाशक है। उसका विवेक ऐसा होता है कि द्रव्यदृष्टिसे आत्मामें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ही नहीं; किन्तु पर्याय दृष्टिसे कर्म-नोकर्मके साथ बिलकुल निमित्त-नैमित्तिक सबध है ही नहीं—ऐसा नहीं है। हाँ, सामान्य स्वभावदृष्टिमें सिद्धदशा, रागादि और कर्म-नोकर्मका सम्बन्ध सब अभूतार्थ है। द्रव्यदृष्टिसे यह सब नहीं है, किन्तु पर्यायदृष्टिसे है—ऐसा न जाने तो एकान्त होता है। इसलिये जैसा है वैसा जानना चाहिये; तभी ज्ञान सम्यक् होता है। पर्याय दृष्टिसे कर्म-नोकर्मका सम्बन्ध न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। यदि बिलकुल सम्बन्ध न हो तो वर्तमान सिद्धदशा होना चाहिये; किन्तु वर्तमान सिद्धदशा नहीं है, अर्थात् वर्तमान

शरीरके निमित्तसे आत्मामें अवस्था होती है—ऐसा कर्म-नोकर्मका सम्बन्ध है; और पर्याय दृष्टिसे वर्तमानमें बंध है-ऐसा जानना चाहिये।

अब यदि वर्तमान पर्यायमें सर्वथा बंध ही न हो तो मोक्षमार्गी उसके नाशका उद्यम किसलिये करता है ? वर्तमान पर्यायमें विकार ही न हो और उसका निमित्त ऐसा मोहकर्म यदि न हो तो पुरुषार्थ करके उसका नाश करना नहीं रहता; और स्वभावसन्मुख होना भी नहीं रहता। ज्ञानी तो स्वभावोन्मुख होकर रागादिका नाश करता है; इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि आत्माको बंधन है।

× × ×

[फाल्गुन कृष्णा २ रविवार ता० १-२-५३]

आत्मामें वर्तमान विभावभाव होता है और उसमें कर्म-नोकर्मका सम्बन्ध है उसे तो मानता नहीं है और कहता है कि—शास्त्रमें तो आत्माको कर्म-नोकर्मसे भिन्न अबद्धस्पृष्ट कहा है वह किसप्रकार है ?—उसका उत्तर देते हैं।

आत्माका कर्म और नोकर्मके साथ तादात्मसम्बन्ध नहीं है, किन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है

सम्बन्ध अनेक प्रकारके हैं। वहाँ तादात्म्यसम्बन्धकी अपेक्षा से आत्माको कर्म-नोकर्मसे भिन्न कहा है; इसलिये आत्मा कर्ममें और शरीरमें एकमेक हो जाये ऐसा नहीं होता; तथापि पर्यायमें आत्मा और शरीरका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है—ऐसा नहीं है। पुनश्च, द्रव्य पलट कर, एक-दूसरे से मिलकर एक नहीं हो जाता; इसलिये उसे अपेक्षासे आत्माको अबद्धस्पृष्ट कहा है। आत्मा

परके साथ एकमेक नहीं होता इसलिये अबद्धस्पृष्ट कहा है। पर्यायमें स्वतन्त्ररूप से विकार करता है तब कर्म निमित्त है, और आत्माका क्षेत्रान्तर होता है उसमें शरीरका निमित्त है; इसलिये निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षासे आत्माको बन्धन है और कर्म-नोकर्म के निमित्तके आलंबनसे वह अनेक अवस्थाओंको धारण करता है। इसलिये जो आत्माको सर्वथा निर्बन्ध मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। यदि निमित्त–नैमित्तिक संबध सर्वथा छूट जाये तब तो सिद्धदशा होना चाहिये। केवलीको भी कर्म–नोकर्मके साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। यहाँ कहा है कि—कर्म और शरीरके निमित्तके आश्रय से आत्मा विकार और क्षेत्रान्तरकी क्रिया धारण करता है;—इसमें ऐसा ज्ञान कराया है कि आत्माकी योग्यताके समय ऐसा निमित्त होता है। निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि जो निमित्तको मानता ही नहीं—उसे निमित्तका ज्ञान करानेकी अपेक्षासे कहा है; किन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं है कि निमित्तके कारण आत्माकी अवस्था होती है। आत्माको सर्वथा निर्बंध मानना वह भ्रमणा है—ऐसा कहा है।

तो फिर प्रश्न करते हैं कि–हमें बंध–मोक्षका विकल्प तो करना नहीं है, क्योंकि शास्त्रमें कहा है कि—"जो बंधउ मुक्कउ मुणइ, सो बन्धइ णं भंति। अर्थात् जो जीव बँधा तथा मुक्त हुआ मानता है वह निस्सन्देह बँधता है।"

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और॥

—ऐसा कहा है, इसलिये हमें वन्ध–मोक्षका विचार ही नहीं करना है।

उत्तर:—जो जीव मात्र पर्यायदृष्टि होकर बन्ध–मुक्त अवस्था को ही मानता है, अकेली पर्यायको ही मानता है और द्रव्यस्वभावको ग्रहण नहीं करता, उसके लिये कहा है और उसीको उपदेश दिया है कि—द्रव्यस्वभावको न जाननेवाला ऐसा जीव बँधा–मुक्त हुआ मानता है वही बन्ध है। यदि सर्वथा बन्ध ही न हो तो यह जीव बँधा है—ऐसा किसलिये कहा जाता है ? जो जीव अपना नित्य सामान्य स्वभावको नहीं मानता वह अकेला पर्यायदृष्टि है; उसे बन्ध हुए बिना नहीं रहता; क्योंकि बन्धके नाशका कारण* तो त्रिकाल ज्ञायक एकरूप स्वभाव है। उस त्रिकाली स्वभावमें बंध–मोक्ष–ऐसे दो प्रकार हैं ही नहीं; किन्तु उसके पर्यायमें अनेकता है ही नहीं—ऐसा नहीं है। एकान्त द्रव्यस्वभावको माने और पर्यायको बिलकुल न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। यदि वर्तमान पर्यायमें बन्ध–मोक्ष सर्वथा न हों, यानी बन्ध है और उसका अभाव करने पर मोक्ष होता है—ऐसा न मानें तो वह जीव "बन्ध है"—ऐसा क्यों कहता है ? और बन्धके नाशका तथा मुक्त होनेका उद्यम भी किसलिये किया जाता है ? इसलिए पर्यायमें विकार और बन्ध है—ऐसा मानना चाहिये। त्रिकाली स्वभावको मुख्य करके बतलाते समय, पर्यायको गौण करके, व्यवहार कहकर अभाव है–ऐसा कहा है। यदि पर्याय में बन्ध न हो तो बन्धका नाश और मोक्षका उत्पाद करनेका उपाय किसलिये करना चाहिये ? और आत्माका अनुभव भी क्यों किया जाता है ? इसलिये द्रव्यदृष्टि द्वारा तो एक दशा है और पर्यायदृष्टि द्वारा अनेक अवस्थाएँ होती हैं—ऐसा मानना योग्य है।

---

* देखो, "भाव पाहुड़" गाथा ६२.

सामान्यका स्वीकार करे विशेषका न करे वह निश्चयाभासी है; तथा विशेषका स्वीकार करे किन्तु सामान्य न करे तो वह व्यवहाराभासी है;—वे दोनों मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिये सामान्य और विशेष—दोनोंका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये।

इन निश्चय-व्यवहारका यथार्थ ज्ञान करना प्रयोजनभूत है। मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थमें पृष्ठ २६४ में कहा है कि—जीवादि द्रव्यों अथवा तत्त्वोंको पहिचानना चाहिये; जो त्यागने योग्य मिथ्यात्वादि हैं उन्हें जानना चाहिये तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिको भी अच्छी तरह समझना चाहिये और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको भी भलीभाँति जानना चाहिये; क्योंकि उसे जानने से मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति होती है। नय-प्रमाण-युक्ति द्वारा वस्तुको जानना चाहिये। मात्र निश्चयको न मानकर दोनों नयोंका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। जो अकेले निश्चयका स्वीकार करता है वह भी मिथ्यादृष्टि है।

इसीप्रकार वह अनेक प्रकारसे मात्र निश्चयनयके अभिप्रायसे विरुद्ध श्रद्धानादिक करता है। जिनवाणीमें तो नाना नयोंकी अपेक्षा से कहीं कैसा और कहीं कैसा निरूपण किया है; उसे बराबर न समझकर वह अज्ञानी अपने अभिप्रायसे जहाँ निश्चयनयकी मुख्यतासे कथन किया हो उसीको ग्रहण करके मिथ्यादृष्टिपनेको धारण करता है, अर्थात् एकान्त—एक ही पक्षको वह ग्रहण करता है। आत्माकी पर्यायमें विकार है और निमित्त कर्म है—ऐसा जानना सो व्यवहार है; किन्तु उसे आदरणीय मानना वह व्यवहार नयका सच्चा ज्ञान नहीं है। निश्चयनयका विषय त्रिकाल ज्ञाता स्वभाव है; उसका आश्रय

करने से राग–विकारका नाश होता है; ऐसा जानना वह निश्चयनय का यथार्थ ज्ञान है। निश्चयनय आदरणीय है और व्यवहारनय जानने योग्य है—ऐसा समझना वह दोनों नयोंका सच्चा ज्ञान है। इसप्रकार दोनोंका ज्ञान करना वह प्रमाण है। कोई ऐसा कहे कि दोनों नय समकक्षी हैं, इसलिये निश्चयनयकी भाँति व्यवहारनय भी आदरणीय है, तो वह बात मिथ्या है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव तो ऐसा कहते हैं कि स्वभाव का आश्रय लेकर व्यवहारको छोड़ो; और अज्ञानी कहते हैं कि व्यवहार का आदर करो; इसलिये अज्ञानीकी बात मिथ्या है।

पुनश्च, जिनवाणीमें तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकताको मोक्षमार्ग कहा है। अब, सम्यग्दर्शन–ज्ञानमें तो सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान–ज्ञान होना चाहिये; किन्तु उसका तो इसे कुछ विचार नहीं है, तथा सम्यक्‌चारित्रमें रागादि दूर करना चाहिये, उसका भी इसके उद्यम नहीं है। सम्यग्दर्शनमें तो सातों तत्त्व भलीभाँति जानना चाहिये, किन्तु निश्चयाभासी उन्हें नहीं जानता। जीव–अजीव तत्त्व हैं, पर्यायमें आस्रवादि हैं उन्हें तो स्वीकार नहीं करता और अकेले आत्माकी बात करता है; और आत्माके आश्रयसे रागका नाश होना चाहिये उसका पुरुषार्थ नहीं करता। चारित्रका अर्थ है विकारका (रागादिका) नाश करना; किन्तु उसके नाशका उद्यम नहीं करता और मात्र एक अपने आत्मका शुद्ध अनुभवन करनेको ही मोक्षमार्ग मानकर संतुष्ट हुआ है; तथा सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकता होना वह मोक्षमार्ग है उसे मानता नहीं है। राग है और उसका

अभाव करने से शुद्ध आत्माका अनुभव होता है, किन्तु यदि रागको ही न माने तो शुद्ध आत्माका अनुभव करना भी नहीं रहता। इसलिये सातों तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। उन्हें यथावत् न जाने तो सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

शुद्ध–अशुद्धपर्यायका पिण्ड वह द्रव्य है

पुनश्च, वह आत्माका चिन्तवन किसप्रकार करता है यह कहते हैं। आत्माका अनुभव करने के लिये वह चिन्तवन करता है कि "मैं सिद्ध समान शुद्ध हूँ।"—यह भी उसकी भूल है ऐसा कहेंगे; क्योंकि वह पर्यायको नहीं मानता। "मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ"—यह बात भी उसकी सच नहीं है। वह कहता है कि—(१) मैं सिद्ध समान शुद्ध हूँ, (२) केवलज्ञानादि सहित हूँ, (३) द्रव्यकर्म–नोकर्मसे रहित हूँ, (४) परमानन्दमय हूँ, (५) जन्म–मरणादि दुःख मुझे नहीं हैं;—इसतरह अनेक प्रकार से चितवन करता है, किन्तु वह उसका भ्रम है; क्योंकि यदि यह चितवन द्रव्यदृष्टिसे करता है, तो द्रव्य तो शुद्ध–अशुद्ध सर्व पर्यायोंका पिण्ड है; उसे तो वह जानता नहीं है। जो अशुद्ध संसारपर्याय बीत गई है उसे भी यहाँ द्रव्यमें लिया है; क्योंकि पर्यायको वह बिलकुल मानता ही नहीं। इसलिये उसे समझानेके लिये—पर्यायका स्वीकार करानेके लिये इस ढंगसे बात कही है। उससे कहते हैं कि तेरी द्रव्य दृष्टि भी सच्ची नहीं है। द्रव्यमें एकरूपता होने पर भी जिसे ऐसी खबर नहीं है कि शुद्ध-अशुद्ध दोनों पर्यायें आत्माकी हैं, और न उसका स्वीकार करता है, उससे कहते हैं द्रव्य तो शुद्ध–अशुद्ध सर्व पर्यायोंका पिण्ड है। इसलिये द्रव्यदृष्टिसे तू जो यह चितवन करता है कि आत्मा सिद्धसमान है—यह बात

तेरी मिथ्या है; क्योंकि द्रव्य तो शुद्ध–अशुद्ध सर्व पर्यायों सहित है ऐसा मानना चाहिये । गई कलकी जो अशुद्ध पर्याय बीत गई है वह कहाँ गई ? उसका सर्वथा तुच्छाभाव नहीं है । वह कथंचित् द्रव्यमें है ऐसा न माने तो उसने द्रव्यको भी बराबर नहीं माना है । जिसे आत्मद्रव्यके सामान्य स्वभावकी यथार्थ दृष्टि हुई है वह तो पर्याय को भलीभाँति जानता है ।

यदि अशुद्ध पर्यायको न माना जाये तो अभीतक जो अशुद्ध पर्याय बीती है वह कहाँ रही ? उसका कहीं तुच्छाभाव नहीं है । अनादि–अनंत सर्व पर्यायोंका पिण्ड सो द्रव्य है । जो पर्यायें बीत गई हैं वे वर्तमान नहीं हैं और न वे द्रव्यमें ही हैं—ऐसा यदि मानोगे तो द्रव्य भी सिद्ध नहीं होगा । बीती हुई पर्यायोंका सर्वथा तुच्छाभाव नहीं है; इसलिये यहाँ कहा है कि यदि द्रव्यदृष्टि करना हो तो ऐसा मानो कि जितनी पूर्व पर्यायें होगई हैं वे द्रव्यकी हैं, तभी यथार्थ द्रव्यदृष्टि कहलाती है । अपेक्षाको बराबर समझना चाहिये ।

× × ×

[फाल्गुन कृष्णा ३ सोमवार ता० २–२–५३]

यह द्रव्य प्रमाणका विषय नहीं है । प्रमाणका विषय तो वर्तमान विशेष और त्रिकाली सामान्य वे दोनों हैं । उनमें द्रव्यार्थिक नयका विषय सामान्य अर्थात् शक्तिरूप सर्व पर्यायोंका समुदाय है; और दूसरा पर्यायार्थिकनय विशेष अर्थात् वर्तमान पर्यायको अपना विषय बनाता है । इसलिये यहाँ प्रमाणकी बात नहीं है ।

आत्मा द्रव्य–पर्यायरूप है; वे दोनों प्रमाणका विषय हैं । यदि द्रव्यदृष्टिसे विचार किया जाये तो द्रव्य तो शुद्ध–अशुद्ध सर्व पर्यायों

का समुदाय है; वह द्रव्यदृष्टिका विषय है; और वर्तमान अशुद्ध पर्याय एक समयकी है वह पर्यायदृष्टिका विषय है।—यह दोनों मिलकर प्रमाणका विषय होता है; किंतु जो द्रव्यदृष्टिका विषय है वह प्रमाणका विषय नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि—निश्चयाभासी ऐसा चिंतवन करते हैं कि "आत्मा शुद्ध है" वह भ्रमरूप है; क्योंकि यदि तुम द्रव्यदृष्टिसे चिंतवन करते हो तो द्रव्य अकेला शुद्ध ही नहीं है किन्तु शुद्ध-अशुद्ध दोनों रूप है; और पर्यायदृष्टिसे चिंतवन करते हो तो वर्तमान पर्याय तो तुम्हारी अशुद्ध है; इसलिये दोनों प्रकारसे शुद्धका चिंतवन करना वह भ्रमणा है; क्योंकि वर्तमान पर्याय तो निचली दशामें अशुद्ध है और द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध दोनों रूप है; इसलिये शुद्ध चिंतवन तुम्हें किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं रहता। पर्यायमें शुद्धता है ऐसा भी नहीं मानना चाहिये। वर्तमान पर्याय अशुद्ध है तथापि उसे शुद्ध क्यों मानते हो? यदि तुम शक्ति अपेक्षासे शुद्ध मानते हो तो "मैं ऐसा होने योग्य हूँ"—ऐसा मानो; "मैं सिद्ध होने योग्य हूँ"—ऐसा मानो; किन्तु मैं ऐसा हूँ"—ऐसा मानना वह भ्रम है।

वर्तमान आत्माकी अपनी विकारी पर्याय उसके अपने कारण होती है उसमें कर्म निमित्त मात्र हैं—ऐसा मानना चाहिये। कर्म एक वस्तु है किन्तु उसका प्रभाव आत्मा पर पड़ता है—ऐसा नहीं है। कर्मोंके कारण ग्यारहवें गुणस्थानसे गिर जाते हैं—ऐसा अज्ञानी मानते हैं वह भी भ्रमणा है। वहाँ कषायकर्मका उदय है ही नहीं किंतु अपनी पर्यायकी योग्यताके कारण गिरते हैं, उसके बदले कर्मों

पर आक्षेप लगाते हैं वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। यहाँ तो कहते हैं कि पर्यायमें अपूर्णदशा है, पूर्णदशा नहीं है। और यदि विकार तथा अल्पज्ञता है तो उसके निमित्तरूप द्रव्यकर्म और नोकर्म हैं। यदि निमित्तरूपसे शरीरादि न हों तो वर्तमानमें सिद्धदशा, अशरीरीदशा होना चाहिये; किन्तु वह दशा नहीं है; इसलिये मानना चाहिये कि कर्म–नोकर्मका सम्बन्ध भी है। यद्यपि आत्माकी विकारी पर्याय या अपूर्ण पर्यायके कारण से द्रव्यकर्म–नोकर्म नहीं हैं; किन्तु अपूर्णदशाके समय कर्म आदि उनके अपने कारण से होते हैं–ऐसा जानना चाहिये। और जब आत्माकी पूर्णदशा होती है तब निमित्तरूप जो कर्मादि थे वे उनके अपने कारण छूट जाते हैं; उस समय निमित्तरूप कर्मादि नहीं होते ऐसा समझना चाहिये।

पुनश्च, यदि कर्म–नोकर्म निमित्तरूप न हों तो ज्ञानादिकी व्यक्तता क्यों नहीं है? ज्ञानादिकी व्यक्तता नहीं है इसलिये कर्म-नोकर्म निमित्तरूपसे हैं। आत्मद्रव्यमें शक्तिरूपसे ज्ञानादि गुण हैं उसीमें से व्यक्तरूप पर्याय होती है। वह पर्याय वर्तमानमें नहीं है इसलिये उसमें निमित्तरूपसे कर्मको मानना चाहिये। देखो, सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं वह बात यहाँ चल रही है। सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्र नहीं होता। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है? निश्चय–व्यवहार क्या है?—उसे जाने भी नहीं और त्यागी हो जाये तो उससे कहीं सच्चा चारित्र नहीं होता। अभी तो जिसके व्यवहारका ठिकाना नहीं है उसके द्रव्यचारित्र भी नहीं होता। और द्रव्यचारित्रके बिना भावचारित्र नहीं होता। इसलिये प्रथम चारित्रका स्वरूप भी जानना चाहिये।

स्व-परप्रकाशक शक्ति आत्माकी है

आत्मा स्वयं ज्ञान है स्व-परप्रकाशक ज्ञानशक्ति आत्माकी है, इसलिये ज्ञान परसे नहीं होता; शास्त्र प्रतिमा वगैरह परवस्तुसे ज्ञान नहीं होता। स्वज्ञेय-परज्ञेय दोनोंको जाननेकी शक्ति आत्मामें है। परज्ञेयसे स्वज्ञेयको जाननेकी शक्ति नहीं होती। आत्मामें स्व और परको जाननेकी शक्ति त्रिकाल है—ऐसी जिसे खबर नहीं है और परके कारण आत्मामें ज्ञानादिका होना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। और आत्माके ज्ञान बिना द्रव्यलिंग धारण करे, नग्न हो जाये वह मिथ्यादृष्टि है ही किन्तु अध:कर्मी तथा उद्देशिक आहार ले तो वह द्रव्यलिंगी भी नहीं है; और यथार्थ द्रव्यलिंगके बिना भावलिंगीपना भी नहीं होता। जो वस्त्र-पात्रादि रखता है और अपनेको मुनि कहलवाता है, वह तो स्थूल गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

अब, यहाँ निश्चयाभासी मानता है कि मैं वर्तमानमें परमानन्दमय हूँ। यदि वह परमानन्दमय हो तो उसे कुछ भी करना नहीं रहता; इसलिये सचमुच वर्तमानमें परमानन्दमय नहीं है। वर्तमान अवस्था में आनन्द प्रगट न होने पर भी अपने को आनन्दमय मानना वह भ्रम है। और वह मानता है कि जन्म मरणादि दु:ख ही आत्माको नहीं हैं; तो वह बात भी मिथ्या है; क्योंकि वर्तमानमें दु:खी होता तो दिखाई देता है; इसलिये दु:खी होने पर भी दु:ख नहीं है—सर्वथा ऐसा मानना वह भ्रम है यानी दूसरी अवस्थामें दूसरी अवस्था मानना वह भ्रम है।

परद्रव्य से भिन्न और अपने भावों से अभिन्न वह द्रव्य की शुद्धता है

प्रश्न:—तो फिर शास्त्र में शुद्ध चिंतवन करने का उपदेश किस लिये दिया है ? श्री समयसार, प्रवचनसार में शुद्ध चिंतवन करने को तथा आस्रव शुभाशुभ भावों का चिंतवन छोड़ने को कहा है; और आप तो यहाँ दोनों प्रकार से शुद्ध चिंतवन करने का इन्कार करते हैं; इसलिये भगवान ने जो शुद्ध चिंतवन करने का उपदेश दिया है वह निरर्थक सिद्ध होता है। तो इसमें यथार्थ क्या है ?

उत्तर:— शुद्धत्व किस प्रकार है वह कहते हैं। एक तो द्रव्य अपेक्षा से शुद्धत्व है और दूसरा पर्याय अपेक्षा से। उसमें द्रव्य अपेक्षा से तो पर द्रव्यों से भिन्नता और अपने भावों से अभिन्नता का नाम शुद्धत्व है। यह द्रव्य अपेक्षा से शुद्धत्व पहले जो सामान्य द्रव्य कहा वही है। अब यहाँ, द्रव्य अपेक्षा से शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायों के समुदाय को द्रव्य कहा है। वह द्रव्य अपने भावों से अभिन्न है और परद्रव्यभावों से भिन्न है। ऐसा द्रव्य का शुद्धत्व है। इसलिये अपेक्षा से बराबर समझना चाहिये। द्रव्य का जो शुद्धत्व ऊपर कहा था उसीप्रकार यहाँ सामान्य द्रव्य का शुद्धत्व कह कर, अपना स्वरूप परद्रव्य से भिन्न रूप है उसे शुद्धत्व कहा है इस अपेक्षा से शुद्धत्व भावना यथार्थ है।

× × ×

[फाल्गुन कृष्णा ४ मंगलवार ता ३–२–५३]

सम्यग्दृष्टि ऐसा चिंतवन करता है कि मैं परद्रव्यसे त्रिकाल भिन्न हूँ। शरीर और कर्म जड़ हैं —अजीव हैं। उनके द्रव्य-गुण-पर्याय

से मैं भिन्न हूँ; इसलिये शरीर, कर्म, भाषादि की पर्याय मुझसे नहीं होती। मेरी प्रेरणा से शरीर नहीं चलता; क्योंकि वे पदार्थ मुझसे भिन्न हैं और मैं भी उनसे त्रिकाल हूँ; इसलिये आत्मा बोलने, चलने आदि क्रियाओं का कर्ता नहीं है। वर्तमान में लोगों की इतनी भारी भ्रमणा–गड़बड़ी होगई है कि "शरीर की क्रिया आत्मा से होती है" —ऐसा वे मानते हैं, किन्तु यहाँ तो सम्यग्दृष्टि जानता है कि मेरा आत्मा पर से भिन्न है और जितनी मेरी त्रिकालवर्ती शुद्ध-अशुद्ध पर्यायें हैं उन सबसे अभिन्न है। मैं अपने भावों से एकमेक हूँ, अपनी सर्व पर्यायों से अभिन्न हूँ—ऐसी दृष्टि करना वह द्रव्य अपेक्षा से शुद्धत्व है। लोगों को धर्म की खबर नहीं है। धर्मका स्वरूप तो ऐसा है कि यदि क्षणमात्र भी धर्म किया हो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे। जीव अनन्तकाल में अनन्त बार मुनित्व का पालन करके नववें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु एक क्षणमात्र भी उसे धर्म नहीं हुआ। उस धर्म का स्वरूप भी लोगों ने नहीं सुना है।

आत्मा परद्रव्य से भिन्न और अपने भावों से अभिन्न है, उसे यहाँ द्रव्य का शुद्धत्व कहा है। उसी अपेक्षा से समझना चाहिये। भूतकाल में अशुद्ध पर्याय होगई वह मेरी योग्यता थी; विकार के समय भी "मेरा स्वभाव तो शुद्ध पर्याय होने की शक्ति वाला है"—ऐसी दृष्टि करे तो "मैं हूँ सो हूँ—ऐसा सच्चा निर्णय किया कहलाता है। मैं परद्रव्य से भिन्न हूँ—ऐसा निश्चित किया इसलिये परद्रव्य और निमित्त का भाव मुझमें नहीं है ऐसा निर्णय होने से निमित्त और पर की दृष्टि छूट गई। अब, अपने भावों से अभिन्न

है—इसमें भूत-भविष्य का यथावत् ज्ञान कराया है। आत्मा भूत-भविष्य में ऐसी योग्यतावाला था और होगा—ऐसे विकल्प भी दृष्टि में नहीं होते; किन्तु जो जीव पर्याय को मानता ही नहीं उसे समझाने के लिये प्रथम भूत भविष्य की पर्यायों का यथार्थ ज्ञान कराते हैं। उसे अर्थात् शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायों के समुदाय को परद्रव्य भावों से भिन्न कह कर शुद्ध द्रव्य कहा है। ऐसे द्रव्य को जानकर दृष्टि त्रिकाल पर से भिन्न शुद्ध द्रव्य का स्वीकार करती है।

सम्यग्दृष्टि जानता है कि मेरी शक्ति तो सिद्ध ही होने की है

मेरा स्वभाव तो सदा सिद्ध समान है, इसलिये वास्तव में मेरी शक्ति तो सिद्ध ही होने की है। इसमें संसारपर्याय का आदर नहीं है; क्योंकि संसारपर्याय सिद्धपर्याय से अनन्तवें भाग अल्प है। मेरा स्वभाव शुद्धपर्याय ही प्रगट करने का है—ऐसा सम्यग्दृष्टि जानता है। शुद्ध होने की योग्यता निमित्त में से या राग में से नहीं आती ऐसा वह जानता है। भूतकाल में अशुद्ध पर्याय बीत गई है किन्तु वह द्रव्य में अन्तर्लीन है; इसलिये पर से भिन्न और स्व के भावों से अभिन्न द्रव्य को शुद्ध कहा है। जीव व्यापार-धंधे के कार्यों में तथा पर के कार्यों में तो विचार करता है किन्तु यहाँ विचार नहीं करता; तो फिर आत्मा का सच्चा ज्ञान कैसे हो? इसलिये द्रव्यदृष्टि में पर से भिन्न तथा अपने भावों से अभिन्न को शुद्धत्व कहा है; और पर्याय अपेक्षा से तो वर्तमान पर्याय में उपाधिभाव का अभाव होना वह शुद्धत्व है।

पर्याय अपेक्षा से तो केवल ज्ञान हो वह शुद्धत्व है। साधक दशा में उपाधिभाव होता है, क्योंकि सर्वथा उपाधिभाव रहित नहीं हुआ है। नियमसारादि शास्त्रों में द्रव्यदृष्टि से पारिणामिक भाव के अतिरिक्त उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक—इन चारों भावों को वैभाविक भाव कहा है, वह दूसरी अपेक्षा है। यहाँ तो क्षायिक भाव के अतिरिक्त उदय, उपशम, क्षयोपशम— इन तीनों को उपाधिभाव कहा है। वर्तमान पर्याय अपेक्षा से शुद्धत्व तो हुआ नहीं है, इसलिये पर्याय अपेक्षा से शुद्धत्व मानना वह भ्रम है।

अब, शुद्ध चिंतवन में तो द्रव्य अपेक्षा से शुद्धत्व ग्रहण किया है। उपरोक्त कथनानुसार शरीर-कर्म से भिन्नत्व और शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायों से अपने अभिन्नत्व को मुख्य करके यहाँ शुद्ध द्रव्य कहा है;—यह बात अच्छी तरह समझना चाहिये। इस प्रकार ज्ञानी त्रिकाली स्वभाव का चिंतवन करते हैं। श्री समयसार गाथा ६ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है कि—"प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवत्येष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्यते।" अर्थात्—आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है यही सर्व परद्रव्यों के भावों से भिन्नत्व द्वारा सेवन करते हुए "शुद्ध" ऐसा कहते हैं। समयसार के प्रणेता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव भावलिंगी मुनि थे और छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते थे, इसलिये मैं अप्रमत्त-प्रमत्त नहीं हूँ ऐसा कहा है; ऐसा नहीं कहा है कि मैं व्रत-अव्रत और सयोग-अयोग से रहित हूँ। वर्तमान पर्याय वर्तती है उसका निषेध करते हैं। अपनी वर्तमान पर्याय भेद का निषेध करते हैं; द्रव्य की दृष्टि कराई है।

परद्रव्य से भिन्न माने बिना, अपनी वर्तमान विकारी पर्यायसे त्रिकाली स्वभाव स्वयं भिन्न है ऐसा नहीं मान सकता। इसलिये वहाँ भी परद्रव्य से भिन्नत्व को शुद्ध ही कहा है। परद्रव्य से भिन्न हुआ,—स्वसन्मुख हुआ इतनी तो पर्याय शुद्ध हुई है; किन्तु मुनिदशा में विशेष शुद्धता होती है। धर्म तो अभ्यंतर वस्तु है बाह्य वस्तु नहीं है; इसलिये ज्ञान को सूक्ष्म करके अंतर में देखना चाहिये; तभी यह बात समझ में आती है। द्रव्य क्या ? पर्याय क्या ? पर क्या ?—इत्यादि सब बराबर जानना चाहिये और समझने का प्रयत्न करना चाहिये। अनादि काल से दूसरा सब कुछ किया किन्तु यथार्थ को समझने का प्रयत्न नहीं किया, इसलिये धर्म नहीं हुआ। प्रथम यथार्थ समझने का ही प्रयत्न करना चाहिये।

× × ×

[वीर सं० २४७९ फाल्गुन कृष्णा ५ बुधवार ता०–४–२–५३]

आत्मा की निर्मल अनुभूति होकर अकषायभाव का होना वह पर्याय की शुद्धता है

यहाँ तक तो द्रव्य अपेक्षा शुद्धत्व की बात कही। अब पर्याय की शुद्धता की बात करते हैं। उसमें समयसार गाथा ७३ की श्री अमृतचन्द्राचार्य देव की टीका का आधार दिया है कि—सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः। अर्थात्—समस्त कर्ता कर्म आदि कारकों के समूह की प्रक्रिया से पारंगत ऐसी जो निर्मल अनुभूति—अभेदज्ञान तन्मात्र है इसलिये वह शुद्ध है। अर्थात् मैं रागादि का कर्ता हूँ, राग मेरा कार्य है, मैं राग का आधार हूँ—ऐसी

छह कारकों की बुद्धि जिसके छूट गई है, उसके पर्याय की शुद्धता कहते हैं। जो ज्ञान का क्षयोपशम है उसे यहाँ शुद्धता नहीं कहा है; क्योंकि नित्यनिगोद के जीव को भी ज्ञान का विकास होता है। यदि इतना क्षयोपशम न हो तो जड़ होजाये; इसलिये वह बात यहाँ नहीं है। सस्ती ग्रन्थमाला देहली प्रकाशित—मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ ३८ में क्षायोपशमिक ज्ञान को जीव के स्वभाव का अंश कहा है, उसका तो यह अर्थ है कि वहाँ ज्ञान का स्वभावभाव बतलाना है; किन्तु वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो, परद्रव्यों का कर्ता आदि तो मैं नहीं हूँ, किन्तु राग-विकल्प-पुण्य-पापकी क्रियासे छूटकर—पार होकर, आत्मा की निर्मल अनुभूति हुई, अकषायभाव हुआ उसे पर्याय अपेक्षा से शुद्धता कहा है।

छह कारकों की अशुद्धता के तीन प्रकार हैं। (१) आत्मा कर्ता और शरीर, कर्म आदि मेरा कार्य है;—इन छह संयोगी कारकों की तो यहाँ बात ही नहीं है। आत्मा आधार है इसलिये शरीर का कार्य होता है—ऐसा नहीं है; किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि (२) रागादि मेरी पर्याय है, आत्मा उसका कर्ता है और वह आत्मा का कर्म इत्यादि भी नहीं है। (३) इसके अतिरिक्त आत्मा के आश्रय से शुद्ध निर्मल पर्याय प्रगट होती है उसका मैं कर्ता आदि हूँ ऐसा विकल्प भी यहाँ नहीं है। अभेद, अखण्ड, त्रिकाल शुद्ध स्वभाव के आश्रयसे निर्विकल्पदशा प्रगट हुई है उस पर्याय-अपेक्षासे शुद्धता है—ऐसा समझना चाहिये। मैं अपनी वीतरागी पर्यायका कर्ता हूँ—ऐसा भेद जबतक है तबतक पर्यायकी शुद्धता नहीं हुई है।

अज्ञानी न तो द्रव्यकी शुद्धताको समझता है और न पर्यायकी शुद्धता को। छह कारकोंमें तीनप्रकार से अशुद्धता आती है। एक तो परद्रव्यका कर्ता आदि मानना, दूसरे रागादि विकारी पर्यायका कर्ता आदि मानना; और तीसरे मैं अपनी निर्मल पर्यायका कर्ता आदि हूँ—ऐसा भेद डालना—यह तीनों अशुद्धता हैं; मेरा स्वरूप उनसे रहित अभेद ज्ञानानन्द चैतन्यस्वभावी एकरूप है; उसकी जिसे दृष्टि हुई है उसे पर्यायमें शुद्ध अनुभव—आनन्ददशा प्रगट होती है वह पर्यायकी शुद्धता है।

शास्त्रमें सम्यग्दृष्टिके शुभभावको मोक्षका व्यवहार–साधन कहा है; किन्तु उसका अर्थ बराबर समझना चाहिये। पर की तो बात नहीं है; किन्तु मैं शुभभावका कर्ता हूँ और शुभभाव मेरा कर्म है इत्यादि भी साधन नहीं है; और मैं अपनी वीतरागी निर्मल दशाओंका कर्ता हूँ–ऐसा भेद भी साधन नहीं है। अभेद स्वभावके आश्रयसे ही पर्याय की शुद्धता प्रगट होती है; निश्चय साधन प्रगट किये बिना शुभभावको व्यवहार साधन भी नहीं कहा जाता। इसलिये यथार्थरूपसे समझना चाहिये।

सम्यग्दृष्टिका ध्येय कैसा होता है? उसका यहाँ वर्णन चल रहा है। उसमें ज्ञानी पर्यायकी शुद्धता किसे मानता है कि—छह कारकों की प्रक्रियासे पारंगत ऐसी जो निर्मल अनुभूति अभेद ज्ञानमात्रदशा होती है उसे पर्यायकी शुद्धता कहते हैं। पहले द्रव्यकी शुद्धता बतलाते हुए जीवको अजीवसे भिन्न बतलाया था; और यहाँ पर्यायमें शुद्धता बतलाते हुए कर्ता-कर्म आदि छह कारकोंके भेदके अभावसे प्रगट होनेवाली निर्मल अनुभूति बतलाई है। इसतरह दो प्रकारसे

शुद्धता जानना। पर से भिन्नत्व जानकर सामान्य स्वभाव के सन्मुख दृष्टि करना वह द्रव्यकी शुद्धता और पर्यायमें अभेद निर्मलदशा प्रगट होना उसे पर्यायकी शुद्धता मानना चाहिये।

अब, केवलका अर्थ करते हैं। केवल शब्दका अर्थ भी इसी प्रकार जानना कि "परभावसे भिन्न निःकेवल स्वयं ही;" उसका नाम केवल है। इसीप्रकार अन्य अर्थ भी अवधारण करना। जहाँ-जहां जसप्रकार अर्थ हो वहाँ-वहाँ उसप्रकार जानना। द्रव्य अपेक्षासे सामान्य एकरूप ज्ञान, जिसमें त्रिकाल उपाधि नहीं है उसे केवलज्ञान स्वरूप मानना चाहिये। आत्मा मात्र ज्ञानस्वभावी है—ऐसा केवलका अर्थ मानना चाहिये, किन्तु केवल शब्दका अर्थ पर्याय अपेक्षासे केवली हुआ—ऐसा मानना वह विपरीतता है। पर्याय में पूर्ण अभेदज्ञान तन्मात्र हुए बिना केवलज्ञान माने तो वह भ्रमणा है। इसलिये अपने का द्रव्य-पर्यायरूप अवलोकना। द्रव्यसे तो सामान्य स्वरूप अवलोकन करना तथा पर्यायसे अवस्था विशेष अवधारण करना। इसी प्रकार चिंतवन करने से सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि सत्य जाने बिना सम्यग्दृष्टि नाम कैसे प्राप्त करेगा ? पर्यायमें तो, जैसी-जैसी पर्याय हो वैसो ही मानना चाहिये।—इसप्रकार द्रव्य-पर्यायका सच्चा चितवन करने से सम्यग्दृष्टि होता है। अवस्थाको यथावत् जाने तथा द्रव्यको द्रव्य सामान्य जानकर स्वसन्मुख हो तो उसको ज्ञान सच्चा कहलाता है। यहाँ ज्ञान—अपेक्षासे कथन है, इसलिये उसे सम्यग्दृष्टि कहा है।

ज्ञानी को भी शास्त्राभ्यास आदि शुभ विकल्प होते हैं

और मोक्षमार्गमें तो रागादि मिटानेका श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करना होता है, उसका तो निश्चयाभासीको विचार नहीं है। मात्र

अपना शुद्ध अनुभवन करके ही अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है और अन्य सर्व-साधनोंका निषेध करता है। अपने को शुद्धता प्रगट हुई हो और शुद्ध माने, तब तो कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु शुद्धता तो हुई नहीं है और "मैं पर्यायमें भी शुद्ध होगया हूँ, मुझे विकल्प उठता ही नहीं।"—इसप्रकार वह शुभभावका निषेध करता है और शास्त्राभ्यास करना निरर्थक बतलाता है, अर्थात् वह शास्त्राभ्यासको उपाधि मानता है; किन्तु पूर्णदशा न हुई हो तबतक ज्ञानीको शास्त्राभ्यासका विकल्प आये बिना नहीं रहता। वह मानता है कि हमें ऐसा विकल्प नहीं करना है; किन्तु शुद्धदशा सम्पूर्ण प्रगट नहीं हुई है निर्विकल्प उपयोग निरन्तर नहीं है—और शुभ विकल्पमें न रहे तो अशुभ विकल्प हुए बिना नहीं रहेगा। इस बातको अज्ञानी नहीं समझता। भावलिंगी मुनियोंको भी छट्ठे गुणस्थानमें शुभ विकल्प आये बिना नहीं रहता। जिसे धर्मकी पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं हुई है उसे विकल्प न आये ऐसा नहीं हो सकता।

और वह निश्चयाभासी द्रव्य-गुणपर्यायके, गुणस्थान-मार्गणास्थान के तथा त्रिलोकादिके विचारोंको विकल्प ठहराकर तीव्र प्रमादी बनते हैं। यहाँ जो मार्गणा कही है वह भावमार्गणा है, क्योंकि यह जीव के स्वरूपकी बात है, इसे वह नहीं समझता। यहाँ तो कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान-चारित्रका लाभ तो आत्मासे होता है; जड़से नहीं होता। गुरुके पाससे ज्ञान नहीं आता, किन्तु जिसे पूर्णज्ञान नहीं हुआ है उसे शास्त्राभ्यासका उत्साह और विकल्प आये बिना नहीं रहता। शास्त्रमें ऐसा भी आता है कि—द्रव्य-गुण-पर्यायके भेदका चिंतन करना कर्तव्य नहीं है; वहाँ तो भेद डालकर विचार करने से रागी जीवको

विकल्प उठते हैं, इसलिये उसका निषेध किया है; किन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि साधकदशामें ऐसा विकल्प आता ही नहीं। साधकदशामें वह विकल्प आये बिना नहीं रहता।

गुणस्थान–मार्गणास्थान आदि का विकल्प हमें नहीं करना है—ऐसा वह मानता है, किन्तु वह नहीं समझता कि साधक दशा में वह विचार और विकल्प आये बिना नहीं रहता। निश्चयाभासी तपश्चरण को वृथा क्लेश करना मानता है। धर्मात्मा को स्वभाव के लक्ष से जितने अंश में अकषाय–वीतरागी दशा प्रगट हुई है उतने अंश में आहारादि का विकल्प छूट जाता है, इसे वह नहीं समझता। इस प्रकार वह तपश्चरण के स्वरूप को भी नहीं समझता, इसलिये उसे क्लेश कहता है। और वह व्रतादि को बन्धन में पड़ना कहता है; वह भी मिथ्या है; क्योंकि भगवान की पूजादि का छोड़ना योग्य है—ऐसा मानकर शुभ में नहीं वर्तता, किन्तु अशुभ में प्रवृत्ति करता है। शुद्धता में आता हो तो उस शुभभाव का निषेध ठीक है; किन्तु वह स्वरूप की दृष्टिपूर्वक स्थिरता तो करता नहीं है और प्रमादी होकर अशुभमें वर्तता है; वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है।

अब उस बात का विशेष स्पष्टीकरण कहते हैं कि—शास्त्राभ्यास तो मुनि के भी होता है। छट्ठा-सातवाँ गुणस्थान एकदिन में अनेक बार आता है; ऐसी दशा को मुनित्व कहते हैं। क्षण में सातवाँ गुणस्थान आजाता है, और क्षण में विकल्प आये तब छट्ठा। छठवें गुणस्थान में शास्त्राभ्यासादि करते हैं ऐसा मार्ग है; उसे तो अज्ञानी निश्चयाभासी समझता नहीं है। छट्ठे गुणस्थान की स्थिति भगवान

ने अन्तर्मुहूर्त की देखी है; किन्तु जितनी भगवान ने देखी है उतनी ही छट्ठे गुणस्थान की पूरी स्थिति कोई मुनि भोगे तो वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। मुनिदशा अमुक समय तक छट्ठे गुणस्थान में होते हैं और फिर सातवें गुणस्थान में आते ही हैं;—ऐसे मुनि को विकल्प के समय शास्त्राभ्यास का विकल्प आता है। महाविदेहक्षेत्र में भावलिंगी मुनि विराजमान हैं वे ऐसे होते हैं। गणधर जब णमोकार मंत्र पढ़ते हैं तब उनका नमस्कार ऐसे भावमुनि को पहुँचता है। गणधरदेव व्यवहार में उन मुनि को सीधा नमस्कार नहीं करते, किन्तु नमस्कार मन्त्र में ऐसे मुनियों का समावेश हो जाता है।

अनेक निश्चयाभासी ऐसे होते हैं जो प्रमादी होकर चौवीस-चौवीस घंटे तक पड़े रहते हैं और मानते हैं कि हमारी दशा बहुत ऊँची होगई है। वे निश्चय के स्वरूप को नहीं समझे हैं और अकेले अशुभभाव में रहते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि मुनि भी शास्त्राभ्यास करते हैं। शास्त्रों में तो कहा है यदि मुनि ध्यान में रहें तो अच्छा है; यदि ध्यानमें न रह सकें तो शास्त्राभ्यासमें रुकना कर्तव्य है; किन्तु अन्यत्र उपयोग को लगना ठीक नहीं है। शास्त्राभ्यास द्वारा तत्त्वों के विशेष जानने से तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान निर्मल होते हैं।

× × ×

[वीर सं० २४७९ फाल्गुन कृष्णा ६ गुरुवार ता० ५-२-५३]

शास्त्राभ्यास का प्रयोजन

पुनश्च, निश्चयाभासी कहता है कि शास्त्र से ज्ञान नहीं होता, तो फिर शास्त्रों का पढ़ना निरर्थक है। उससे कहते हैं कि—शास्त्रोंसे ज्ञान

नहीं होता यह बात ठीक है, किन्तु सविकल्प दशावाले को शास्त्राभ्यास करने का विकल्प आये बिना नहीं रहता। शास्त्र द्वारा तत्त्वों के विशेष जानने से तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान निर्मल होते हैं। देखो, शास्त्राभ्यास से सम्यग्दर्शन निर्मल होता है—ऐसा कहा है; किन्तु वास्तव में शास्त्राभ्यास से निर्मल नहीं होता; किन्तु निश्चयाभासी पर्याय को मानता ही नहीं उससे कहते हैं कि आत्मा का अवलम्बन लेकर जो जीव सम्यग्दर्शन निर्मल करता है उसे शास्त्र निमित्तरूप होते हैं; इसलिये शास्त्राभ्यास करने से ज्ञान निर्मल होता है—ऐसा कहा है।

और जब तक उसमें उपयोग रहे तब तक कषाय भी मन्द रहती है तथा भावी वीतरागभावों की वृद्धि होती है; इसलिये ऐसे कार्यों को निरर्थक नहीं कहा जा सकता। सम्यग्ज्ञानी को वीतरागभाव की वृद्धि होती है, इसका यह अर्थ है कि—उसके चिदानंद स्वभाव की प्रतीति वर्तती है तथा कषाय की मन्दता होती है। सम्यग्दृष्टिपूर्वक शास्त्राभ्यास से अशुभराग दूर होता है और वीतरागभाव होता है—ऐसा निमित्त से कहा है। त्रिकाली अकषाय स्वभाव की प्रतीति वाले को कषाय की मन्दता होती है और शास्त्राभ्यासादि करते समय अशुभभाव नहीं होता; उसकी कषायमन्दता को उपचार से वीतरागता का कारण कहा है। वास्तव में कषाय की मन्दता से शुद्धता तीनकाल में नहीं होती।

जब तक शास्त्र में उपयोग रहता है तब तक कषाय की मन्दता वीतरागता की वृद्धि में निमित्तकारण है। वास्तव में तो भगवान आत्मा अकषाय चैतन्य स्वरूपी है उसके अवलम्बन से अकषाय परि-

णति होती है। कषाय के अवलम्बन से शुद्धता नहीं होती, किन्तु यहाँ जो जो एकान्त निश्चय को ही मानता है और शास्त्राभ्यास के शुभभाव का निषेध करता है उससे कहते हैं कि—वह शुद्धता का निमित्त है; इसलिये उसे निरर्थक कैसे कहा जा सकता है? अशुभके अभावमें शुभ आये बिना नहीं रहता, और वह शुभभाव वीतरागभावमें निमित्त है; इसलिये शास्त्राभ्यास निरर्थक नहीं है—ऐसा यहाँ कहा है।

अब प्रश्न करते हैं कि—जैन शास्त्रोंमें अध्यात्म-उपदेश है, उसका अभ्यास करना चाहिये; किन्तु अन्य शास्त्रोंके अभ्याससे कोई सिद्धि नहीं है।

उत्तर:—यदि तेरी दृष्टि सच्ची हुई है—अर्थात् तुझे यथार्थ श्रद्धा ज्ञान है, तब तो समस्त जैन शास्त्र तेरे लिये कार्यकारी हैं। कोई भी जैन शास्त्र पढ़े उसका निषेध करने जैसा नहीं है। अध्यात्म शास्त्रमें तो आत्मस्वरूपका कथन मुख्य है। सम्यग्दृष्टि होने से आत्मस्वरूप का निर्णय तो हो चुका है; अब ज्ञानकी विशेष निर्मलताके लिये तथा उपयोगको मंदकषायरूप रखने के हेतुसे अन्य शास्त्रोंका अभ्यास भी मुख्य आवश्यक है।

पुनश्च, अकेले अध्यात्म शास्त्रोंका ही अभ्यास करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंका नहीं—ऐसा जो एकान्त करता है, उससे कहते हैं कि अध्यात्म शास्त्रमें तो सम्यग्दर्शनका कारण ऐसे आत्मस्वरूपका कथन किया है। जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है उसे ज्ञानकी निर्मलताके लिये और कषायकी मंदताके लिये भी अन्य शास्त्रोंका अध्ययन कार्यकारी है।

जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है उसके लिये तो अध्यात्म–शास्त्रोंके अतिरिक्त अन्य शास्त्रोंका अभ्यास भी यहाँ मुख्य आवश्यक कहा है; क्योंकि जो निर्णय हो चुका है उसे स्पष्ट रखने के लिये भी अन्य शास्त्रोंका अभ्यास आवश्यक है। क्षायिक सम्यग्दर्शन तो केवली या श्रुतकेवलीके समीप होता है। वहाँ कहीं केवलीके कारण होता है—ऐसा नहीं है, किन्तु जब आत्मा स्वयं अपने समीप होकर क्षायिक सम्यक्त्व करता है तब निमित्तरूपसे समीप कौन होता है ?—यह बतलाने के लिये व्यवहारसे केवली या श्रुतकेवलीके समीप होता है ऐसा कहा है। अपने को क्षायिक सम्यक्त्व होनेका काल ही वह है, और उस समय वह जीव भगवान या श्रुतकेवलीके समीप ही होता है।—इसप्रकार शास्त्र ज्ञानकी निर्मलता होने में निमित्तरूप हैं; इसलिये अध्यात्म शास्त्रोंके सिवा अन्य शास्त्रोंकी अरुचि नहीं करना चाहिये।

निमित्तरूपसे दूसरे शास्त्र होते हैं, उसे जो नहीं मानता और कहता है कि अन्य शास्त्र पढ़नेका विकल्प ही ज्ञानीके नहीं होता; उससे कहते हैं कि— ज्ञानीको अध्यात्म शास्त्रोंके अतिरिक्त अन्य शास्त्रोंका अभ्यास आवश्यक है;—इसे जो नहीं मानता उसे वास्तव में अध्यात्म शास्त्रोंकी भी रुचि नहीं है। जैसे कि—जिसमें विषयासक्तता होती है वह विषयासक्त पुरुषोंकी कथा भी रुचिपूर्वक सुनता है, विषय के विशेषोंको जानता है, विषयाचरणके साधनोंको भी हितरूप मानता है, और विषयके स्वरूपको भी पहिचानता है; उसीप्रकार जिसे आत्माकी रुचि और उसका भान हुआ है वह (१) आदिपुराण आदि को—जिनमें आत्मरुचिके धारक तीर्थंकर भगवानादिकी कथा

होती है—भी जानता है। ज्ञानीको उनका विकल्प आता है, किन्तु उस विकल्पके कारण निर्मलता होती है—ऐसा नहीं है। (२) आत्मा के विशेषोंको जानने के लिये मार्गणास्थान गुणस्थानादिकको भी जानता है। समयसारमें गुणस्थानादिके विकल्पोंको बंधन कहा है, किन्तु यहाँ तो दृष्टि पूर्वक करणानुयोगके शास्त्रोंके अभ्यासका विकल्प आता है वह कहते हैं। ज्ञानी को चारों अनुयोगोंका विकल्प आता है। अकेले द्रव्यानुयोगका ही अभ्यास करना चाहिये—ऐसा कहकर निश्चयाभासी एकान्तकी ओर खींचता है; उससे कहते हैं कि—जिनमें गुणस्थानादिका वर्णन हो उन शास्त्रोंका अभ्यास करने से निर्मलता होती है। वह कथन व्यवहारसे है। निश्चयसे तो गुणस्थानादिके विकल्प भी कार्यकारी नहीं हैं—ऐसा कहा है। (३) आत्म-आचरणमें साधनरूप जो व्रतादिक हैं उन्हें भी व्यवहार से हितरूप मानता है—ऐसा कहा है; क्योंकि साधकदशामें ऐसा विकल्प आये बिना नहीं रहता। व्रतादिके परिणाम जो शुभ हैं—विकार हैं, उन्हें भी यहाँ अशुभभाव टालनेके लिये उपचारसे हितरूप कहा है। सम्यग्दृष्टिको व्रतादिके शुभ विकल्प आते हैं, इसलिये यहाँ व्यवहारसे उन्हें हितरूप कहा है; वास्तवमें तो वे हितरूप नहीं हैं। व्रत-तपादिका विकल्प तो मुनिको भी आता है। मुनि होने से पूर्व चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन तो हो ही गया है। व्रतादिको वह हितरूप नहीं मानता, किन्तु अभी पूर्णदशा नहीं हुई है, इसलिये बीचमें व्रतादिके विकल्प सहज ही आते हैं; इसलिये उपचार से उन्हें हितरूप कहा है। अज्ञानी की भाँति हठपूर्वक व्रतादि ग्रहण करले वह भगवानका मार्ग नहीं है।

दर्शन विशुद्धादि सोलह कारण भावनाओंमें दर्शन विशुद्धिकी बात प्रथम आती है वह बराबर है। श्वेताम्बर में कहा है कि बीस कारणसे तीर्थंकर नामकर्मका बंध होता है; और उसमें पहला बोल अरिहन्त भक्ति है, वह बराबर नहीं है। दिगम्बर शास्त्रोंमें सोलह कारण भावनामें प्रथम दर्शनविशुद्धि आती है वह यथार्थ है। सोलह कारण भावना तो आस्रव है, किन्तु ज्ञानीके लिये व्यवहारसे सोलह कारण भावनाको संवरका कारण कहा है। (४) और, ज्ञानी आत्म-स्वरूपको भी विशेष पहिचानता है। —इसप्रकार चारों अनुयोग कार्यकारी हैं।

प्रश्नः—पद्मनन्दि पंचविंशतिमें ऐसा कहा है कि—जो बुद्धि आत्मस्वरूपमें से निकलकर बाहर शास्त्रमें विचरती है, वह व्यभि-चारिणी है?

उत्तरः—पद्मनन्दि भगवान ऐसा कहते हैं कि—आत्मासे च्युत होकर जिसकी बुद्धि शास्त्रमें जाती है वह व्यभिचारिणी है। वह तो सत्य है; परद्रव्यका ज्ञान करना वह रागका कारण नहीं है, किन्तु परद्रव्यमें प्रेम हुआ है उसे व्यभिचारिणी कहा है। ज्ञानीको भी परमें बुद्धि जाने से जितना राग होता है उतना दुःखदायी है; इस-लिये उस बुद्धिको व्यभिचारिणी कहा है। इस अपेक्षासे वह बात की है। जिसे भगवान आत्माका निर्णय हुआ है वह परद्रव्यके ज्ञान का प्रेम करे तो उसे व्यभिचार कहा है; क्योंकि वह पुण्य राग है। स्त्री ब्रह्मचारी रहे तो ठीक है; किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन न कर सके, और अपने योग्य पुरुषसे ब्याह करना छोड़कर चंडाल आदिका सेवन करे तो वह महान निन्दनीय होती है। स्त्री शीलका पालन करे तो

वह पुण्यबंध है,—यह तो यहाँ दृष्टान्त है; उसी प्रकार बुद्धि आत्मा में रहे तो ठीक है, किन्तु आत्मा में स्थिर न रह सके और शास्त्राभ्यास का प्रशस्त राग छोड़कर अशुभ भाव करे तो वह महा निन्दनीय है। शास्त्राभ्यास को छोड़कर सांसारिक कार्यों में लग जाये तो वह पाप है। भगवान आत्मा ज्ञान में रमण करे तो अच्छा है; और आत्मा में रमण न कर सके तो शुभ भाव में रहना अच्छा है; किंतु अशुभभाव तो करने योग्य नहीं ही है। यहाँ, जिसे आत्म दृष्टि हुई है उसे, अपेक्षा से शुभभाव ठीक है—ऐसा व्यवहार से कहा है।

अशुभभाव करके संसारकार्यों में लगा रहे और शास्त्राभ्यास को छोड़ दे तो वह महा निन्दनीय है। यहाँ कहा है कि अशुभ न करके शुभभाव करना योग्य है; वह भी व्यवहार से कहा है। वास्तव में निश्चय से तो अपनी योग्यतानुसार अशुभ के समय अशुभ और शुभ के समय शुभ ही होता है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं; किंतु साधक दशामें ज्ञानी के कैसा विकल्प होता है उसका यहाँ ज्ञान कराया है। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि—जब शुभभाव आता है तब शास्त्राभ्यास में बुद्धि लगाना योग्य है; क्यों कि मुनियों को भी स्वरूप में अधिक काल तक स्थिरता नहीं रहती। गणधर देव भी भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण करते हैं। जो चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धारी हैं, जिन्होंने बारह अंगों की रचना की है, उन्हें भी अधिक काल तक अंतर्स्थिरता न रहने से भगवान की वाणी सुनने का विकल्प होता है; इसलिये शास्त्राभ्यास में बुद्धि को लगाना योग्य है।

× × ×

[वीर सं २४७९ फाल्गुन कृष्णा ७ शुक्रवार ता० ६-२-५३]

छद्मस्थ को निरन्तर निर्विकल्प दशा नहीं रहती। छद्मस्थ का उपयोग एकरूप रहे तो उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त रहता है; उससे अधिक नहीं। उससे विशेष रहे तो वीतराग होकर केवलज्ञान प्राप्त कर ले। यहाँ यह ज्ञान कराते हैं कि साधक जीव को शुभ राग आता है। शुभ राग आता है उसे जानना वह व्यवहार है। कुछ लोग कहते हैं कि व्यवहार और निमित्त से लाभ मानो, तब उन्हें माना कहा जायेगा; किंतु वह बराबर नहीं है। परसे शुभभाव नहीं होता। मन्दिर शुभ निमित्त होने पर भी कुछ लोग मन्दिर में चोरी करते हैं। इसलिये जो शुभभाव करता है, उसके लिये निमित्त कहलाता है। निमित्त से शुभभाव नहीं होता और शुभ से धर्म नहीं होता। आत्मा से धर्म होता है, और शुभ से पुण्य होता है ऐसा मानना वह निश्चय है और अपूर्णदशा में शुभराग आता है उसे जानना सो व्यवहार है।

यहाँ निश्चयाभासी कहता है कि—"मैं अनेक प्रकार से आत्मस्वरूप का ही चिंतवन करता रहूँगा।" तो उससे कहते हैं कि—सामान्य चिंतवन में अनेक प्रकार नहीं होते। राग रहित स्वभाव एक ही प्रकार से है; तथा विशेष विचार करे तो आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड है, वर्तमान पर्याय है मार्गणास्थान, गुणस्थानादि शुद्ध-अशुद्ध अवस्था का विचार आयेगा। ऐसा शुभराग आये उसे जानना वह व्यवहार है।

पुनश्च, मात्र आत्मज्ञान से ही मोक्षमार्ग नहीं होता किन्तु सात तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान होने पर और रागादि का नाश होने पर मोक्षमार्ग होगा। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—यह सातों तत्त्व पृथक्-पृथक् हैं—ऐसा जानना चाहिये। मैं

शुद्ध चिदानन्द हूँ सो जीव; शरीर, कर्मादि अजीव हैं वे मुझसे भिन्न हैं; दया, दानादि तथा हिंसा, असत्यादि आस्रव हैं; उनमें रुकना वह बंध है। आत्मा के भान द्वारा संवर होता है; विशेष स्थिरता द्वारा शुद्धि की वृद्धिरूप निर्जरा होती है; सम्पूर्ण शुद्धि वह मोक्ष है। यदि कर्म के कारण आस्रव माने तो अजीव और आस्रव एक हो जायें। शरीरका हलन-चलन आदि अजीवकी पर्याय है; वह आत्माकी पर्याय नहीं है। आत्माके कारण शरीर चलता है ऐसा माने तो आत्मा और शरीर को पृथक् नहीं माना। पुण्य-पाप के भाव आस्रव हैं; उनमें अटक जाना सो बंध है। आत्मा के अवलम्बन से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं वह संवर-निर्जरा है पूर्णदशा प्रगट हो वह मोक्ष है।

कर्म से विकार माने तो अजीव और आस्रव को एक माना; आत्मा से शरीर चलता है—ऐसा माने तो जीव और अजीव को एक माना; और ऐसा मानने से सात तत्त्व नहीं रहते। पृथक्-पृथक् सात तत्त्व न माने तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। शरीर की क्रिया अजीव की है; इच्छा आस्रव है, ज्ञाता द्रष्टा जीव-तत्त्व है—इसप्रकार सातों तत्त्व पृथक्-पृथक् हैं। अज्ञानी कहता है कि हमें आत्माका ज्ञान है; उससे कहते हैं कि विपरीत अभिप्राय रहित सात तत्त्वों के ज्ञान बिना अकेले आत्मा का ज्ञान सच्चा नहीं होता। जीवादि सात तत्त्व जैसे हैं वैसा ही उन्हें मानना चाहिये। पुनश्च; व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय-रत्नत्रय माने तो आस्रव और संवर एक हो जाते हैं, सात नहीं रहते। सात तत्त्वों का ठिकाना नहीं है और आत्मज्ञान माने तो वह झूठा है। व्यवहार से धर्म माने वह भी झूठा है। सातकी श्रद्धा और ज्ञान के बिना रागादि का त्याग होकर चारित्र नहीं होता।

यहाँ निश्चयाभासी से कहते हैं कि प्रथम सात तत्त्वों के श्रद्धान-ज्ञान होना चाहिये; तत्पश्चात् द्रव्य स्वभाव के विशेष आश्रय से वीत-रागता होती है। सात तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, और रागादिका दूर होना वह चारित्र दशा है। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह मोक्षमार्ग है। मुनियों के २८ मूल गुणों का पालन होता है वह आस्रव तत्त्व है, चारित्र नहीं है। ज्ञायकस्वभाव में एकाग्रता होने से आस्रव-बंधहीन हो जाते हैं और स्थिरता में वृद्धि होती है वह चारित्र है।

अब, सात तत्त्वों के विशेष जानने के लिये जीव और अजीव के विशेष जानना चाहिये। पुण्य-पाप परिणाम आस्रव है; जड़कर्म स्वतंत्र आते हैं वह द्रव्य–आस्रव है; जीव विकारी परिणाम में अट-कता है वह भावबंध है और कर्म बँधते हैं वह द्रव्यबंध है जहाँ भाव-आस्रव हो वहाँ द्रव्य-आस्रव होता है। वे एक-दूसरे के कारण आते हैं—ऐसा कहना निमित्त का कथन है। जीव में मलिन परिणाम का होना स्वतंत्र है और कर्मों का आना स्वतंत्र है; कोई किसी के कारण नहीं है। जीव की पर्याय में जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं वह भाव आस्रव है, और उतने ही प्रमाणमें कर्मोंका बंध होता है; इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाने के लिये ऐसा कहा है कि भावास्रवके कारण द्रव्यास्रव होता है; किन्तु वास्तव में एक के कारण दूसरा नहीं होता। जब कर्म की पर्याय नैमित्तिक स्वतंत्र होती है तब भावास्रवको निमित्त कहा जाता है; उसी प्रकार जीव स्वयं विकार करे तो कर्म के उदयको निमित्त कहा जाता है। अशुभ निमित्तों से उपयोग को हटा कर द्रव्य-गुण-पर्यायका विचार करना चाहिये कि—मैं त्रिकाली

द्रव्य हूँ, गुण भी त्रिकाली हैं; और गुणस्थानादिका भी विचार करना चाहिये; वह राग कम करने में निमित्त हैं; क्योंकि उनमें कोई रागादिक का निमित्त नहीं है। यहाँ राग के क्रमको नहीं बदलना है; भूमिकानुसार जिस समय जो राग आना है वह तो आयेगा ही। राग को कम करने का उपाय तो आत्मावलम्बन से ही है; किन्तु उपदेश में व्यवहार कथन में ऐसा आता है कि अशुभ को घटाकर शुभ में रहना चाहिये; गुणस्थानादिका विचार करना चाहिये। इसलिये सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् भी वहीं उपयोग लगाना चाहिये।

प्रश्न:—जो रागादि मिटाने के कारण हों उनमें तो उपयोग लगाना ठीक है; किन्तु क्या त्रिलोकवर्ती जीवों की गति आदि का विचार करना कार्यकारी है ?

उत्तर:—ऐसे विचार से राग नहीं बढ़ता। आत्मा ज्ञायक है; लोक, कर्म आदि ज्ञानके ज्ञेय हैं। जगतके पदार्थ इष्ट–अनिष्ट नहीं हैं किन्तु वे ज्ञेय हैं और आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रमाण है। पदार्थों में इष्ट अनिष्ट माने वह मिथ्यादृष्टि है त्रिलोक के विचारमें इष्ट–अनिष्टपना नहीं है, इसलिये ज्ञेयका विचार वर्तमान रागादिक का कारण नहीं है; किन्तु लोकादिका विचार और अभ्यास करने से ज्ञान निर्मल होता है; तथा वह विचार वर्तमान और आगामी रागादि घटाने का कारण है। वर्तमान में जो शुभ राग उत्पन्न हुआ है वह राग घटाने का कारण नहीं है; वास्तव में तो शुद्ध आत्मा के आश्रय से ही राग कम होता है; किन्तु शुभराग आता है और अशुभ घटता है, इसलिये शुभराग को उपचार से राग घटने का कारण कहा है।

प्रश्न:—स्वर्ग-नरकादि को जानने से तो वहाँ राग-द्वेष होता है।

उत्तर:—ज्ञानी स्वर्ग को अनुकूल तथा नरक को प्रतिकूल नहीं मानता। पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और पाप से नरक की—ऐसा ज्ञानी जानता है। ज्ञानी शुभाशुभ को हेय मानता है, तो फिर उसका फल जो स्वर्ग-नरकादि हैं उन्हें उपादेय नहीं मान सकता। अज्ञानी पुण्य को और उसके फल को उपादेय मानता है; ज्ञानी पुण्य को पुण्य और धर्म को धर्म मानता है। पुण्यको बन्ध का कारण समझता है। इसलिये स्वर्ग-नरकादि को जानते हुए उसे राग-द्वेष की बुद्धि नहीं होती; अज्ञानी को होती है। जब पाप छोड़कर पुण्य कार्य में लग जाये, तब कुछ रागादि घटते ही हैं।

प्रश्न:—शास्त्र में तो ऐसा उपदेश है कि प्रयोजनभूत थोड़ा ही जानना कार्यकारी है, इसलिये बहुत-से विकल्प किसलिये करें ?

उत्तर:—सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है। जो जीव दूसरा सब कुछ जाने किन्तु प्रयोजनभूत न जाने उससे कहा है कि प्रयोजनभूत जानो; अथवा जिसमें बहुत जानने की शक्ति नहीं है उसे यह उपदेश दिया है। जिसकी अल्प बुद्धि है उससे कहा है कि अल्प किन्तु प्रयोजनभूत जानो। शिवभूति मुनि को विशेष बुद्धि नहीं थी, किन्तु उन्होंने प्रयोजनभूत तत्त्व को जाना था। और जिसकी अधिक बुद्धि है उससे नहीं कहा है कि अधिक जानने से बुरा होगा; उल्टा बहुत जानने से ज्ञान निर्मल होगा। शास्त्रमें भी ऐसा कहा है कि—सामान्यशास्त्रतो नूनं, विशेषो बलवान भवेत्। सामान्य की अपेक्षा विशेष बलवान है। यहाँ सामान्य अर्थात् द्रव्य और विशेष अर्थात् पर्याय,—ऐसा अर्थ नहीं है। पर्याय दृष्टि छोड़कर द्रव्य दृष्टि

करना चाहिये–यह बात भी यहाँ नहीं करना है; किन्तु सामान्य अर्थात् संक्षेप से जानने की अपेक्षा विशेषता से—अधिकता से—अनेक पक्षों से जानना वह निर्मलता का कारण है। जिसे आत्माका भान हुआ है ऐसे जीव को विशेष ज्ञान निर्मलता का कारण है। सामान्य अर्थात् द्रव्य और विशेष अर्थात् पर्याय; इसलिये द्रव्य की अपेक्षा पर्याय बलवान है ऐसा नहीं कहना है। धर्म प्रगट करने में बलवान तो द्रव्य है, और द्रव्यसामान्य के आश्रय से ही निर्मलता होती है; किन्तु वह यहाँ नहीं कहना है। यहाँ यह कहना है कि विशेष ज्ञान का होना वह निर्मलता का कारण है। मैं आत्मा ज्ञायक हूँ—ऐसी सामान्यकी दृष्टि तो निरन्तर रखना चाहिये। सामान्य आत्मा पर दृष्टि रखना और ज्ञान की विशेषता करना वह निर्मलता का कारण है—ऐसा यहाँ कहना है। "विशेष जानने से विकल्प होते हैं"—इसप्रकार अज्ञानी एकान्त खींचते हैं, उन्हें समझाया है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ फाल्गुन कृष्णा ८, रविवार ता० ६–२–५३]

श्री तत्त्वार्थ सूत्र में पहले सूत्र में कहा है कि—"सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।" उनमें से यहाँ सम्यग्दर्शनकी बात चल रही है। आत्मा त्रिकाली ध्रुव पदार्थ है, उसका श्रद्धा नामका गुण भी त्रिकाल ध्रुव एकरूप है। सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय है और मिथ्यादर्शन उसकी विपरीत पर्याय है। सम्यग्दर्शन आत्माके आश्रय से होता है, उसमें शास्त्र परम्परा निमित्त है; उसे न माने और कहे कि वह निमित्त ही नहीं है तो वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को न जाने और कहे कि आत्मा के

विकल्प के कारण परवस्तु आती है, तो वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको नहीं समझता। और आत्मा के विकल्प में परवस्तु निमित्त ही नहीं है—ऐसा माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है।

ज्ञानी को शास्त्र पढ़ने का विकल्प आता है, किन्तु विकल्प आया इसलिये शास्त्र आ जाता है—ऐसा नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है। कोई ईश्वर को जगत का कर्ता मानता है; उसी प्रकार कोई जैनी आत्मा को शरीरादि पर द्रव्यों का कर्ता माने तो वह भी ईश्वर को जगत्कर्ता माननेवाले की भाँति मिथ्यादृष्टि है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कर्ता तो नहीं है, किन्तु दूसरे पदार्थ को सहायक होता है ऐसा भी नहीं है:—ऐसा ज्ञानी जानते हैं। स्वभाव के अवलम्बन से आत्मा में निर्मलता होती है तब शास्त्र को निमित्त कहा जाता है; इसलिये व्यवहारसे ऐसा भी कहा जाता है कि शास्त्र से निर्मलता–होती है।

पुनश्च, निश्चयाभासी तपश्चरण को व्यर्थ क्लेश मानता है; किन्तु मोक्षमार्ग होने पर तो संसारी जीवों से विपरीत परिणति होना चाहिये। देखो, यहाँ अज्ञानी ऐसा कहता है कि हमें तपश्चरण की आवश्यकता नहीं है; तो उससे कहते हैं कि जिसके मोक्षमार्ग प्रगट हुआ हो उसकी दशा संसारी जीवों से विपरीत होना चाहिये। स्वभाव के अवलम्बन से राग कम करने का प्रयत्न न करे और मांन ले कि हम पूर्ण हो गये हैं तो वह एकान्त निश्चयाभासी मिथ्या-दृष्टि है। जो मोक्षमार्गी है उसका राग कम होना चाहिये।

इष्ट-अनिष्ट सामग्री राग-द्वेष का कारण नहीं है

अज्ञानी संसारी जीव ऐसा मानते हैं कि इष्ट-अनिष्ट सामग्री से राग-द्वेष होता है। ज्ञानी के अज्ञान दूर हो गया है इसलिये ऐसा राग-

द्वेष नहीं होता। संसारी को अनुकूल भोजनादि में प्रीति और प्रतिकूल सामग्री में द्वेष होता है। सामग्री अनुकूल—प्रतिकूल है ही नहीं, क्योंकि वह तो जड़की पर्याय है, ज्ञानी तो उसे ज्ञानका ज्ञेय जानता है। अज्ञानी सामग्री को इष्ट-अनिष्ट मानता है। क्षुधा लगने को अनिष्ट मानता है किन्तु वह अनिष्ट नहीं है; और भोजनादि प्राप्त होने को इष्ट मानता है किन्तु वह इष्ट नहीं है। इसलिये परवस्तु में इष्ट-अनिष्टपना मानना वह मिथ्यात्व है। ज्ञानी पर द्रव्य को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानता; इसलिये उसे पर द्रव्य के कारण राग-द्वेष नहीं होते। अपनी निर्बलता से अल्प रागादि होते हैं, उनके नाशके लिये निमित्त की ओर से कथन द्वारा भोजनादि छोड़ने का उपदेश आता है।

तत्त्वदृष्टि कैसी है ? वह लोगों ने नहीं सुनी है। मोक्षमार्ग का मूलधन (रकम) क्या है, उसकी खबर नहीं है। सम्यग्दर्शन वह मूलधन है; उसकी यहाँ बात करते हैं। सम्यग्दृष्टि परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष नहीं करता। परवस्तु के कारण राग-द्वेष नहीं होता। परके कारण राग होता हो तो केवली को भी होना चाहिये। यहाँ पण्डितजी ने यथार्थ बात कही है। सुकौशल मुनिके शरीरको वाघिन खाती है; जो उनकी पूर्व भवकी माता थी। सुकौशल मुनिको उस पर द्वेष नहीं होता। यदि निमित्त के कारण द्वेष होता हो तो मुनिको द्वेष होना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता। जिसे इष्ट-अनिष्ट सामग्री देखकर राग-द्वेष हो वह सम्यग्दृष्टि नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि है।

आत्माकी पर्याय में विकार होता है वह भावबन्ध है; और उस समय एक क्षेत्रावगाही रूपसे कर्म का बन्धन होता है वह द्रव्यबन्ध है। द्रव्यबन्ध हुआ वह जड़ है और भावबन्ध आत्माकी पर्याय में है।

द्रव्य बन्ध में भाव बन्ध का अभाव है। दो पृथक् वस्तुएँ हैं। वे निकट रहने से एक दूसरे में मिल जायें—ऐसा नहीं है। कर्म अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रहते हैं और आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में; इसलिये आत्मा में कर्म नहीं हैं और कर्म में आत्मा नहीं है; दोनों का स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। अजीव और जीव दोनों तत्त्व भिन्न भिन्न हैं; ऐसा न माने तो सात तत्त्वों की भी यथार्थ प्रतीति नहीं रहती; इसलिये जिसे जीवादि तत्त्वों की भी खबर नहीं है उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता।

निश्चयाभासी को कहते हैं कि—मोक्षमार्गी को तो संसारी जीवों से उलटी दशा चाहिये, पर में इष्ट अनिष्ट बुद्धि छोड़कर परिणामों की शुद्धता करने के कालमें विकल्प तो आते हैं किन्तु कम होते हैं। यदि स्वाधीनरूप से ऐसा साधन हो तो पराधीनरूप से इष्ट-अनिष्ट सामग्री प्राप्त होने पर रागद्वेष नहीं होता। धर्मात्मा को इच्छा के विनाशका पुरुषार्थ होना चाहिये। निजस्वरूप में सावधान रहने से ही विकल्प—इच्छा का अभाव होता है। यदि इच्छा का नाश हो तो उसके निमित्तों का अभाव हुए बिना भी न रहे। परवस्तु के कारण राग होता है—ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। स्वभाव के प्रयोजन बिना राग नहीं छूटता। परवस्तु छूटने से राग छूट जाये—ऐसा नहीं है। जब ज्ञान के पुरुषार्थ से राग सहज ही छूट जाता है, तब कर्म उनके अपने कारण छूट जाते हैं।

ज्ञानी को स्वाधीनरूप से पुरुषार्थ करके राग-द्वेष को छोड़ना चाहिये। ऐसी साधना में चाहे जैसी इष्ट-अनिष्ट व सामग्री का संयोग हो तथापि ज्ञानी को राग-द्वेष नहीं होता।

अब देखें तो, मिथ्या श्रद्धान के कारण एकान्त निश्चयाभासी

को अनशनादि से द्वेष हुआ है इसलिये वह उन्हें क्लेश कहता है। अनशनादि को क्लेश का कारण माना तो भोजनादि में इष्ट पना हुआ। इसप्रकार परवस्तुमें इष्ट-अनिष्टपना हुए बिना नहीं रहा। ऐसी दशा तो पर्यायदृष्टि संसारियों के भी होती है, तो फिर तूने मोक्ष-मार्गी होकर क्या किया ? तुझमें और मिथ्यादृष्टि में कोई अन्तर नहीं रहा—ऐसा कहते हैं।

× × ×

[वीर सं० २४७९ फाल्गुन कृष्णा १० सोमवार ता० ९–२–५३]

मिथ्यादृष्टि निश्चयाभासी को यथार्थ राग कम करने की भावना भी नहीं होती, इसलिये वह कहता है कि—सम्यग्दृष्टि तपश्चरण नहीं करते, इसलिये हम भी नहीं करते !

उत्तर:—तपका अर्थ तो इच्छा का निरोध पूर्वक चैतन्य स्वरूप में विश्रान्तरूप प्रतापवन्त रहना है। सम्यग्दृष्टि को ही यथार्थ इच्छाका निरोध होता है, मिथ्यादृष्टि को नहीं होता। सम्यग्दृष्टि संसार में लाखों वर्ष तक रहता है। भगवान ऋषभदेव तेरासी लाख पूर्व संसार में रहे थे। सम्यग्दृष्टि थे किन्तु मुनिपना धारण नहीं किया था। अन्तर में स्वभावदृष्टि तो थी, किन्तु पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण चारित्रदशा अंगीकार नहीं कर सके। सम्यग्दृष्टि को तप नहीं हो सकता, किन्तु श्रद्धान में तो वह तप अर्थात् चारित्र को श्रेष्ठ जानता है। श्रावकदशा में रहने पर भी मुनिपने की भावना वर्तती है। अपनी पर्याय में अशक्ति होने के कारण चारित्र प्रगट नहीं होता—ऐसा जानते हैं। चक्रवर्ती के छियानवे करोड़ गाँव, छियानवे हजार स्त्रियाँ, छियानवे करोड़ पैदल, चौसठ हजार पुत्र

और बत्तीस हजार पुत्रियाँ होती हैं तथापि उनके भावना तो चारित्र दशा की होती है। मिथ्यादृष्टि का श्रद्धान ही ऐसा होता है कि वह तप को क्लेश मानता है; इसलिये तप अर्थात् रागादि का नाश करके स्वभाव में रमणता करने की उसे भावना भी नहीं होती।

धर्मात्मा को बाह्य में उपवासादि न हों, तथापि सम्यग्दृष्टि में किंचित् दोष नहीं आता। मिथ्यादृष्टि हठपूर्वक चारित्र ग्रहण करे वह कहीं यथार्थ चारित्र नहीं कहलाता; क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र-तप नहीं होता। अज्ञानी को चक्रवर्ती या तीर्थंकर पद का बन्ध नहीं होता। आत्मा में निर्बलता से रागादि की पर्याय होती है, उसे उपादेय नहीं मानते; उसमें चक्रवर्ती या तीर्थंकर पद का बन्ध हो जाता है। जो शुभ भाव को अच्छा मानते हैं वे तो मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें चक्रवर्ती या तीर्थंकर पद की प्राप्ति नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि को भावना तो तप की ही होती है। तब प्रश्न उठता है कि:—शास्त्र में ऐसा कहा है कि तपादि क्लेश करते हैं तो करो, किन्तु ज्ञान के बिना सिद्धि नहीं होती उसका क्या कारण ?

तत्त्वज्ञान के बिना मात्र तप से धर्म नहीं होता

उत्तर:—जो जीव तत्त्वज्ञान से पराङ्मुख हैं तथा तप से ही मोक्ष मानते हैं उन्हें ऐसा उपदेश दिया जाता है कि तत्त्वज्ञान के बिना मात्र तप से ही मोक्ष नहीं होता। तत्त्वज्ञान होने पर आत्मा की दृष्टि हुई, आस्रव की भावना छूट गई, संयोग में अनुकूलता-प्रतिकूलता की दृष्टि छूट गई, उसे आत्मामें लीन होने पर इच्छा का निरोध होता है वह तप है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि:—

यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
बनवास लयो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो ॥१॥
मनपौन निरोध स्वबोध कियो, हठजोग प्रयोग सु तार भयो;
जप भेद जपे तप त्योंहि तपे, उरसेंहि उदासि लही सय पें ॥२॥
सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मंडन खंडन भेद लिये;
वह साधन बार अनन्त कियो, तदपी कछु हाथ हजू न पर्यो ॥३॥
अब क्यों विचारत है मनसें, कछु और रहा उन साधन सें ?
बिन सद्गुरु कोय न भेद लहे, मुख आगल हैं कह बात कहें ? ॥४॥
करुना हम पावत हैं तुम की, वह बात रही सुगुरुगम की,
पल में प्रगटे मुख आगल से, जब सद्गुरुचर्न सुप्रेम बसें ॥५॥
तनसे, मनसे धनसे सबसे, गुरुदेव की आन स्वआत्म बसें,
तब कारज सिद्ध बने अपनो, रस अमृत पावहि प्रेम घनो ॥६॥

  

पंच महाव्रत धारण किये, बारह–बारह महीने के उपवास किये, जङ्गल में रहा, मौन धारण किया, तप करके सूख गया, शास्त्र पढ़े, ग्यारह अंग का ज्ञान किया, मत का मंडन–खंडन किया; किन्तु पर-लक्ष छोड़कर आत्मा का लक्ष नहीं किया। बाह्य साधन अनन्तबार किये किन्तु आत्मकल्याण नहीं हुआ। सद्गुरु का समागम करके वस्तु का मर्म नहीं जाना।

यहाँ ऐसा कहा है कि जो तत्त्वज्ञानसे पराङ्मुख है वह मिथ्या-दृष्टि है। सातों तत्त्व पृथक्–पृथक् हैं—ऐसा जिसने यथार्थ नहीं जाना वह आत्मा से पराङ्मुख है, ऐसा इसमें आ जाता है। जो तत्त्व ज्ञान

से पराङ्मुख है और मात्र बाह्य तप से मोक्ष मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

पहले तत्त्वज्ञान करना चाहिये

कोई कहे कि तत्त्व ज्ञान न हो उसे क्या करना चाहिये ? उससे कहते हैं कि पहले तत्त्व ज्ञान करना चाहिये। शुभाशुभ भाव तो क्रमानुसार आते हैं। शुभ–अशुभ भाव में दृष्टि और रुचि है उसे बदलकर ऐसी रुचि करना चाहिये कि मैं आत्मा चिदानन्द हूँ। पर पदार्थों की पर्याय आत्मा नहीं कर सकता। स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, शरीर, कर्म आदि की पर्याय जिसकाल जैसी होना है सो होगी, उसे बदलना नहीं है। और आत्मा की पर्याय में जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं उन्हें भी नहीं बदलना है। आत्मा ज्ञानानन्द है, ऐसी रुचि करना वह सम्यग्दर्शनका यथार्थ उपाय है।

× × ×

[वीर सं० २४७९ फाल्गुन कृष्णा ११ मंगलवार ता० १०–२–५३]

आत्मा में विकार होता है वह आस्रव है। शुद्धात्मा की दृष्टि से जिसका राग कम हो जाता है उसे बाह्य में उस प्रकार का त्याग होता है। इसका शास्त्र में निषेध नहीं किया है। यदि शास्त्र में राग का अभाव करने का उपदेश न दिया हो तो गणधरादि उसका उद्यम किसलिये करें ? इसलिये शक्ति-अनुसार तप–त्याग करना योग्य है। ज्ञानी शक्तिका उल्लंघन करके तपादि नहीं करते उनके सहज दशा होती है; तपमें अरुचि नहीं होती। यदि तपमें क्लेश हो तो धर्म नहीं किन्तु आर्तध्यान है, और विशुद्ध (शुभ) परिणाम हों तो पुण्य होता

है; इसलिये शक्ति-अनुसार तप करना योग्य है।—यह तप की बात कही। अब वृत की बात कहते हैं।

पुनश्च, तू व्रतादि को बन्धन मानता है, किन्तु स्वच्छन्दवृत्ति तो अज्ञानावस्थामें भी थी। ज्ञान प्राप्त होनेसे तो वह परिणतिको रोकता ही है। ज्ञान में एकाग्रता होने से राग परिणति रुकती है; तथा परिणति रोकने के लिये बाह्य में हिंसादिके कारणों का त्यागी भी अवश्य होना चाहिये। यह बात निमित्त से है। बाह्य क्रिया से परिणाम नहीं रुकते, किन्तु जब उस प्रकार का राग नहीं होता तब ज्ञानी उस क्रिया से रहित होते हैं और ऐसा कहा जाता है कि बाह्य पदार्थ छूट गये।

अब निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टिका प्रश्न है कि हमारे परिणाम तो शुद्ध हैं, बाह्य त्याग नहीं किया तो न सही ?

परिणाम और बाह्यक्रिया का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध

उत्तरः—निश्चयाभासी होने से उसे समझाते हैं कि निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है—यदि वे हिंसादि कार्य तेरे परिणाम के निमित्त बिना स्वयं होते हों तो हम ऐसा ही मान लें। द्रव्य हिंसादि की पर्याय तो जड़ है, वह तो जड़ के कारण स्वयं होती है, किन्तु उसका निमित्त तू होता है। भाव हिंसा--मारने आदिके परिणाम तो तू करता है, तथापि तेरे परिणाम शुद्ध हैं ऐसा कैसे हो सकता है ? तेरे परिणाम निमित्त हैं इसलिये हम ऐसा कहते हैं कि परिणाम द्वारा कार्य होता है। हरियाली कटती है उस समय वह कटने की क्रिया तो जड़ की है; किन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि उस समय जीव के परिणाम शुद्ध हों। मुनिके ऐसी क्रिया नहीं होती, क्योंकि उनके ऐसे परिणाम नहीं है।

हिंसा करूँ, झूठ बोलूँ आदि परिणाम जीव करता है, और उस समय बाह्य क्रिया उसके अपने कारण स्वयं होती है। विषय सेवन की क्रिया शरीर द्वारा हो और कहे कि मेरे परिणाम ऐसे हैं ही नहीं, तो वह परिणाम को नहीं जानता। प्रमाद से चलने की क्रिया होती है, वह उस प्रकारके परिणाम बिना कैसे होगी ? वैसे परिणाम न हों तो वैसी क्रिया नहीं होगी,—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। खाने के परिणाम करता है और बाह्य में भोजन की क्रिया होती है; तथापि वहाँ परिणाम शुद्ध हैं ऐसा माने वह मिथ्या-दृष्टि है। शरीरादि की क्रिया तो जड़ की है, किन्तु उस समय परिणाम तो जीव के हैं। लक्ष्मी का संग्रह होता है वह जड़ की क्रिया है, किन्तु उस समय परिग्रह और लोभ के परिणाम जीव के हैं; उसे जो शुद्ध भाव मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

युद्ध की क्रिया स्वयं जड़ के कारण होती है; किन्तु उस समय जो जीव उस क्रिया में संलग्न हो वह कहे कि मेरे परिणाम शुद्ध हैं तो वह बात मिथ्या है; क्योंकि उन परिणामों का और जड़ की क्रिया का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। निमित्त से कार्य होता है—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है; किन्तु शरीरादि जड़ में कार्य होता है उस समय अपने परिणाम अशुद्ध हैं उसे न माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। मकानादि की क्रिया होती है वह तो जड़ की है, किन्तु वह होते समय जिस रागी जीव का निमित्त है वह ऐसा कहे कि मुझे वहाँ वीतराग भाव था तो वह बात मिथ्या है। आत्मा जड़ की क्रिया तो तीन काल में नहीं कर सकता; किन्तु पैसादि के संबंध में अपने को अशुभ भाव होते हैं उन्हें जो शुद्ध परिणाम माने वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है।

खाने–पीने तथा पैसा लेने–देने आदि की क्रिया तो तू उद्यमी होकर करता है, अर्थात् उस प्रकार का राग तो तू उद्यमी होकर करता है, उस राग का आरोप जड़की क्रिया में किया है। कोई ऐसा कहे कि हम पच्चीस व्यक्तियों को भोजन का आमन्त्रण दें और जब वे भोजन करने आयें तब कह दें कि भोजन की क्रिया नहीं होना थी इसलिये नहीं हुई; किन्तु पच्चीस व्यक्तियों को आमन्त्रित करने का राग तो स्वयं किया था; इससे उनकी व्यवस्था का राग भी स्वयं करता है; इसलिये ऐसा कहा है कि पर की क्रिया उद्यमी होकर स्वयं करता है। ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है उसका ज्ञान कराते हैं। आहार लेता है और इच्छा न हो ऐसा नहीं हो सकता। केवली भगवान के इच्छा नहीं है इसलिये उनके आहार भी नहीं है। मुनि वस्त्र–पात्रादि रखे और कहे कि हमारी इच्छा नहीं है, हमें मूर्छा नहीं है तो वह झूठा है। भावलिंगी मुनि को ऐसे मूर्छा के परिणाम नहीं हैं इसलिये उनके वस्त्रादिका परिग्रह भी नहीं होता;—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

आत्मा हिंसादि के परिणाम तो स्वयं पुरुषार्थ पूर्वक करता है। वे परिणाम होते हैं इसलिये पर में हिंसादि की क्रिया होती है ऐसा भी नहीं है; तथापि हिंसादिकी क्रिया के समय अपने परिणाम अशुभ होते हैं, उन्हें शुद्ध परिणाम माने तो वह झूठा है–मिथ्यादृष्टि है।–इस प्रकार परिणाम स्वयं करे और माने कि वे परिणाम मुझे होते ही नहीं, तो उसके उन हिंसादि परिणामों को नाश करने का पुरुषार्थ नहीं होता। जब अपने में अशुभ भाव होते हैं उस समय बाह्य में हिंसादि की क्रिया होती है, उसे तो तू गिनता नहीं है और परिणाम

६

शुद्ध हैं ऐसा मानता है, किन्तु ऐसा मानने से तेरे परिणाम कभी सुधरेंगे नहीं, अर्थात् अशुद्ध परिणाम ही रहेंगे।

आत्मज्ञानी सन्त मुनि आहार की क्रिया में दिखाई देते हैं उस समय भी उनके शुभ भाव होते हैं। आहारका विकल्प शुद्धभाव नहीं है।—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसे मानना चाहिये।

अब प्रश्न करते हैं कि—परिणामों को रोकने से बाह्य हिंसादि को कम किया जा सकता है—यह बात तो ठीक है, किन्तु प्रतिज्ञा करने में तो बन्ध होता है, इसलिये प्रतिज्ञारूप व्रत अंगीकार नहीं करना चाहिये।

सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही सच्ची प्रतिज्ञा होती है।

उत्तर:—जिस कार्य को कर लेने की आशा रहे उसकी प्रतिज्ञा नहीं की जाती; तथा उस राग भाव से कार्य किये बिना भी अविरति का बन्ध होता ही रहता है, इसलिये प्रतिज्ञा अवश्य करना योग्य है। रागका जितना भाव है उतना बन्धन है। प्रतिज्ञा करने की बात तो सम्यग्दर्शन होने के बादकी है। सम्यग्दर्शन के बिना यथार्थ प्रतिज्ञा नहीं होती। प्रतिज्ञा लेने का विकल्प ज्ञानी को आये बिना नहीं रहता। ज्ञानी समझता है कि जो विकल्प है सो राग है, तथापि व्रतादि की प्रतिज्ञा का विकल्प आता है। सम्यग्दृष्टि को प्रतिज्ञा में परिणाम की दृढ़ता होती है। यहाँ पर की बात नहीं है, इसलिये बाह्य में ऐसे कार्य नहीं करना चाहिये यह तो निमित्तका कथन है; किन्तु 'ऐसे परिणाम नहीं करना चाहिये',—इस प्रकार ज्ञानी स्वभावदृष्टिपूर्वक परिणामों को दृढ़ करते हैं। और कार्य करने का बन्धन हुए बिना परिणाम कैसे रुकेंगे? प्रयोजन होने पर तद्रूप

परिणाम अवश्य हो जायेंगे अथवा प्रयोजन हुए बिना भी उनकी आशा रहती है; इसलिये प्रतिज्ञा अवश्य करना योग्य है। और यदि आत्मा के भान बिना प्रतिज्ञा ले ले तो वह बाल व्रत है।

प्रश्न:—प्रतिज्ञा लेने के पश्चात् न जाने कैसा उदय आ जाये और प्रतिज्ञा भङ्ग हो जाये तो महा पाप लगेगा, इसलिये प्रारब्धानुसार जो कार्य होता हो वह होने दो, किन्तु प्रतिज्ञा का विकल्प नहीं करना चाहिये।

उत्तर:—प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुये जो उसका निर्वाह करना न जाने उसे प्रतिज्ञा नहीं करना चाहिये। साधुत्व—नग्नता ले ली हो और आत्माका भान न हो, फिर उद्देशिक आहार भी ले ले तो वह बड़ा दोष है। समझे बिना हठ पूर्वक मुनिपना ग्रहण करले और फिर प्रतिज्ञा-भङ्ग करे वह महान पाप है। प्रतिज्ञा न लेना पाप नहीं है, किन्तु लेकर भङ्ग करना महा पाप है। ऐसी प्रतिज्ञा नहीं लेना चाहिये जिसका निर्वाह न हो सके। अपनी शक्ति अनुसार प्रतिज्ञा लेना चाहिये। प्रतिमा—व्रत भी सहज होते हैं। कोई गृहस्थ आहार जल मुनि के लिये ही बनाये और कहे कि—"आहार शुद्धि, मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि," तो वह असत्य है, उसमें धर्म तो नहीं है किन्तु यथार्थ शुभभाव भी नहीं है।

पुनश्च, प्रतिज्ञा के बिना अविरत सम्बन्धी बन्ध नहीं मिटता इसलिये प्रतिज्ञा लेना योग्य है। कोई कहे कि समन्तभद्राचार्य ने मुनित्व ग्रहण करनेके पश्चात् प्रतिज्ञा भंग की थी, तो वहाँ स्वच्छन्द की बात नहीं है। वहाँ तो रोग हुआ था; और वैसे रोग में मुनिपना बनाये रखने का पुरुषार्थ नहीं था, और गुरुकी आज्ञा थी इसलिये

वैसा किया है। समय आने पर पुनः मुनिपना ग्रहण कर लिया था। उन्होंने हठ पूर्वक मुनिपना अंगीकार नहीं किया था। जब उन्हें ऐसा लगा कि वर्तमानमें निर्वाह होना असम्भव है तब मुनिपना छोड़ा; किन्तु पहले से ही भावना नहीं थी कि समय आने पर छोड़ दें। इसलिये प्रतिज्ञा यथाशक्ति लेना ही योग्य है।

× × ×

[वीर सं० २४७९ फाल्गुन कृष्णा १२ बुधवार, ता० ११—२—५३]

अज्ञानी कहता है कि तीव्र कर्मों का उदय हो और गिर जायें तो ?—तो वह बात ठीक नहीं है। उदयका विचार करे तो कुछ भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता। कर्म कर्मोंके कारण आते हैं, उन पर दृष्टि रखने की आवश्यकता नहीं है। कर्मों का उदय भिन्न तत्त्व होने से आत्मा को बाधक नहीं हो सकता। स्वयं स्वभाव का पुरुषार्थ करे तो कर्म अपने आप टल जाते हैं। जिसप्रकार—अपने में जितना भोजन पचाने की शक्ति हो उतना भोजन लेना चाहिये; किन्तु कदाचित् किसी को अजीर्ण हुआ हो और वह भय पूर्वक भोजन करना छोड़ ही दे तो उसकी मृत्यु हो जायगी। उसी प्रकार आत्मा के भान सहित सहन शीलता पूर्वक प्रतिज्ञा लेना चाहिये; किन्तु कदाचित् कोई प्रतिज्ञा से भ्रष्ट हुआ हो और उस भय से प्रतिज्ञा न ले तो असंयम ही होगा। इसलिये हो सके उतनी प्रतिज्ञा लेना चाहिये।

किसी के जल्दी प्रतिज्ञा आ जाती है, किसी के बहुत समय पश्चात् आती है। भरत चक्रवर्ती के चारित्र बहुत समय पश्चात् आया था, तथापि चारित्रकी भावना नहीं छूटती थी।

संसार में पैसे का आना–जाना आदि कार्य तो कर्म के निमित्त अनुसार ही होते हैं, तथापि वहाँ कमाने आदि का अशुभ राग तू पुरुषार्थ पूर्वक करता है। कर्मों से अशुभ राग नहीं होता, किन्तु विपरीत पुरुषार्थ से अशुभ राग होता है, तो सच्चे पुरुषार्थ से आत्मा के भान द्वारा राग छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये। यहाँ निश्चयाभासी से कहते हैं कि यदि वहाँ (भोजनादि में) उद्यम करता है तो त्याग करने का उद्यम करना भी योग्य है। जब तेरी दशा प्रतिमावत् हो जायेगी तब हम प्रारब्ध मानेंगे, तेरा कर्तव्य नहीं समझेंगे, किन्तु तेरी दशा प्रतिमावत् निर्विकल्प तो हुई नहीं है, तब फिर स्वच्छन्दी होने की युक्ति किसलिये रचता है? हो सके उतनी प्रतिज्ञा करके व्रत धारण करना योग्य है।

शुभभाव से कर्म के स्थिति–अनुभाग घट जाते हैं।

पुनश्च, भगवानकी पूजा आदि पुण्य आस्रव हैं, धर्म नहीं हैं; किन्तु उससे वह शुभभाव छोड़कर अशुभ भाव करना योग्य नहीं है। यात्रादि में कषाय की मन्दता का भाव वह पुण्य है, धर्म नहीं है; इसलिये वह हेय है—ऐसा अज्ञानी निश्चयाभासी मानता है। शुभभाव धर्म नहीं है इसलिये वह हेय है यह बात सत्य है; किन्तु उस शुभभाव को छोड़कर वीतराग हो जाये तो ठीक, और अशुभ में वर्ते तो तूने अपना ही अहित किया है। आत्मा का भान होने के पश्चात् भी स्वरूप में लीन न हो सके तो शुभभाव आता है, किन्तु शुभ छोड़कर अशुभ में प्रवर्तन करना ठीक नहीं है। अज्ञानी स्वभाव का पुरुषार्थ नहीं मानता और रागको टालने में भी नहीं मानता। उससे कहते हैं कि—शुभभाव परिणामों से स्वर्गादि की प्राप्ति होती

है, तत्त्व जिज्ञासा, अच्छी वासना और अच्छे निमित्तों से कर्म के स्थिति-अनुभाग कम हो जायें तो सम्यक्त्वादि की प्राप्ति भी हो जाती है। तत्त्वतः शुभ परिणामों से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु स्वभाव का पुरुषार्थ करने से होती है। मैं त्रिकाल शुद्ध चिदानन्द हूँ—ऐसी जो दृष्टि है वह सम्यग्दर्शन का कारण है; किन्तु सम्यग्दर्शन में देवदर्शन-पूजन-तत्त्वश्रवणादि शुभभाव निमित्त हैं, इसलिये उनसे होता है ऐसा व्यवहार से कहा है।

शुभभाव के निमित्त से कर्मों की स्थिति-रस कम हो जाते हैं। जड़ कर्मों की स्थिति-रस घटने का वह क्रम था, उस समय की योग्यता थी। वह पर्याय शुभभाव के आधीन नहीं है, किन्तु शुभभाव के साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा होता है वह बतलाया है। तथापि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के आधीन नहीं है, प्रत्येक द्रव्य असहाय है। अशुभ उपयोगसे नरक-निगोदादि होते हैं और बुरी वासना से कर्मों की स्थिति-अनुभाग बढ़ जायें तो सम्यक्त्वादि भी महा दुर्लभ हो जाते हैं। शुभोपयोग से कषाय की मन्दता होती है और अशुभोपयोग से तीव्रता; इसलिये शुभ को छोड़कर अशुभ-भाव करना उचित नहीं है। यहाँ उपदेश के वाक्य हैं। अज्ञानी शुभ-अशुभ के विवेक को नहीं समझता; उसे समझाते हैं कि—जिस प्रकार कड़वी वस्तु न खाना और विष खा लेना अज्ञान है, उसीप्रकार शुभ के कारण छोड़कर तीव्र अशुभ के कारणों का सेवन करना भी अज्ञान है।

प्रश्न—शास्त्र में शुभ-अशुभ परिणामों को समान कहा है—आस्रव कहा है, दोनों बन्ध के कारण हैं; इसलिये हमें उनमें विशेष जानना योग्य नहीं है।

उत्तर:—जो जीव शुभ परिणामों को–दया, दान, पूजा, व्रतादि को मोक्ष के कारण मानकर उपादेय मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। वह ऐसा मानता है कि शुभ से क्रमशः शुद्धता होगी, पुण्य–पाप रहित शुद्ध स्वभाव को वह पहिचानता नहीं है। साधक दशा में शुभभाव आता है, किन्तु वह धर्म का कारण नहीं है। शुभभाव मन्द मलिन परिणाम है उसे जो मोक्षका कारण मानता है वह वीतराग देव को और उनके शास्त्रोंको नहीं मानता; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। पुण्य–पाप रहित शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से शुद्ध उपयोग प्रगट होता है उसकी उसे खबर नहीं है। आत्मा में शुभ परिणाम हो अथवा अशुभ—दोनों अशुद्ध हैं, और आत्मा के आश्रय से जो परिणाम होते हैं वे शुद्ध हैं। शुभ–अशुभ दोनों आस्रव हैं, बन्ध हैं, मोक्ष के कारण नहीं हैं; इसलिये दोनों को समान बतलाते हैं।

शुभाशुभ दोनों आस्रव हैं, किन्तु अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवर्तन करना योग्य है।

शुभ परिणाम में कषाय मन्द है और अशुभ परिणाम में तीव्र है; इसलिये जिसे आत्मा की दृष्टि हुई है उसके लिये व्यवहार की अपेक्षा से अशुभ की अपेक्षा शुभको अच्छा कहा है। चौथे, पांचवें, छट्ठे गुणस्थान में ज्ञानी को शुभ परिणाम होते हैं, किन्तु ज्ञानी उन्हें बन्ध का कारण मानता है। मुनिको २८ मूलगुण के पालन का विकल्प आता है वह पुण्यास्रव है, वह मोक्षका कारण नहीं है; त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव ही मोक्षका कारण है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र-रूपी मोक्षमार्ग भी व्यवहारसे मोक्षका कारण कहा जाता है; क्योंकि

वह अपूर्ण पर्याय है। अपूर्ण पर्याय मोक्षका सच्चा कारण नहीं है। वास्तव में तो त्रिकाली द्रव्य स्वभाव के आश्रय से ही मोक्ष प्रगट होता है।

रोग तो कम या अधिक बुरा ही है। जिस प्रकार बुखार कम आये तथापि बुरा है। ९९ डिग्री बुखार साल–दो साल तक रहे तो तपेदिक हो जाता है। किन्तु जिस प्रकार अधिक रोगकी अपेक्षा कम रोग को अच्छा कहते हैं, उसी प्रकार कषाय मन्दता के परिणामों की रुचि रखे तो आत्मा की पर्याय में मिथ्यात्वरूपी टी० बी० लागू हो जाती है। शुभाशुभ राग दोनों को हेय समझने पर भी स्वरूपमें लीनता न हो, तब अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवृत्ति करना योग्य है किन्तु शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है।

प्रश्नः—कामादिक और क्षुधादिक को शांत करने में अशुभ–परिणाम हुए बिना नहीं रहते—किये बिना नहीं रहा जाता; किन्तु शुभ प्रवृत्ति तो इच्छा करके करनी पड़ती है। और ज्ञानी को इच्छा तो नहीं करना है, इसलिये शुभ का उद्यम नहीं करना चाहिये।

उत्तरः—सम्यग्ज्ञानी को अपने शुद्धात्मा की दृष्टि हुई है। ज्ञानानन्द के आश्रय से यथार्थतया राग कम होता है। मिथ्यादृष्टि जीव को भी कभी–कभी शुक्ल लेश्या के परिणाम आते हैं वह अपूर्व नहीं है; किन्तु आत्मा के भान पूर्वक शुद्ध परिणाम होना वह अपूर्व है। जब तक शुद्धता में लीन न हों तबतक ज्ञानी के भी शुभ परिणाम आते हैं उनमें उपयोग लगने से और उनके निमित्तसे विरागता बढ़ने पर कामादिक हीन होते हैं।

अशुभ परिणामों में संक्लेशता अधिक है, और शुभ परिणामों से क्षुधादिक में भी अल्प संक्लेशता होती है। जो अज्ञानी जीव एकान्त मानता है उसे उपदेश देते हैं कि शुभ परिणामों में रागकी मन्दता होती है और स्वभाव की दृष्टि हो तो जितना अशुभ टले उतनी अशुद्धता कम होती जाती है, इसलिये शुभोपयोगका अभ्यास करना योग्य है। पुनश्च, उद्यम करने पर भी कामादिक और क्षुधादिक रहें तो उनके हेतु ऐसा करना चाहिये जिसमें कम पाप लगे; किन्तु शुभोपयोग को छोड़कर निःशंक पापरूप प्रवर्तन करना योग्य नहीं है। और तू कहता है कि "ज्ञानीको इच्छा नहीं है और शुभोपयोग इच्छा करने से होता है;" किन्तु वह तो ऐसा है कि—जैसे कोई पुरुष किंचित् भी धन नहीं देना चाहता हो, किन्तु जब बहुत–सा धन जाने का समय आ जाता है तब इच्छा पूर्वक अल्प धन देने का उपाय करता है। यह तो दृष्टान्त है। उसी प्रकार धर्मी जीव को किंचित् भी कषाय की भावना नहीं है। आस्रवकी भावना करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है; किन्तु जब अधिक कषायरूप अशुभभाव होने का समय आ जाता है, तब वहाँ इच्छा करके भी वह अल्प कषायरूप शुभभाव करने का उद्यम करता है। उसमें जो व्यक्त रागादि होते हैं वह असद्‌भूत उपचरित व्यवहारनयका विषय है, और अव्यक्त रागादि असद्‌भूत अनुपचरित व्यवहारनयका विषय है। ज्ञानी उन्हें जानता है। यहाँ कहते हैं कि अशुभ परिणामों में तीव्र विपरीत पुरुषार्थ है और शुभ परिणामों में मन्द विपरीत पुरुषार्थ है; तथा शुद्ध परिणामों में सीधा–सच्चा पुरुषार्थ है। अज्ञानी शुभ परिणामों को धर्म मानता है; कर्मों से विकार का होना मानता है अथवा शुभ परिणाम आते ही नहीं, ऐसा मानता है—वह सब भूल है।

२

मात्र निश्चयावलम्बी जीव की प्रवृत्ति

[इन मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रवचनों में, (पहले जब अनेक यात्री सोनगढ़ आते थे तब) पृष्ठ २१२ से २१८ तक का भाग शेष रखकर आगे वचनिका हुई थी। यह प्रवचन उसी शेष भाग के हैं। विषयकी सुसम्बद्धता के लिये मूल ग्रंथ के क्रमानुसार यह प्रवचन यहाँ रखे गये हैं।]

[द्वितीय वैशाख कृष्णा १ गुरुवार ता० ३०–४–५३]

जिसे आत्माकी यथार्थ प्रतीति और ज्ञान नहीं है किन्तु अपने को ज्ञानी मानकर स्वच्छन्द पूर्वक प्रवर्तन करता है ऐसे जीव की प्रवृत्तिका यह वर्णन है। एक शुद्ध आत्मा को जानने से ज्ञानीपना होता है, अन्य किसी की आवश्यकता नहीं,—ऐसा जानकर वह जीव कभी एकान्त में बैठ जाता है और ध्यान मुद्रा रखकर "मैं सर्व कर्म उपाधि रहित सिद्ध समान आत्मा हूँ"—इत्यादि विचारों द्वारा सन्तुष्ट होता है; किन्तु वे विशेषण किस प्रकार सम्भवित–असम्भवित हैं उसका विचार नहीं है; अथवा अचल, अखण्डित और अनुपमादि विशेषणों द्वारा आत्माको ध्याता है, किन्तु वे विशेषण तो अन्य द्रव्यों में भी सम्भवित हैं। और वे विशेषण किस अपेक्षा से हैं उसका भी विचार नहीं है; किसी भी समय—सोते, बैठते, उठते—जिस–तिस अवस्था में ऐसा विचार रखकर अपने को ज्ञानी मानता है। ज्ञानीको आस्रव-बन्ध नहीं है—ऐसा आगम में कहा है, इसलिये जब कभी विषय-कषाय रूप होता है; वहाँ बन्ध होने का भय नहीं है, मात्र स्वच्छन्दी

होकर प्रवृत्ति करता है। पर्याय का विवेक नहीं करता, सात तत्त्वों को जानता नहीं है और "मैं ज्ञानी हूँ"—ऐसा मानकर स्वच्छन्द-पूर्वक वर्तता है, वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। उसे निश्चय का भान नहीं है, मात्र उसका नाम लेकर अपने स्वच्छन्द का पोषण करता है।

पर्यायमें सिद्धदशा प्रगट नहीं हुई है, तथापि "मैं कर्मरहित सिद्ध समान हूँ"—ऐसा मानकर सन्तुष्ट होता है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा को सिद्ध समान कहा है, किन्तु ऐसी दृष्टि तो प्रगट नहीं हुई है और पर्यायसे अपने को सिद्ध मानता है; पर्यायमें जो रागादि विकार होते हैं उन्हें नहीं जानता। और अचल, अखण्ड, अनुपम—ऐसे विशेषणों से आत्माका ध्यान करता है; किन्तु ऐसी अचलता, अखण्डतादि तो जड़में भी सम्भव है। जीवके स्वभावकी तो खबर नहीं है तथा पर्यायका भी विवेक नहीं करता और कहता है कि ज्ञानीको आस्रव बन्ध नहीं हैं ऐसा आगममें कहा है। आगमका नाम लेता है, किन्तु स्वयंको तो वैसी दृष्टि प्रगट नहीं हुई है, तथापि "मैं भी ज्ञानी हूँ"—ऐसे अभिमान-पूर्वक स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है। सम्यग्दृष्टिके नियम से ज्ञान-वैराग्य होते हैं, वहाँ उसे दृष्टि-अपेक्षासे अबन्ध कहा है, किन्तु पर्यायमें जितना राग है उतना तो बन्धन है।

अविरत सम्यग्दृष्टि अपने को द्रव्यदृष्टिसे अबन्ध जानता है, किन्तु पर्यायसे तो अपने को तृणतुल्य मानता है कि—अहो! मेरी पर्यायमें अभी पामरता है। स्वभावकी प्रभुता होने पर भी पर्यायमें अभी बहुत अल्पता-पामरता है। अहो, कहाँ केवलीकी दशा, कहाँ सन्त-मुनियोंका पुरुषार्थ! और कहाँ मेरी पामरता!—इसप्रकार

सम्यग्दृष्टिको पर्यायका विवेक होता है। इस निश्चयाभासी अज्ञानीने तो स्वभावकी दृष्टि करके पर्यायमें अनन्तानुबन्धीका अभाव नहीं किया है; ज्ञान–वैराग्यका परिणमन उसके नहीं हुआ है, और अभिमान पूर्वक स्वच्छन्दसे क्रोध–मान–मायादिरूप प्रवर्तन करता है। श्री समयसारके कलशमें कहा है कि:—

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा–
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥

अर्थः—अपने आप ही "मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी भी बन्ध नहीं है"—इसप्रकार ऊँचा फुलाया है मुँह जिसने, ऐसे रागी वैराग्य शक्ति रहित भी आचरण करते हैं तो करें; तथा कोई पंच समिति की सावधानीका अवलम्बन करते हैं तो करें; किन्तु ज्ञान शक्तिके बिना अभी भी वे पापी हैं। वे दोनों आत्मा–अनात्माके ज्ञानरहित-पने से सम्यक्त्व रहित ही हैं।

जिसे चैतन्यकी रुचि नहीं है, विषयादिसे भिन्नताका भान भी नहीं है, विषय–कषायोंमें मिठासपूर्वक वर्तता है और वैराग्यशक्तिसे रहित है; तथा आत्माको पर्यायसे भी शुद्ध मानकर अभिमानसे स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है वह पापी ही है; और कोई जीव व्रत–समिति आदि करें तथापि निश्चयसे पापी ही हैं। चैतन्यकी दृष्टि नहीं है, अनन्तानुबंधी कषायका अभाव होकर वैराग्यका परिणमन नहीं हुआ

है और अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर वर्तते हैं वे तो पापी ही हैं। कहा है कि:—

ज्ञानकला जिनके घट जागी,
ते जगमाँहि सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषयसुखमाँही,
यह विपरीत संभवै नाहीं॥

जिसके अन्तरमें भेदज्ञानरूपी कला जागृत हुई है, चैतन्यके आनन्दका वेदन हुआ है ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा सहज वैरागी हैं; वे ज्ञानी विषय–कषायोंमें मग्न हों ऐसी विपरीतता संभव नहीं है। जिसे विषयोंमें सुख बुद्धि है वह जीव ज्ञानी है ही नहीं। अन्तरंग चैतन्यसुखके अतिरिक्त सर्व विषयसुखोंके प्रति ज्ञानीको उदासीनता होती है। अभी अन्तरमें आत्माका भान न हो, तत्त्वका कोई विवेक न हो, वैराग्य न हो और ध्यान में बैठकर अपने को ज्ञानी मानता है वह तो स्वच्छन्दका सेवन करता है। ज्ञान–वैराग्य–शक्तिके बिना वह पापी ही है; आत्मा और अनात्माका भेदज्ञान ही उसे नहीं है। यदि स्व-परका भेदज्ञान हो तो परद्रव्योंके प्रति वैराग्य हुए बिना न रहे।

प्रश्नः—मोहके उदयसे रागादि होते हैं; पूर्वकालमें जो भरत चक्रवर्ती आदि ज्ञानी हो गये हैं उनको भी विषय—कषायका राग तो था?

उत्तरः—ज्ञानी को अभी चारित्र में कमजोरी की अस्थिरता है; इसलिये रागादिक होते हैं वह सत्य है; परन्तु वहाँ राग करने का अभिप्राय नहीं है, रुचि नहीं है, बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता। बुद्धि-

पूर्वक अर्थात् रुचिपूर्वक—अभिप्राय पूर्वक रागादिक धर्मी को नहीं होते; किन्तु अभी जिन्हें रागादिक होने का कुछ भी खेद नहीं है—भय नहीं है और रागादिक में स्वच्छन्द पूर्वक वर्तते हैं उनकी तो श्रद्धा भी सच्ची नहीं है। रागका होना बुरा है—दोष है। अरे! पर्यायमें अभी पामरता है इसलिये यह दोष हो जाते हैं,—इसप्रकार ज्ञानीको पापका भय होता है—पाप भीरुता होती है। ऐसे विवेकके बिना तो सम्यग्दृष्टिपना होता ही नहीं। जिसे परभवका कोई भय नहीं है वह तो मिथ्यादृष्टि पापी ही है। धर्मी जीवको रागादिक भाव करने का अभिप्राय तो नहीं है, और अस्थिरताके रागको टालने के लिये भी वारम्बार चैतन्यकी ओर का उद्यम करता रहता है। भरत चक्रवर्ती आदि को तो अन्तरमें रागरहित दृष्टि थी, और अनन्तानुबन्धीका अभाव था। उनका उदाहरण लेकर मिथ्यादृष्टि यदि स्वच्छन्द पूर्वक प्रवृत्ति करे तो उसे तीव्र आस्रव—बन्ध होगा। मैं ज्ञानी हूँ, मुझे कोई दोष नहीं लगता—ऐसा मानकर जो स्वच्छन्दी और मन्द उद्यमी होकर वर्तता है वह तो संसार में डूबता है। और परद्रव्यसे जीवको दोष नहीं लगता ऐसा कहा है, किन्तु जो ऐसा समझे वह ज्ञानी निरर्गल स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं करता। परद्रव्यसे दोष नहीं लगता—ऐसा समझनेवालेको परद्रव्यके प्रति वैराग्य होता है। परकी रुचि करे, परके कार्यका अभिमान करे, स्वच्छन्द पूर्वक वर्ते तो वहाँ अपने अपराधसे बन्धन होता है। परद्रव्यके कर्तृत्वका अभिप्राय करे और कहे कि "मैं ज्ञाता हूँ"—किन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता; क्योंकि—

करै करम सोई करतारा।
जो जानै सो जाननहारा॥

जो करता नहिं जानै सोई।
जानै सो करता नहिं होई॥

कर्तृत्वको माने वह ज्ञाता नहीं रहता; और जो ज्ञाता है वह कर्तृत्वको नहीं मानता; इसलिये पर्यायमें रागद्वेषादि विकारभाव होते हैं उन्हें बुरा जानना चाहिये, और उस विकारको छोड़ने का उद्यम करना चाहिये। पहले अशुभ–पापभाव छूट जाते हैं और शुभ होता है, फिर शुद्धोपयोग होने पर व्रतादिका शुभराग भी छूट जाता है; इसलिये पर्यायका विवेक रखकर शुद्धोपयोगका उद्यम करना चाहिये।

पुनश्च, कोई जीव व्यापारादिक तथा स्त्री सेवनादि कार्यों को तो कम करता है, किन्तु शुभको हेय जानकर शास्त्राभ्यासादि कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता और वीतराग भावरूप शुद्धोपयोगको भी प्राप्त नहीं हुआ है, वह जीव धर्म–अर्थ–काम–मोक्षरूप पुरुषार्थ से रहित होकर आलसी–निरुद्यमी होता है। उसकी निन्दा श्री पंचास्तिकाय की व्याख्यामें की है। वहाँ दृष्टान्त दिया है कि—"जिसप्रकार बहुत-सी खीर–शक्कर खाकर पुरुष आलसी होता है, तथा जिस-प्रकार वृक्ष निरुद्यमी है, उसीप्रकार वे जीव आलसी–निरुद्यमी हुए हैं।" अब उनसे पूछते हैं कि—तुमने बाह्यमें तो शुभ–अशुभ कार्यों को कम किया, किन्तु उपयोग तो आलम्बन बिना नहीं रहता, तो तुम्हारा उपयोग कहाँ रहता है? वह कहो। यदि कहें कि—"आत्माका चिंतवन करते हैं;" तो शास्त्रादि द्वारा अनेक प्रकारके आत्माके विचारों को तो तुमने विकल्प कहा है, और किसी विशे-

षणसे आत्माको जानने में अधिक काल नहीं लगता; क्योंकि बारम्बार एकरूप चिंतवनमें छद्मस्थका उपयोग नहीं लगता। श्री गणधरादिक का उपयोग भी इसप्रकार नहीं रह सकता; इसलिये वे भी शास्त्रादि कार्यों में प्रवृत्त होते हैं; तो तुम्हारा उपयोग गणधरादिसे भी शुद्ध हुआ कैसे मानें? इसलिये तुम्हारा कथन प्रमाण नहीं है। जिसप्रकार कोई व्यापारादिक में निरुद्यमी होकर व्यर्थ ही ज्यों–त्यों काल गँवाता है, उसीप्रकार तुम भी धर्ममें निरुद्यमी होकर, प्रमादमें व्यर्थ काल व्यतीत कर रहे हो।

जो चैतन्यका उद्यम करे उसके विषय–कषाय सहज सहज ही मन्द होते हैं। चैतन्यका उद्यम करता नहीं है, स्वाध्यायादि करता नहीं है और प्रमादी होकर वृक्षकी भाँति पड़ा रहता है; तेरा उपयोग तो प्रमादी होकर अशुभमें वर्तता है और उसे तू शुद्धोपयोग बतलाता है; किन्तु गणधर देव जैसों के भी शुद्धोपयोग अधिक काल तक नहीं रहता। उन्हें भी शास्त्राभ्यासादिका शुभभाव आता है, तो तू शुद्धोपयोगमें अधिक काल तक कैसे रह सकता है? शुभभाव आये बिना नहीं रहता। राग कालमें स्वाध्यायादि शुभका उद्यम न करे तो अशुभ–पापभाव होगा; इसलिये परिणामका विवेक रखना चाहिये। निश्चयाभासी अज्ञानी जीव परिणामका विवेक रखे बिना निरुद्यमी होता है और ज्यों–त्यों कर प्रमादमें ही काल गँवाता है। अन्तरमें आनन्दकी वृद्धि हो—शांति बहुत बढ़ जाये, उसका नाम शुद्धोपयोग है; किन्तु निरुद्यमी होकर ज्यों–त्यों बैठ रहने का नाम कहीं शुद्धोपयोग नहीं है। निश्चयाभासी घड़ी भरमें चिंतवन जैसा करता है और पुनः विषयोंमें प्रवृत्ति करता है; कभी भोजनादि

कार्योंमें वर्तता है; किन्तु शास्त्राभ्यास, पूजा—भक्ति आदि कार्यों को राग कहकर छोड़ देता है; शुभमें प्रवृत्ति न करके अशुभमें वर्तता है और शुद्धोपयोगकी तो उसे खबर ही नहीं है। जिसप्रकार कोई स्वप्नमें अपने को राजा मानता है, उसीप्रकार वह निश्चयाभासी जीव भी स्वच्छन्द पूर्वक अपनी कल्पनाके भ्रमसे ही अपने को शुद्धोपयोगी—ज्ञानी मानकर वर्तता है। मात्र शून्यकी भाँति प्रमादी होनेको शुद्धोपयोगी मानकर, जिसप्रकार कोई अल्प क्लेश होने से आलसी बनकर पड़े रहने में सुख मानता है, उसीप्रकार तू भी आनन्द मानता है; अथवा जिसप्रकार कोई स्वप्नमें अपने को राजा मानकर सुखी होता है उसीप्रकार तू अपने को भ्रमसे सिद्ध समान शुद्ध मानकर स्वयं ही आनन्दित होता है; अथवा जिसप्रकार किसी स्थान पर रति मानकर कोई सुखी होता है, तथा किसी विचारमें रति मानकर सुखी होता है; उसे तू अनुभव जनित आनन्द कहता है। और जिसप्रकार कोई किसी स्थान पर अरति मानकर उदास होता है, उसीप्रकार तू व्यापारादिक और पुत्रादिकको खेद का कारण जानकर उनसे उदास रहता है। उसे तू वैराग्य मानता है, किन्तु ऐसे ज्ञान—वैराग्य तो कषायगर्भित हैं।

परका दोष मानकर उससे उदासीनता करता है वह तो द्वेष है। ज्ञानी को तो अन्तरमें चैतन्यानन्दका अनुभव हुआ है, वहाँ निराकुलता हुई है; इसलिये परके प्रति उन्हें सहज ही वैराग्य हो गया है। अज्ञानी को सच्चा वैराग्य नहीं है। ज्ञानी को तो अन्तर के सच्चे आनन्द का अनुभव हुआ है, इसलिये अन्तर में वीतरागरूप उदासीन है। स्वप्नमें भी कहीं पर में सुख बुद्धि नहीं रही है। ज्ञानी को अंतरंग शांतिके अनुभव पूर्वक यथार्थ ज्ञान-वैराग्य होते हैं, उनके प्रति-

क्षण राग कम होता जाता है। अज्ञानी व्यापारादि छोड़कर मन चाहे भोजनादि में प्रवृत्ति करता है और उसमें अपनेको सुखी मानता है, कषाय रहित मानता है; किन्तु तदनुसार विषय-भोग में आनन्द मानना वह तो आर्त-रौद्रध्यान है—पाप है। चैतन्य के अनुभव पूर्वक ऐसा वीतराग भाव प्रगट हो कि-अनुकूल सामग्री में राग न हो तथा प्रतिकूल सामग्री में द्वेष न हो, तभी कषाय रहितता कहलाती है।

× × ×

[द्वितीय वैशाख कृष्णा २ शुक्रवार ता० १-५-५३]

निश्चयनयाभासी अज्ञानी जीवकी बात चल रही है। अपनी पर्याय में रागादि होते हैं। उन्हें जानता नहीं है और अपने को एकान्त शुद्ध मानकर स्वच्छन्दी होकर विषय-कषाय में वर्तता है।

सुख-दुःख की बाह्य सामग्री में राग-द्वेष न हो उसका नाम वीतरागता है; किन्तु अन्तर में द्वेषभावसे त्याग करे वह कहीं वीतरागता नहीं है। प्रतिकूल संयोग के समय अन्तर में क्लेश परिणाम न हों, और सुख-सामग्री प्राप्त होने पर आनन्द न माने;—ऐसे चैतन्य में अन्तर्लीनताका नाम वीतरागभाव है। मैं तो ज्ञानानन्द हूँ—ऐसी दृष्टि हुई, फिर उसमें एकाग्रता होने पर ऐसा वीतरागभाव परिणमित हो गया कि अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री में राग-द्वेष उत्पन्न ही न हो। उसके बदले पर्याय में राग-द्वेष-अल्पज्ञता है उसे न माने और शुद्धता ही मानकर भ्रमसे वर्ते तो वह मिथ्यादृष्टि है।

वेदान्ती और सांख्यमती जीवको एकान्त शुद्ध मानते हैं, उसी प्रकार निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि भी अपनी पर्याय को जानता नहीं है और आत्माको एकान्त शुद्ध मानता है, इसलिये उसकी भी वेदान्त

जैसी ही श्रद्धा हुई। वेदान्त तो अशुद्धता मानते ही नहीं। सांख्य-मती अशुद्धता को मानते हैं किन्तु वह कर्म से ही होना मानंते हैं; उसीप्रकार निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि भी अपने को एकान्त शुद्ध मान कर अशुद्धताको नहीं मानते, अथवा अशुद्धता कर्मोंकी ही है—ऐसा मानते हैं। इसलिये उन्हें वेदान्त और सांख्य का उपदेश इष्ट लगता है। देखो, निश्चय का यथार्थ भान हो और उसका आश्रय करे तो वह मोक्षमार्ग है; किन्तु जो निश्चय को जानते ही नहीं, उसका आश्रय भी नहीं करते और मात्र निश्चय का नाम लेकर भ्रम से वर्तते हैं;—ऐसे जीवों की यह बात है। अनन्त आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, प्रत्येक आत्मा में अनन्त गुण हैं, उनकी समय-समय की स्वतंत्र पर्याय हैं और उनमें शुद्धता तथा विकार भी उनके अपने कारण से है। जीव की पर्याय चौदहवें गुणस्थान तक अशुद्धता है वह अपने कारण है, उसे जो न माने और पर्याय में शुद्ध ही मानले वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। धर्मी तो द्रव्यका आश्रय करके पर्याय का भी विवेक करता है।

पुनश्च, उन जीवों को ऐसा श्रद्धान है कि—मात्र शुद्ध आत्मा के चिंतवन से संवर-निर्जरा प्रगट होती है, और वहाँ मुक्तात्मा के सुखका अंश प्रगट होता है; तथा जीव के गुणस्थानादि अशुद्ध भावों का और अपने अतिरिक्त अन्य जीव-पुद्‌गलादिका चिंतवन करने से आस्रव बन्ध होते हैं; इसलिये वे अन्य विचारोंसे पराङ्मुख रहते हैं। अब, वह भी सत्यश्रद्धान नहीं है; क्योंकि शुद्ध स्वद्रव्य का चिंतवन करो या न करो अथवा अन्य चिन्तवन करो; किन्तु यदि वीतरागता सहित भाव हो तो वहाँ संवर-निर्जरा ही है; और जहाँ रागादिरूप भाव हों वहाँ आस्रव-बन्ध हैं। यदि पर द्रव्य को जानने से ही

आस्रव–बन्ध हों, तो केवली भगवान् समस्त पर द्रव्यों को जानते हैं; इसलिये उन्हें भी आस्रव–बन्ध होंगे।

ज्ञान स्वभाव स्व–पर प्रकाशक है; वह परको जाने वह कहीं आस्रव–बन्ध का कारण नहीं है। तथापि अज्ञानी—"परका विचार करेंगे तो आस्रव—बन्ध होगा"—ऐसा मानकर पर के विचारों से दूर रहना चाहते हैं; वह उनकी मिथ्या मान्यता है। हाँ, चैतन्य के ध्यानमें एकाग्र हो गया हो तो पर द्रव्य का चिंतवन छूट जाता है; किन्तु अज्ञानी तो ऐसा मानता है कि ज्ञानका उपयोग ही बन्धका कारण है। जितना अकषाय वीतरागभाव हुआ उतने संवर–निर्जरा है; और जहाँ रागादि भाव है वहाँ आस्रव–बन्ध हैं। यदि परका ज्ञान बन्धका कारण हो तो केवली भगवान् तो समस्त पदार्थों को जानते हैं, तथापि उन्हें किंचित् बन्ध नहीं होता। उनके राग–द्वेष नहीं है इसलिये बन्धन नहीं है। उसी प्रकार सर्व जीवों को ज्ञान बन्ध का कारण नहीं है।

प्रश्नः—छद्मस्थ को तो पर द्रव्य–चिंतवन होने से आस्रव–बंध होते हैं।

उत्तरः—ऐसा भी नहीं है; क्योंकि शुक्लध्यान में मुनिजनों को भी छह द्रव्यों के द्रव्य–गुण–पर्याय का चिंतवन होता है—ऐसा निरूपण किया है। अवधि, मनःपर्यय ज्ञानमें भी परद्रव्य को जानने की विशेषता होती है। और चौथे गुणस्थान में कोई अपने स्वरूपका चिंतवन करता है उसे आस्रव—बन्ध अधिक हैं, तथा गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है; जबकि पाँचवें–छट्ठे गुणस्थान में आहार–विहारादि क्रिया होने पर भी अथवा परद्रव्य–चिंतवन से भी आस्रव–बन्ध कम होता है, तथा गुणश्रेणी निर्जरा होती ही रहती है। इसलिये स्वद्रव्य–पर-

द्रव्य के चिंतवन से निर्जरा–बन्ध नहीं है, किन्तु रागादिक घटने से निर्जरा और रागादिक होने से बन्ध है। तुझे रागादि के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं है इसलिये अन्यथा मानता है।

शुक्लध्यान में ध्येयरूप तो एक आत्मद्रव्य ही है; किन्तु वहाँ द्रव्य–गुण–पर्याय में उपयोगका संक्रमण कहा है; तथापि उन्हें जानने के कारण राग–द्वेष या बन्धन नहीं है। अवधिज्ञान में तो असंख्य चौवीसी ज्ञात होती हैं और जातिस्मरण ज्ञान में अनेक भव दिखाई देते हैं। अहो ! पूर्वभव में भगवान निकट थे और उन्होंने ऐसा कहा था—इसप्रकार सब ज्ञात होता है; किन्तु वह ज्ञातृत्व कहीं बन्ध का कारण नहीं है। स्वरूप की दृष्टि और वीतराग भाव ही संवर-निर्जरा का कारण है, तथा मिथ्यात्व और राग–द्वेष रूप भाव ही बन्ध का कारण है।

देखो, चौथे गुणस्थान वाला निर्विकल्प उपयोग में हो और पाँचवें–छट्ठे गुणस्थान वाला आहारादि शुभ–उपयोग में वर्तता हो, तथापि वहाँ चौथे गुणस्थान की अपेक्षा आस्रव—बन्ध कम है और संवर–निर्जरा अधिक है; क्योंकि उसके अकषाय परिणति विशेष है। चौथे गुणस्थान में अमुक अंश में तो गुणश्रेणी निर्जरा है, किन्तु पाँचवें–छट्ठे गुणस्थान की अपेक्षा से उसके विशेष गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है। पाँचवें गुणस्थानवाला जीव तिर्यंच (पशु) हो और हरियाली खाता हो, तथा तीर्थंकर का जीव चौथे गुणस्थान में हो, तो वहाँ तिर्यंच के पाँचवें गुणस्थानवाले जीव को विशेष अकषाय भाव है और संवर–निर्जरा भी विशेष है। इसलिये अन्तरमें चैतन्यावलम्बन की वृद्धि होने से जितनी अकषाय वीतराग परिणति हुई उतने आस्रव–बन्ध नहीं हैं। जितने राग–द्वेष हों उतने आस्रव–

वन्ध हैं। छट्ठे गुणस्थान वाले को निद्रा हो और चौथे गुणस्थान वाला निर्विकल्प ध्यान में हो, तथापि छट्ठे गुणस्थान में तीन कषायों का अभाव है और अत्यन्त संवर–निर्जरा है। किसी समय शिष्यको प्रायश्चित दे रहे हों—उलाहना दे रहे हों कि अरे! यह क्या किया? तथापि उस समय तीन कषायों का अभाव है और चौथे गुणस्थान वाले को निर्विकल्प ध्यान के समय भी तीन कषाय विद्यमान हैं; इसलिये उसे संवर–निर्जरा अल्प हैं और आस्रव–बन्ध विशेष हैं।

शांति और करुणा से उपदेश देते हैं कि अरे भाई! तुझे ऐसा भव प्राप्त हुआ, ऐसा अवसर मिला, तो अब ऐसे दोषों को छोड़! अपना सुधार कर!—इस प्रकार उपदेश देते समय भी मुनिको तीन कषायों का तो अभाव है ही, और उतने प्रमाण में बन्धन होता ही नहीं। इसलिये पर द्रव्य का ज्ञान वह बन्ध का कारण नहीं है; बन्ध का कारण तो मोह है। जितना मोह दूर हुआ उतना बन्धन नहीं है और जितना मोह है उतना बन्धन है।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो निर्विकल्प अनुभव दशामें नय-प्रमाण-निक्षेपादिका तथा दर्शन-ज्ञानादिका भी विकल्प करनेका निषेध किया है; उसका क्या कारण?

वीतरागभाव सहित स्व–पर का ज्ञातृत्व सो निर्विकल्प दशा

उत्तरः—जो जीव इन्हीं विकल्पों में लगे रहते हैं और अभेदरूप एक अपने आत्माका अनुभवन नहीं करते उन्हें ऐसा उपदेश दिया है कि–वे सर्व विकल्प वस्तु का निश्चय करने के लिये कारण हैं, किन्तु वस्तु का निश्चय होने पर उनका कोई प्रयोजन नहीं रहता; इसलिये

उन विकल्पों को भी छोड़कर अभेदरूप एक आत्मा का अनुभव करना चाहिये; किन्तु उसके विचाररूप विकल्पों में ही फँसा रहना योग्य नहीं है। और वस्तु का निश्चय होने के पश्चात् भी ऐसा नहीं है कि सामान्यरूप स्वद्रव्यका ही चिंतवन बना रहे। वहाँ तो स्वद्रव्य और परद्रव्यका सामान्यरूप तथा विशेषरूप जानना होता है, किन्तु वह वीतरागता सहित होता है और उसीका नाम निर्विकल्पदशा है।

विकल्प आता है, किन्तु उसीमें धर्म मानकर रुका रहे तो मिथ्या दृष्टि है। भेदके आश्रय से निर्विकल्प अनुभव नहीं होता; इसलिये नय–प्रमाण–निक्षेप के विकल्प छुड़ाये हैं किन्तु उनका ज्ञान नहीं छुड़ाया। विकल्प को छोड़कर अभेद आत्मा का अनुभव कराने के लिये उपदेश है। यहाँ तो यह बतलाना है कि पर का ज्ञान बन्धका कारण नहीं है किन्तु मोह ही बन्धका कारण है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्माको वस्तु स्वभाव का अनुभव हुआ है, तथापि उसकी निर्विकल्पदशा नित्यस्थायी नहीं रहती; उसे भी विकल्प तो आता है, किन्तु उससे कहीं मिथ्यात्व नहीं हो जाता निर्विकल्प प्रतीति होने के पश्चात् सामान्य द्रव्य में ही उपयोग बना रहे ऐसा नहीं है। स्वद्रव्य–परद्रव्य सबको जानता है, किन्तु वहाँ जितना वीतरागभाव है उतनी तो निर्विकल्प दशा ही है। उपयोग भले ही निर्विकल्प न हो, किन्तु जितनी कषाय दूर होकर वीतराग भाव हुआ है उतनी निर्विकल्प दशा नित्यस्थायी है।

प्रश्नः—द्रव्य–गुण–पर्याय, स्व-पर आदि अनेक पदार्थोंको जानने में तो अनेक विकल्प हुए, तो वहाँ निर्विकल्प संज्ञा किस प्रकार सम्भव है?

उत्तरः—निर्विचार होने का नाम निर्विकल्पता नहीं है।

छद्मस्थ को विचार सहित ज्ञातृत्व होता है। उसका अभाव मानने से ज्ञानका भी अभाव होगा, और वह तो जड़ता हुई; किन्तु आत्मा के जड़ता नहीं होती, इसलिये विचार तो रहता है। पुनश्च, यदि ऐसा कहा जाये कि—एक सामान्यका ही विचार रहता है, विशेष का नहीं रहता; तो सामान्य का विचार तो अधिक काल तक नहीं रहता, तथा विशेष की अपेक्षा के बिना सामान्य का स्वरूप भासित नहीं होता।

यहाँ निश्चयाभासी जीव के समक्ष यह कथन समझाया है। अनुभव में निर्विकल्प उपयोग हो उस समय तो पर द्रव्यका या भेद का चिंतन नहीं होता, किन्तु यहाँ जितनी वीतरागी परिणति हुई है उसे निर्विकल्प दशा कहा है। पुनश्च, जो विशेष को मानता ही नहीं है अथवा विशेष के जानने को बन्धका कारण मानता है, और अकेले सामान्य को ही मानता है उससे यहाँ कहते हैं कि विशेष के बिना सामान्य का निर्णय हो ही नहीं सकता। विशेष को जानना वह कहीं दोष नहीं है। स्व और पर दोनों को तथा सामान्य और विशेष दोनों को यथार्थ जाने बिना सम्यग्ज्ञान होता ही नहीं।

वह निश्चयाभासी जीव समयसार का आधार लेकर कहता है कि—समयसार में ऐसा कहा है कि:—

भावयेत् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्न धारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा, ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

अर्थ:—यह भेद विज्ञान तब तक निरन्तर भाना चाहिये कि जब तक ज्ञान पर से छूटकर ज्ञानमें स्थिर हो। इसलिये भेद विज्ञान छूटने से परका ज्ञातृत्व मिट जाता है, मात्र स्वयं अपने को ही जानता रहता है।

अब वहाँ तो ऐसा कहा है कि—पहले स्व-परको एक जानता था; फिर दोनों को पृथक् जानने के लिये भेद विज्ञान को वहीं तक भाना योग्य है कि जहाँ तक ज्ञान पररूप को भिन्न जानकर अपने स्वरूप में ही निश्चित हो। उसके पश्चात् भेदविज्ञान करने का प्रयोजन नहीं रहता। परको पररूप और आपको आपरूप स्वयं जानता ही रहता है। किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है कि—पर द्रव्य को जानना ही मिट जाता है; क्योंकि पर द्रव्य को जानना और स्व-द्रव्यके विशेषों को जाननेका नाम विकल्प नहीं है। तो किस–प्रकार है? वह कहते हैं—"राग-द्वेष वश होकर किसी ज्ञेय को जानने में उपयोग लगाना तथा किसी ज्ञेयको जानते हुये उपयोग को छुड़ाना—इसप्रकार बारम्बार उपयोग को घुमाने का नाम विकल्प है। और जहाँ वीतराग–रूप होकर जिसे जानता है उसे यथार्थ ही जानता है; अन्य–अन्य ज्ञेयको जानने के लिये उपयोग को नहीं घुमाता यहाँ निर्विकल्प दशा जानना।

पर का जानना छूट जाये और अकेले आत्मा को ही जानता रहे उसका नाम कहीं भेदज्ञान नहीं है; किन्तु स्व-पर दोनों को जानने पर भी, स्व को स्व-रूप ही जाने और पर को पररूप ही जाने उसका नाम भेदज्ञान है। स्व-पर को एक रूप मानना वह मिथ्यात्व है; किन्तु परको पररूप जानना तो यथार्थ ज्ञान है, वह कहीं दोष नहीं है। स्व-पर को जानने का ज्ञानका विकास हुआ वह बन्धका कारण नहीं है। पर को जानना ही मिट जाये—ऐसा नहीं है। स्व को स्व-रूप जानना और पर को पररूप जानना वह कहीं विकल्प या राग-द्वेष नहीं है; किन्तु राग-द्वेष पूर्वक जानना हो वहाँ विकल्प है। छद्मस्थ को पर को जानते समय विकल्प होता है वह तो राग-द्वेषके

कारण है; किन्तु कहीं ज्ञानके कारण विकल्प नहीं है। इसलिये जितने राग द्वेष मिटे और वीतरागता हुई उतनी तो निर्विकल्प दशा है—ऐसा जानना चाहिये। यहाँ उपयोग की अपेक्षा निर्विकल्पता की बात नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव पर्याय का तो विचार नहीं करता, पर्याय में कितने राग द्वेष हैं उनका विचार नहीं करता और उपयोग को स्व में रखने को निर्विकल्प मानता है; किन्तु छद्मस्थ का उपयोग मात्र स्वद्रव्य में स्थिर नहीं रहता और उपयोग का तो स्व-पर को जानने का स्वभाव है। वह उपयोग बन्धनका कारण नहीं है किन्तु रागद्वेष ही बन्धन का कारण है—ऐसा जानना चाहिये।

प्रश्नः—छद्मस्थ का उपयोग नाना ज्ञेयों में अवश्य भटकता है, फिर वहाँ निर्विकल्पता किस प्रकार सम्भव है ?

उत्तरः—जितने समय तक एक जानने रूप रहे उतने काल तक निर्विकल्पता नाम प्राप्त करता है। सिद्धान्त में ध्यान का लक्षण भी ऐसा ही कहा है कि—"एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम्" (मोक्षशास्त्र, अ. ९, सूत्र २७) अर्थात्—एक का मुख्य चिंतवन हो और अन्य चिंतवन रुके उसका नाम ध्यान है। सूत्र की सर्वार्थ सिद्धि टीका में तो विशेष कहा है कि—"यदि सर्व चिंता रोकने का ध्यान हो तो अचेतनता हो जाये।" और ऐसी भी विवक्षा है कि—संतान अपेक्षा से नाना ज्ञेयों का जानना भी होता है, किन्तु जब तक वीतरागता रहे अर्थात् रागादिक द्वारा स्वयं उपयोग को न भटकाये तबतक निर्विकल्प दशा कहते हैं।

उपयोग को स्व में लगाने के उपदेश का प्रयोजन

प्रश्नः—यदि ऐसा है, तो उपयोग को पर द्रव्यों से छुड़ाकर स्वरूप में लगाने का उपदेश किसलिये दिया है ?

उत्तर:—शुभ–अशुभ भावों के कारण रूप जो पर द्रव्य है उसमें उपयोग लगने से जिसे राग–द्वेष हो आता है तथा स्वरूप चिंतवन करे तो राग द्वेष कम होता है;—ऐसे निचली दशावाले जीवों को पूर्वोक्त उपदेश है। जैसे—कोई स्त्री विकार भाव से किसी के घर जा रही हो, उसे रोका कि पराये घर न जा, अपने घर में बैठी रह; किन्तु कोई स्त्री निर्विकार भाव से किसी के घर जाये और यथा योग्य प्रवर्तन करे तो कोई दोष नहीं है। उसी प्रकार उपयोग–रूप परिणति राग द्वेष भाव से पर द्रव्यों में प्रवर्तमान थी, उसे रोककर कहा कि "पर द्रव्यों में न प्रवर्त, स्वरूप में मग्न रह;" किन्तु जो उपयोग रूप परिणति वीतराग भाव से पर द्रव्यों को जानकर यथा योग्य प्रवर्तन करे उसे कोई दोष नहीं है।

गणधरादिक ऋद्धिधारी मुनि अन्तर्मुहूर्त में बारह अंगों की स्वाध्याय उच्चार पूर्वक करें, तथापि वहाँ आकुलता नहीं है—उतने राग द्वेष नहीं है; और चौथे गुणस्थान वाला मौन धारण करके विचार में बैठा हो, तथापि वहाँ राग द्वेष विशेष हैं इसलिये आकुलता है। इसलिये पर द्रव्य कहीं राग द्वेष का कारण नहीं है। पर के ज्ञानका निषेध नहीं किया है, किन्तु पर के प्रति राग द्वेष का निषेध किया है—ऐसा जानना चाहिये।

× × ×

[द्वितीय वैशाख कृष्णा ३ शनिवार ता० २–५–५३]

परद्रव्य रागद्वेष का कारण नहीं है

जिसे अपने ज्ञानानन्द स्वभाव की खबर नहीं है तथापि अपने को ज्ञानी मानता है, तथा पर द्रव्य के ज्ञान को राग-द्वेष का कारण

मानकर वहाँ से उपयोग को छुड़ाना चाहता है वह अज्ञानी है। वास्तव में ज्ञान कहीं राग द्वेष का कारण नहीं जीवको जो रागद्वेष होते हैं वे अपने अपराध से होते हैं। गुणस्थान, मार्गणा स्थानादिको जानना वह तो ज्ञानकी निर्मलता का कारण है; वह कहीं राग द्वेष का कारण नहीं है। परद्रव्य कहीं रागद्वेष का कारण नहीं है, किंतु जिसे रागद्वेष हो आते हैं वह परद्रव्य को रागद्वेष का निमित्त बनाता है।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो महा मुनि परिग्रहादि के चिंतवन का त्याग किसलिये करते हैं ?

उत्तरः—जिस प्रकार विकार रहित स्त्री कुशील के कारणरूप परगृह का त्याग करती है, उसी प्रकार वीतराग परिणति राग-द्वेष के कारणरूप परद्रव्यों का त्याग करती है। और जो व्यभिचार के कारण नहीं हैं ऐसे पर गृहों में जाने का त्याग नहीं है; उसी प्रकार जो रागद्वेष के कारण नहीं हैं ऐसे परद्रव्यों को जानने का त्याग नहीं है। तब वे कहते हैं कि—जिस प्रकार स्त्री प्रयोजनवश पितादिक के घर जाये तो भले जाये, किन्तु बिना प्रयोजन जिस–तिस के घर जाना योग्य नहीं है; उसी प्रकार परिणति का प्रयोजन जानकर सप्त तत्वों का विचार करना तो योग्य है; किन्तु बिना प्रयोजन गुणस्थानादिक का विचार करना योग्य नहीं है। उसका समाधानः—जिस प्रकार स्त्री प्रयोजन जानकर पितादि या मित्रादि के घर भी जाती है, उसी प्रकार परिणति तत्त्वों के विशेष जानने के कारणरूप गुणस्थानादिक और कर्मादिकको भी जानती है।

परद्रव्य का ज्ञातृत्व दोष नहीं है

मोक्ष पाहुड़ में कहा है कि मुनियों के तो स्वभावका ही विशेष चिंतवन होता है। वे संघ—शिष्यादि परद्रव्य के चिंतवन में विशेष नहीं रुकते। परद्रव्यों का विचार छोड़कर ज्ञानानन्द आत्माका ध्यान करना चाहिये—ऐसा शास्त्र में कहा है; किन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि परद्रव्य का ज्ञान राग-द्वेष का कारण है। यहाँ निश्चयाभासी जीवके समक्ष यह कथन है। धर्मात्माको भी गुणस्थान, मार्गणास्थान कर्मों की प्रकृति आदिका सूक्ष्म विचार आता है; उसके बदले निश्चयाभासी कहता है कि हमें तो शुद्ध आत्माका ही अनुभव करना चाहिये और विकल्प को रोकना चाहिये; किन्तु उसे अपनी पर्यायके व्यवहार का विवेक नहीं है। निर्विकल्प ध्यान अधिक समय नहीं रह सकता। गणधरदेवको भी शुभ विकल्प तो आता है और दिव्य-ध्वनि भी सुनते हैं। देव–गुरु की भक्ति, शास्त्र स्वाध्यायादि का भाव आये और ज्ञानका उपयोग उस ओर जाये, किन्तु उससे कहीं राग–द्वेष नहीं बढ़ जाते। तीर्थंकरादि को जाति स्मरण ज्ञान होता है और पूर्वभव ज्ञात होते हैं; वहाँ भवोंको जानना कहीं रागद्वेष का कारण नहीं है। ज्ञानका स्वभाव तो जानने का ही है, इसलिये वह सबको जानता है। ज्ञान किसे नहीं जानेगा ? ज्ञान करना कहीं दोष नहीं है। गुणस्थानादि को जानते समय शुभराग होता है, किन्तु वह तो अपनी परिणति अभी वीतरागी नहीं हुई इसलिये है। शास्त्र में कहा है कि भावश्रुतज्ञानके अवलम्बन पूर्वक शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये। मुनिवर आगम चक्षुवाले हैं इसलिये आगमज्ञान द्वारा समस्त तत्त्वों को देखते हैं; इसलिये ज्ञान कर्मादि को जानता है वह दोष नहीं है।

यहाँ ऐसा जानना कि—जिसप्रकार शीलवती स्त्री उद्यम करके तो विट पुरुष के स्थान में नहीं जाती; किन्तु विवशता से जाना पड़े और वहाँ कुशील सेवन न करे तो वह स्त्री शीलवती ही है; उसी प्रकार वीतरागी परिणति उपाय करके तो रागादि के कारण रूप परद्रव्यों में नहीं लगती, किन्तु स्वयं ही उनका ज्ञान हो जाये और वहाँ रागादिक न करे तो वह परिणति शुद्ध ही है। उसी प्रकार स्त्री आदि का परिषह मुनिजनों के होता है, किन्तु उसे वे जानते ही नहीं, मात्र अपने स्वरूपका ही ज्ञातृत्व रहता है—ऐसा मानना मिथ्या है। उसे वे जानते तो हैं, किन्तु रागादि नहीं करते। इसप्रकार परद्रव्यों को जानने पर भी वीतराग भाव होता है—ऐसा श्रद्धान करना चाहिये।

जो एकांत ऐसा मानता है कि परद्रव्य को जानना रागद्वेषका कारण है; उसीके समक्ष यह स्पष्टीकरण किया है। छद्मस्थ के ज्ञान का उपयोग स्वरूप में अधिक काल स्थिर नहीं रह सकता। किसी मुनिके सामने देवाङ्गना आकर खड़ी हो जाये और अनेक प्रकार की चेष्टाओं द्वारा उन मुनि को उपसर्ग करती हो; तो उसे मुनि देखते हैं, तथापि उन्हें रागद्वेष नहीं होता, इसलिये कोई अपराध नहीं है और दूसरा जीव स्त्री को जानते हुए रागीद्वेषी हो जाता है। देखो, स्त्री को तो दोनों जानते हैं, तथापि एक को रागद्वेष नहीं होता और दूसरे को होता है, इसलिये परद्रव्यको जानना कहीं रागद्वेषका कारण नहीं है।

पृथ्वी घूमती है—ऐसा लोक में कहा जाता है वह मिथ्या है। धर्मी जीव सर्वज्ञ के आगम से जानता है कि यह पृथ्वी स्थिर है और

सूर्य घूमता है। धर्मी जीव आगम से असंख्यात द्वीप–समुद्रादि को जानता है, वह कहीं रागद्वेष का कारण नहीं है।

मुनिराज ध्यान में लीन हों और सिंहनी आकर खाने लगे, तो वहाँ मुनि को विकल्प उठने पर वह समझ में आ जाता है, किन्तु द्वेष नहीं होता। शरीर में रोग हो वह मुनि के ख्याल में आ जाता है, किन्तु उससे उन्हें शरीर के प्रति राग नहीं होता। इसलिये यहाँ ऐसा सिद्ध करना है कि परद्रव्यको जानने पर भी मुनिवरों को रागद्वेष अल्प ही होता है और सम्यक्त्वी का चौथे गुणस्थान में स्व द्रव्य में उपयोग हो उस समय भी मुनि की अपेक्षा विशेष रागद्वेष है। इसलिये स्व द्रव्य में उपयोग हो या परद्रव्य में हो—उस पर से रागद्वेष का माप नहीं निकलता।

आत्मा के श्रद्धा–ज्ञान–आचरण का अर्थ

प्रश्न:—यदि ऐसा है तो, शास्त्र में किसलिये कहा है कि आत्मा का श्रद्धान–ज्ञान–आचरण ही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है ?

उत्तर:—अनादिकालसे परद्रव्योंमें अपना श्रद्धान–ज्ञान–आचरण था; उसे छुड़ाने के लिये वह उपदेश है। अपने में अपना श्रद्धान–ज्ञान–आचरण होने पर तथा पर द्रव्य में रागद्वेषादि परिणति करने का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण मिट जाने पर सम्यग्दर्शनादिक होते हैं; किंतु यदि परद्रव्यका परद्रव्यरूप श्रद्धानादि करनेसे सम्यग्दर्शनादि न होते हों तो केवली भगवान के भी उनका अभाव हो। जहाँ परद्रव्यको बुरा और निजद्रव्य को भला जानना है वहाँ तो रागद्वेष सहज ही हुआ; किन्तु जहाँ आपको आपरूप और परको पररूप यथार्थ जानता रहे वहाँ राग-द्वेष नहीं है, और उसीप्रकार जब श्रद्धानादिरूप प्रवर्तन करे तभी सम्यग्दर्शनादिक होते हैं—ऐसा जानना।

अज्ञानी जीव को अनादिकाल से आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण नहीं हैं, इसलिये उसे आत्माकी श्रद्धा–ज्ञान–आचरण करने का उपदेश दिया जाता है। तू परद्रव्य की एकाग्रता छोड़कर अपने आत्मा की श्रद्धा कर, अपने आत्मा को जान और अपने आत्मा में एकाग्र हो;—ऐसा उपदेश दिया है; किन्तु उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि परद्रव्य दोष कराता है! परद्रव्य बुरा है—ऐसा मानना तो मिथ्यात्व है। अहिंसा वीरों का धर्म है; इसलिये जिसका शरीर हृष्ट पुष्ट होगा वही अहिंसा धर्म का पालन कर सकेगा—ऐसा अज्ञानी मानते हैं; किन्तु भाई! अहिंसा धर्म शरीर में रहता होगा या आत्मा में? वीरता आत्मा में है या शरीर में? पुष्ट शरीर न हो दुबला हो, तो क्या अहिंसा का भाव नहीं होगा? शरीर के साथ अहिंसा का क्या सम्बन्ध है? अज्ञानी परद्रव्य से ही धर्म मानकर वहाँ रुक जाते हैं, किन्तु स्वद्रव्य की श्रद्धा–ज्ञान–रमणता नहीं करते; उसलिये उनसे कहते हैं कि तू अपने आत्माकी श्रद्धा–ज्ञान–एकाग्रता कर और परद्रव्य की श्रद्धा–ज्ञान–एकाग्रता छोड़! परद्रव्य बुरे हैं–ऐसा नहीं है; परद्रव्यों को बुरा मानना तो द्वेष का अभिप्राय हुआ। स्व को स्व-रूप और परको पररूप यथावत् जानना वह सम्यक्ज्ञान है। पर को पर और स्व को स्व जानने में राग द्वेष कहाँ आया? पर के कारण मुझे लाभ या हानि होते हैं—ऐसा माने तो वह रागद्वेष है। अज्ञानी मानते हैं कि "जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन;" किन्तु ऐसा नहीं है। अन्न के परमाणु तो पुद्गल हैं और भाव मन तो जीव की पर्याय है। परद्रव्य के कारण आत्मा का भाव अच्छा रहे—ऐसा है ही नहीं।—इस प्रकार भेदविज्ञान पूर्वक अपने श्रद्धान–ज्ञान–आचरण हों और परद्रव्य में रागद्वेष परिणाम

करने के श्रद्धान–ज्ञान–आचरण दूर हों तब सम्यग्दर्शनादि होते हैं। परद्रव्य–निमित्त मुझमें अकिंचित्कर है—ऐसा बतलाने के लिये आत्मा के श्रद्धादि ही सम्यग्दर्शनादि हैं, किन्तु परद्रव्यों को जानने से रागादि हो जाते हैं—ऐसा नहीं है। परद्रव्य के ज्ञान का निषेध नहीं है। पर में लाभ–हानि की बुद्धि करके रागादि करना वह मिथ्या श्रद्धानादि है उनका निषेध है। प्रवचनसार गाथा २४२ में ज्ञेय और ज्ञाता के स्वरूपकी यथावत् प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है। यदि परद्रव्यका परद्रव्यरूप श्रद्धानादि करने से सम्यग्दर्शनादि न होते हों तो केवलज्ञानीके उनका अभाव हो जाये!

परद्रव्यको बुरा तथा निजद्रव्य को भला जानना वह तो मिथ्यात्व सहित रागद्वेष सहज ही हुए। जगतमें कोई परद्रव्य—देव–गुरु–शास्त्र वास्तवमें इष्ट हैं और स्त्री–पुत्रादि अनिष्ट हैं—ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। आपको आपरूप और परको पररूप यथार्थतया—इष्ट–अनिष्ट बुद्धि रहित होकर जानता रहे वहाँ रागद्वेष नहीं है, और उसीप्रकार श्रद्धानादिरूप प्रवर्तन करे तभी सम्यग्दर्शनादि होते हैं—ऐसा जानना। इसलिये विशेष क्या कहें? राग से लाभ होता है—ऐसा जैनदर्शनमें—वस्तुस्वभाव में है ही नहीं। जैसे रागादि मिटानेका श्रद्धान हो वही सम्यग्दर्शन है, जैसे रागादि मिटाने की जानकारी हो वही सम्यग्ज्ञान है और जैसे रागादि मिटानेका आचरण हो वही सम्यक्चारित्र है और वही मोक्षमार्ग है।—इसप्रकार निश्चयनय के आभास सहित एकान्त पक्षधारी जैनाभासों के मिथ्यात्व का निरूपण किया।



३

मात्र व्यवहारावलम्बी जैनाभासों का निरूपण

[फाल्गुन कृष्णा १३ गुरुवार ता० १२-२-५३]

[आज बाहरसे यात्री आने के कारण मुख्यत: निश्चय-व्यवहार के स्वरूप पर व्याख्यान हुआ था ।]

लगभग साढ़े तीनसौ वर्ष पूर्व यशोविजयजी नामके एक श्वेताम्बर उपाध्याय हो गये हैं । उन्होंने "दिक्पट" के चौरासी बोलों में दिगम्बरों की ८४ भूलें निकाली हैं, वे कहते हैं कि—"दिगम्बर लोग निश्चय पहले कहते हैं, यह दिगम्बर की भूल है ।" किन्तु उनकी यह बात यथार्थ नहीं है । राग-व्यवहार को अभूतार्थ करके स्वभाव को भूतार्थ करना चाहिये । मैं ज्ञायक सच्चिदानन्द हूँ ऐसा निर्णय करने पर रागबुद्धि और पर्यायबुद्धि उड़ जाती है । वे कहते हैं कि—"दिगम्बर पहले निश्चय कहते हैं किन्तु होना चाहिये पहले व्यवहार;" किन्तु यह भूल है । सामान्य स्वभाव परिपूर्ण है उसकी श्रद्धा करना यह निश्चय है । अपूर्णदशा में शुभ राग आता है किन्तु उसे जानना वह व्यवहार है । ज्ञानानन्द स्वभाव की दृष्टि हुए बिना रागको व्यवहार कहने वाला कौन है ? सम्यग्ज्ञान के बिना कौन निर्णय करेगा ? आत्मा ज्ञायक है; रागादि मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है;—ऐसा भान होने के पश्चात् राग को व्यवहार कहते हैं। निश्चय सम्यग्ज्ञान बिना व्यवहारनय होते ही नहीं ।

मिथ्यादृष्टि शुभरागसे लाभ मानता है; उसके शुभरागको व्यवहार नहीं कहते। मिथ्या अभिप्राय रहित होकर शुद्ध आत्माके आलम्बनसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र और शुक्लध्यानादि की पर्याय प्रगट होती है। छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं ऐसा प्रथम समझना चाहिये। और जीवमें होने वाली पर्याय क्षणिक है वह उत्पाद–व्ययरूप है। धर्म पर्याय में होता है किन्तु पर्याय के आश्रय से धर्म नहीं होता। सच्चे देव–गुरु–शास्त्रका शुभराग आये उसके आधार से धर्म नहीं है। उसका भी आश्रय छोड़कर शुद्ध स्वभाव के आश्रयसे धर्म प्रगट करे वह निश्चय है; इसलिये निश्चय प्रथम होता है। जिसे ऐसे निश्चयका भान हो ऐसे धर्मी जीव के शुभराग को व्यवहार कहते हैं। यशोविजयजी कहते हैं वह यथार्थ नहीं है। इसप्रकार व्यवहार पहले कहकर दो हजार वर्ष पहले श्वेताम्बर सम्प्रदाय की स्थापना हुई है।

सर्वज्ञकी वाणी में ऐसा निश्चय–व्यवहारका स्वरूप आया है। वाणीके कर्ता भगवान नहीं हैं, किन्तु सहज ही वाणी निकलती है। यहाँ निश्चय–व्यवहार की बात बतलाना है।

यशोविजयजी कहते हैं कि—

"निश्चयनय पहले कहै, पीछे ले व्यवहार;
भाषाक्रम जाने नहीं, जैनमार्ग कौ सार।

—ऐसा कहकर वे दिगम्बर की भूल बतलाते हैं। पहले व्यवहार हो तो धर्म होता है—यह बात मिथ्या है। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है ऐसी दृष्टि होने के पश्चात् जो राग हो अथवा पर्यायकी जो हीनता है उसका बराबर ज्ञान करना वह व्यवहार नयका विषय है। चौथे

गुणस्थान में निश्चय प्रथम होता है, अर्थात जिसे आत्माका धर्म करना हो उसे आत्माकी दृष्टि प्रथम करना चाहिये। जिसे निश्चय भावश्रुतज्ञान हुआ हो उसे व्यवहार होता है। निश्चय की दृष्टि बिना पुण्यको व्यवह र नहीं कहते।

"शिष्यको भक्तिका और श्रवण का राग आता है इसलिये प्रथम व्यवहार आता है और व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है;"—ऐसा यशोविजयजी कहते हैं, किन्तु यह बात यथार्थ नहीं है।

यदि व्यवहार करते करते निश्चय आत्मज्ञानादि हो जायें तो "मुनिव्रत धार अनन्तवार ग्रेवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो" ऐसा क्यों हुआ ?

इसलिये व्यवहार विकल्पका आश्रय छोड़ कर आत्माके सामान्य स्वभावका आश्रय ले तब धर्म होता है। जिसने सामान्य स्वभाव का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन प्रगट किया उसने सब जान लिया। जो शुभ राग आता है वह व्यवहार है, और आत्माके अवलम्बन से जो शुद्धता प्रगट होती है वह निश्चय है।—इसप्रकार दोनों होकर प्रमाण होता है। शिष्य शुभरागका अवलम्बन छोड़कर शुद्ध आत्माका आश्रय लेता है और अन्तर प्रमाण ज्ञान होता है तब उसे नय लागू होता है। निश्चय का ज्ञान होने के पश्चात् रागको व्यवहार नाम होता है। नय श्रुतज्ञानका अंश है। श्रुतज्ञान प्रमाण होनेसे पूर्व व्यवहार लागू नहीं होता। श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि—रागसे पृथक् और स्वर से एकत्व आत्मा है—ऐसी बात जीवों ने नहीं सुनी है। कर्म से राग होता है यह मान्यता भूलयुक्त है। कर्म तो पृथक् वस्तु है; उससे राग नहीं होता। यदि पर से अथवा कर्म से विकार होता हो तो अपनी

पर्याय में पुरुषार्थ करने का या व्यवहार का निषेध करने का अवसर नहीं रहता। रागका आश्रय छोड़कर स्वभाव बुद्धि करे तो पूर्व के राग को भूतनैगमनय से साधन कहा जाता है।

पुनश्च, यशोविजयजी कहते हैं:—

तातैं सो मिथ्यामती, जैनक्रिया परिहार;
व्यवहारी सो समकिती, कहै भाष्य व्यवहार।

"तू निश्चय को प्रथम कहता है इसलिये मिथ्यामती है। दया, दानादि परिणामों की क्रिया जैन की है, उस क्रिया का तूने परिहार किया है।"—इसप्रकार दिगम्बर पर आक्षेप करते हैं, किन्तु यह बात मिथ्या है।

"हम व्यवहार को सम्यक्त्वी कहते हैं और व्यवहार के पश्चात् निश्चय आता है।"—ऐसा यशोविजयजी कहते हैं, किन्तु वह भूल है; क्योंकि निश्चय को जाने बिना व्यवहार का आरोप नहीं आता। और यशोविजयजी कहते हैं:—

जो नय पहले परिणमे, सोई कहै हित होई,
निश्चय क्यों धुरि परिणमे, सूक्ष्म मति करि जोई।

वे कहते हैं कि "शिष्य सर्वज्ञकी अथवा गुरुकी वाणी प्रथम सुनता है, इसलिये व्यवहार पहले आता है, इससे वह हितकारी है। इसलिये हे दिगम्बरो! पहले व्यवहार आता है, सूक्ष्मदृष्टि से विचार करो।" किन्तु यह बात भूलयुक्त है। दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्म लेकर भी जो ऐसा मानते हैं कि व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है

वे भी श्वेताम्बर जैसे ही हैं। प्रथम निश्चय प्रगट हो तो रागपर व्यवहारका आरोप आता है। वस्तुस्वरूप बदल नहीं सकता।

एक समय में जो उत्पाद–व्यय होता है उसे गौण करके, सामान्य ध्रुव स्वभाव की ओर जो दृष्टि हुई वह निश्चय है और पश्चात् जो राग आता है वह व्यवहार है—ऐसा जानना सो जैन दर्शन है। पहले व्यवहार होना चाहिये—ऐसा कहने वाला भूल में है, क्योंकि व्यवहार अंधा है; निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता। सामान्य एकरूप स्वभाव का अवलम्बन करना वह धर्म है, और वही जैन शासन का सार है।

जड़–चेतन की पर्यायें क्रमबद्ध हैं

जड़ और चेतनकी पर्यायें उल्टी–सीधी नहीं होती–ऐसा निर्णय करने से परका कर्तृत्व उड़ जाता है। मैं पर में फेरफार नहीं कर सकता, तथा मुझमें भी उल्टी–सीधी पर्याय नहीं होती; इसलिये उस ओर की दृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि करना वह धर्म है। सामान्यकी दृष्टि होने पर अनन्त निमित्तों पर की दृष्टि उड़ गई। मैं ज्ञान स्वभावी हूँ—ऐसा निर्णय होने से पर की कर्ता बुद्धि छूट गई और ज्ञाता–दृष्टा हो गया। क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय कहो या द्रव्यदृष्टि कहो—वह सब एक ही है।

सर्व पदार्थों का परिणमन क्रमबद्ध है। जिस काल जो पर्याय होना है वही होगी। पर्याय सत् है श्री प्रवचनसार गाथा ९९ में यह बात स्पष्ट कही है। जो पर्याय जिसकाल होना है वह आगे–पीछे नहीं हो सकती। आत्मा तथा अन्य पदार्थों की पर्याय व्यवस्थित है। सर्वज्ञ सब जानते हैं। सर्वज्ञका निर्णय किस प्रकार होता है ? अपनी पर्याय

अल्पज्ञ हैं: अल्पज्ञताके आश्रयसे सर्वज्ञका निर्णय नहीं होगा। अपना स्वभाव सर्वज्ञ है–ऐसे ज्ञानगुण में एकाग्र होनेपर सर्वज्ञ स्वभाव के आश्रयसे निर्णय होता है। सर्वज्ञ भगवान आत्मामें से हुए हैं। क्या सर्वज्ञताका उत्पाद, व्ययमें से होता है ? नहीं। रागमें से होता है ? नहीं। सर्वज्ञस्वभावके आश्रयसे धर्मदशा प्रगट होती है।–इसप्रकार जो स्वभाव का आश्रय लेता है उसने क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय किया है।

क्रमबद्ध पर्यायका निर्णय करनेवाला परका अकर्ता होता है। और, अपने में पर्याय क्रमबद्ध होती है–ऐसा निर्णय करने से अक्रम स्वभाव का निर्णय होता है, तथा उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।

स्वभावदृष्टि करना चारों अनुयोगों का तात्पर्य है

चारों अनुयोगों का तात्पर्य यह है कि निमित्तदृष्टि और राग-दृष्टि हटाकर स्वभावदृष्टि करना चाहिये; वही सम्यग्दर्शन और धर्म है। इसे वीतराग शासन कहते हैं; यह न्याय है। जैसी वस्तु की मर्यादा है उसी ओर ज्ञान को ले जाना उसे न्याय कहते हैं।

× × ×

[फाल्गुन कृष्णा ३० शुक्रवार ता० १३–२–५३]

[बाहर के यात्री आने से "मात्र व्यवहारावलम्बी जैनाभासों का निरूपण" (पृष्ठ २१८) पर व्याख्यान प्रारम्भ हुए हैं।]

अब व्यवहाराभासी की बात करते हैं। निमित्तादिका ज्ञान कराने के लिये जिनागम में व्यवहार की मुख्यता से कथन आते हैं। आत्मा ज्ञाताद्दृष्टा है ऐसी जिसे दृष्टि हुई है उसके शुभरागको व्यवहार कहते हैं। अज्ञानी दया-दानादि को ही धर्मका साधन मानता है। देव-गुरु-

शास्त्रकी श्रद्धा, पंच महाव्रतका राग और शास्त्रोंका ज्ञान अज्ञानी जीव ने अनन्तबार किया है; किन्तु अन्तर में निश्चय-शुद्धात्म द्रव्य साधन है उसकी दृष्टि उसने नहीं की। कषाय की मन्दताको तथा देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धाको निमित्तसे साधन कहा जाता है किन्तु वह यथार्थ साधन नहीं है। जो कषायकी मंदतासे धर्म मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। धर्मका साधन तो कारणपरमात्मा है—कारण-शुद्धजीव है। त्रिकाली ध्रुवशक्तिको कारणशुद्धजीव कहते हैं; उसमेंसे केवलज्ञानादिरूप कार्य होता है। केवलज्ञान, केवल आनन्दादि प्रगट होने की शक्ति द्रव्यमें है। वर्तमान पर्याय में अथवा व्यवहार रत्नत्रय में केवलज्ञान प्रगट करने की शक्ति नहीं है। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ, उसमें से सम्यग्दर्शन ज्ञानरूपी कार्य प्रगट होता है। शुद्धजीव कारण-परमात्मा है, उसमें से मोक्षमार्ग और मोक्षरूपी कार्य प्रगट होता है। केवलज्ञान,केवलदर्शन अनन्त आनन्द तथा अनन्तवीर्य कार्यपरमात्मा है और शुद्धजीव शक्तिरूप कारणपरमात्मा है। जिसकी दृष्टि कारण-परमात्मा पर नहीं है किन्तु व्यवहार पर है वह व्यवहाराभासी मिथ्या-दृष्टि है। दया-दानादिके परिणाम यथार्थ साधन नहीं हैं; यथार्थ साधन तो परमपारिणामिकभाव है जिसे परकी अपेक्षा लागू नहीं होती।

औदयिकभाव जीवका स्वतत्त्व है। कर्मके कारण दया-दानादि अथवा काम-क्रोधादि नहीं होते। औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक औदयिक और पारिणामिक—यह पाँचों भाव जीवके स्वतत्व हैं। कर्म अजीवतत्त्व है। कर्मकी अस्ति है इसलिये औदयिकभाव है—ऐसा नहीं है। औदयिकभाव अपने कारण अपनी पर्याय में होता है। दया, दान, व्रत, पूजादि औदयिकभाव हैं, आस्रव हैं—बन्ध के कारण हैं।

अज्ञानी उन्हें धर्मका सच्चा साधन मानता है। आत्मा में करण नाम की शक्ति है; उसका अवलम्बन ले तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट होता है; और फिर उस मोक्षमार्ग का व्यय होकर मोक्षदशा प्रगट होती है। कारण-परमात्मा एकरूप सदृश भगवान है; उसके अवलम्बनसे निश्चय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र पर्याय प्रगट होती है; उसमें सम्यग्दर्शन औपशमिक, क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक होता है; ज्ञान और चारित्र क्षायोपशमिक भावरूप है।

विपरीत अभिप्राय रहित सात तत्वों की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। सात तत्व सातरूप कब रहते हैं ? कर्म अजीवतत्व है, अपनी पर्याय में होने वाले राग-द्वेष आश्रवतत्त्व हैं। कर्म से आश्रव का होना माने तो साततत्त्व नहीं रहते। अजीव से आश्रव माने; कर्म के उदय से विकार माने उसने अजीव और आश्रव को एक माना है। यहाँ भाव आश्रव की बात है। द्रव्याश्रव, द्रव्यपुण्य-पाप, द्रव्यबन्ध, द्रव्यनिर्जरा, द्रव्यमोक्ष आदि अजीवतत्व में आ जाते हैं। एक समय की पर्याय में होने वाले रागद्वेषभाव आश्रवतत्व हैं। जो कर्मसे विकार मानता है उसने विकार को—आश्रव को स्वयं नहीं माना, इसलिये सात तत्व नहीं रहते। अजीव से आश्रव माननेवाला व्यवहाराभास में जाता है। आश्रव से धर्म माने तो भी भूल है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र संवर निर्जरा में आते हैं।

सामान्य–विशेष दोनों निरपेक्ष

और सामान्यसे विशेष होता है–ऐसा भी यहाँ नहीं कहना है। सामान्य और विशेषको प्रथम निरपेक्ष स्वीकार न करे तो एक–दूसरे

की हानि होती है। स्वयं सिद्ध न हों तो दोनोंका नाश होता है। समन्तभद्राचार्य कृत आप्तमीमांसामें यह बात आती है।

जीव है, संवर है, निर्जरा है—सब हैं। उनमें जीव सामान्य में आता है; और आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष—यह पाँच पर्यायें हैं अथवा विशेष हैं। इसप्रकार सामान्य और विशेष भी स्वतंत्र निरपेक्ष मानना चाहिये।

प्रथम सातों तत्त्वोंको निरपेक्ष जानना चाहिये। अजीव की पर्याय अजीवसे है; आस्रव अजीवसे नहीं है। तत्त्व वस्तु है, अवस्तु नहीं। पर्यायकी अपेक्षासे पर्याय वस्तु है। एक पर्यायमें अनंत धर्म आते हैं। एक आस्रव पर्यायमें संवरकी नास्ति, अजीवकी नास्ति तथा पूर्व और उत्तर पर्यायकी नास्ति है। नयों तत्त्वोंको पृथक् पृथक् न माने वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। आस्रव तो विकारी तत्त्व है; उससे संवर—निर्जरा माने तो संवर और निर्जरा निरपेक्ष नहीं रहते। आस्रव औदयिकभाव है, संवर—निर्जरा औपशमिक—क्षायोपशमिकभाव है। औदयिकभावसे औपशमिक—क्षायोपशमिकभाव नहीं होता। और कर्म अजीव है, अजीवसे औदयिकभाव नहीं होता।

भावबंध औदयिकभाव है। संवर—निर्जरा अपूर्ण शुद्ध पर्याय है, मोक्ष पूर्ण शुद्ध पर्याय है। जीवतत्त्व परम पारिणामिक भावमें आता है। पुद्गलमें पारिणामिक तथा औदयिकभाव दो कहे हैं। कारण शुद्धजीव—कारणपरमात्मा है वह जीवतत्त्व है। सात की निरपेक्षता निश्चित करने के पश्चात् सापेक्षता लागू होती है। संवर-निर्जरा कहाँ से आती है? संवर—निर्जरा की पर्याय पहले नहीं थी, तो वह कहाँ से आती है? द्रव्य स्वभावमें से आती है, यह सापेक्ष कथन है।

और विकार कहाँ से आता है ? स्वभावका आश्रय छोड़कर निमित्त का आश्रय करता है उसे विकार होता है; यह भी सापेक्ष कथन है। निश्चय मोक्षमार्ग संवर–निर्जरामें आता है।

तीन कालके जितने समय हैं उतनी चारित्र गुणकी पर्यायें हैं। धर्मी जीवको शुभराग लाने की भी भावना नहीं है। ज्ञानकी मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—ऐसी पाँच पर्यायें हैं। केवलज्ञान भी एक समय की पर्याय है। ज्ञान गुणकी स्थिति त्रिकाल है, किन्तु केवलज्ञान पर्याय दूसरे समय नहीं रहती। यह दूसरी बात है कि ज्यों की त्यों सदृश रहे; किन्तु पूर्व पर्याय बाद की पर्याय के समय नहीं रहती। उसीप्रकार श्रद्धागुण त्रिकाल है; उसकी मिथ्यादर्शन पर्याय है; वह कर्मके कारण नहीं है। वह पर्याय सत् है। पूर्व की मिथ्याश्रद्धाका व्यय, नवीन मिथ्याश्रद्धाका उत्पाद और श्रद्धागुण ध्रुव है। इसप्रकार तीनों सत् हैं। ऐसे स्वतंत्र सत् को जो नहीं मानता और कर्मसे परिणाम माने तथा रागसे धर्म माने वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। आत्माका भान होने से मिथ्यादर्शनका व्यय होकर, सम्यग्दर्शनका उत्पाद होता है और श्रद्धागुण स्थायी रहता है। जो नवतत्त्वों को स्वतंत्र नहीं मानता उसे मिथ्यादर्शनकी पर्याय होती है और जो नवतत्त्वोंको स्वतंत्र मानकर स्वोन्मुख होता है उसे सम्यग्दर्शनकी पर्याय प्रगट होती है।

अब चारित्रकी बात। कर्मके उदयके कारण आत्मामें कुछ नहीं होता। कर्मके कारण कोई प्रभाव अथवा विलक्षणता नहीं होती। चारित्रकी विकारी अथवा अविकारी पर्याय स्वतंत्र होती है। नव पदार्थोंको स्वतंत्र मानना चाहिये। शुद्धजीवकी प्रतीति होने के पश्चात्

साधकको शुभराग आता है। कर्मकी पर्याय कर्ममें है, कर्मके उदयके कारण राग नहीं होता। अज्ञानी जीवकी दृष्टि संयोग पर और कर्म पर है; इसलिये वह ऐसी भावना नहीं कर सकता कि आस्रव से आत्मा पृथक् है। परसे अपना भला बुरा मानना छोड़कर पराश्रय छोड़कर ज्ञायकका आश्रय करता है तब मिथ्यात्वका नाश हो जाता है और सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। जिसे ऐसा भान नहीं है वह व्यवहाराभासी है। विकारसे निर्विकारी धर्म प्रगट होता है—ऐसा माने वह व्यवहाराभासी है।

धर्मी जीव समझता है कि श्रद्धा गुण निर्मल हुआ है किन्तु चारित्रगुण पूर्ण निर्मल नहीं हुआ। यदि श्रद्धाके साथ चारित्र तथा समस्त गुण तुरन्त ही पूर्ण निर्मल हो जायें तो साधकदशा और सिद्ध में अन्तर नहीं रहता। आत्माका भान और लीनता हुई है उसमें ध्रुव उपादान निज कारणपरमात्मा है और क्षणिक उपादान उस-उस समयकी संवर निर्जराकी पर्याय है। केवलज्ञान निमित्तमें से नहीं आता, आस्रव और बंधमें से नहीं आता, संवर–निर्जरामें से भी नहीं आता। संवर–निर्जरा अपूर्ण निर्मल पर्याय है; उसमें से पूर्ण निर्मल पर्याय नहीं आती, किन्तु कारणपरमात्मामें से केवलज्ञान प्रगट होता है।

आस्रवसे संवर–निर्जरा नहीं है। और कोई संवर–निर्जराको भी स्वतंत्र सिद्ध करके द्रव्यके आश्रयसे वह प्रगट होती है—ऐसा सापेक्ष निर्णय करे, किन्तु ऐसा माने कि निमित्त आये तब पर्याय प्रगट होती है, तो क्या निमित्त अव्यवस्थित है? अथवा पर्याय अनिश्चित है? अमुक निमित्त आये तब अमुक पर्याय प्रगटे तो

अनिश्चितता हो जाये। ऐसा होने से सारी पर्यायें अनिश्चित् हो जायेंगी। मोक्ष पूर्ण शुद्ध पर्याय है। प्रथम "है" ऐसा निर्णय करो; फिर यह निर्णय होता है कि वह किसकी है। स्वतंत्र अस्ति सिद्ध किये बिना सापेक्षता लागू नहीं होती। मोक्ष है ऐसा निर्णय करने के पश्चात् ऐसी सापेक्षता लागू होती है कि वह जीवकी पूर्ण शुद्ध पर्याय है। संवर-निर्जरा है ऐसा निरपेक्ष निर्णय करने के पश्चात् ऐसी सापेक्षता लागू होती है कि वह जीवकी अपूर्ण निर्मल पर्याय है।

श्री प्रवचनसारमें कहा है कि व्यय व्ययसे है; उत्पाद उत्पादसे है, ध्रुव ध्रुव से है—इसप्रकार तीनों अंश निरपेक्ष हैं। व्यय उत्पाद से नहीं है, उत्पाद व्ययसे नहीं है और ध्रौव्य उत्पाद–व्ययसे नहीं है। तीनों अंश सत् हैं। तीनों एक ही समय हैं। व्ययमें उत्पाद–ध्रुवका अभाव, उत्पादमें व्यय-ध्रुवका अभाव और ध्रुवमें उत्पाद–व्ययका अभाव है।—इसप्रकार तीनों अंश सत् सिद्ध किये हैं। वस्तुमें वस्तुत्व को सिद्ध करनेवाली अस्ति नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना सो अनेकान्त है। उत्पाद उत्पादसे है, किन्तु व्यय से नहीं है। आस्रव आस्रवसे है किन्तु अजीवसे नहीं है। आस्रव विशेष है, वह विशेषसे है और जीव सामान्यसे नहीं है। संवर संवर से है, जीवसे नहीं है। संवरसे निर्जरा नहीं है। मोक्ष मोक्षसे है और निर्जरा से नहीं है—इसप्रकार सातों तत्त्व पृथक् पृथक् सिद्ध होने के पश्चात् सापेक्षता लागू होती है।

सामान्यसे विशेष मानें तो दोनोंकी हानि हो जाती है। सामान्य भी है और विशेष भी है; उसमें किसकी अपेक्षा? दोनों निरपेक्ष हैं। उसमें किसी की अपेक्षा नहीं है। और उत्पाद, व्यय, ध्रुव–तीन

अंश किसी की अपेक्षा रखें तो तीन नहीं रहते। नव पदार्थोंमें किसी की अपेक्षा रखें तो नव नहीं रहते। छह द्रव्य परस्पर किसी की अपेक्षा रखें तो छह नहीं रहते। उत्पादसे व्यय मानें तो व्यय सिद्ध नहीं होता। व्यय न हो तो उत्पाद नहीं होता ऐसा सापेक्षतावाला कथन बादमें आता है। विकारी पर्याय हो या अविकारी—प्रत्येक पर्याय निरपेक्ष है।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला २ रविवार ता० १५-२-५३]

कुछ पूर्व कालीन पण्डित यथार्थ दृष्टि वाले थे। श्री बनारसीदासजी, पं० जयचन्द्रजी, पं० टोडरमलजी, दौलतरामजी, दीपचंदजी आदि यथार्थ थे। उनकी सच्ची दृष्टिका जो विरोध करता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। शुद्ध आत्मा सम्यग्दर्शन पर्यायका उत्पादक है। निमित्त, राग या पर्यायमें से सम्यग्दर्शन नहीं आता। और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय है। नवीन पर्याय उत्पन्न होती है वह गुण नहीं है। गुणका उत्पाद नहीं होता। श्रद्धाकी विपरीत पर्याय का नाश होकर अविपरीत पर्यायका उत्पाद होता है, वह कहांसे होता है? सम्यग्दर्शनपर्याय शुद्ध है वह कहां से आती है?-निमित्त, राग या पर्यायमें से नहीं आती, द्रव्य स्वभावमें से आती है।

अज्ञानी जीव धर्मके सर्व अंग अन्यथा रूप होकर मिथ्याभावको प्राप्त होता है। यहां ऐसा जानना कि दया, दान, यात्रादिके भावसे पुण्य बंध होता है। पुण्यको छोड़कर पापप्रवृत्ति नहीं करना है। उस अपेक्षा से शुभका निषेध नहीं है; किन्तु जो जीव आत्माकी दृष्टि नहीं करता और दया-दानादिमें धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

थैलीमें चिरायता रखकर ऊपर मिसरी नाम लिखे तो चिरायता मिसरी नहीं हो जाता। उसीप्रकार अन्तरमें जैन धर्म प्रगट नहीं हुआ, और बाह्यमें जैन नाम धारण कर ले तो जैन नहीं होता। श्री कुन्दकुन्दाचार्य आदि समर्थ मुनिवरों ने यथार्थ प्रकाश किया है कि—जो व्यवहारसे संतुष्ट होता है और कषायमन्दतासे धर्म मानता है, तथा "मैं ज्ञायक हूँ, पुण्य-पाप रहित हूँ"—ऐसी निश्चयदृष्टि नहीं करता और उद्यमी नहीं होता, वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

नवतत्त्वोंमें चारित्र संवर-निर्जरामें आता है। अज्ञानी भक्ति, पूजामें संतोष मानता है। लाखों रुपये मन्दिरमें देने से भी धर्म नहीं होता। रुपयोंका आना-जाना तो जड़की क्रिया है और कषायकी मन्दता करे तो पुण्य है। पुण्य से रहित आत्माकी श्रद्धा करे तो धर्म है। अज्ञानी जीवने सत्यमार्गके सम्बन्धमें प्रयत्न नहीं किया है। आत्मा ज्ञानानन्द है, पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है, पुण्यभाव अपराध है। ध्रुवस्वभाव निर्दोष है; जो उसकी रुचि नहीं करता वह व्यवहाराभासी है।

वर्तमानमें भगवान श्री सीमंधर स्वामी भी दिव्य वाणी द्वारा यही बात कहते हैं। अज्ञानी जीव सच्चे मोक्षमार्गमें उद्यमी नहीं है। आत्मा शुद्ध निर्विकल्प है ऐसी दृष्टि, ज्ञान और स्थिरता नहीं की है और व्यवहारमें धर्म मान लिया है वैसे जीवको मोक्षमार्ग सन्मुख करने के लिये उसकी शुभराग रूप मिथ्या प्रवृत्ति-जिसमें धर्म मानते हैं उसका निषेध करते हैं। आत्माका भान नहीं है और शुभसे धर्म मानकर संतुष्ट होता है इसलिये उसकी प्रवृत्ति मिथ्या है। निश्चयके भान बिना व्यवहार व्यवहार भी नहीं रहता। हमारा आशय ऐसा

नहीं है कि शुभ छोड़कर अशुभ करो; अगर तुम ऐसा करोगे तो तुम्हारा बुरा होगा, किन्तु यथार्थ श्रद्धा करोगे तो कल्याण होगा। आत्माका त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है ऐसी यथार्थ श्रद्धा करोगे तो तुम्हारा भला होगा। पुण्य छोड़कर पापमें लगोगे तो भला नहीं होगा और पुण्य को धर्म मानोगे तो भी भला नहीं होगा। स्वभाव की दृष्टिमें धर्म है।

"आत्मभ्रान्ति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान;
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार ध्यान।"

पुण्यसे और परसे कल्याण होगा यह महान् भ्रांति है। शरीर का रोग पुण्यसे मिट जाता है किन्तु वह सच्चा रोग नहीं है। चिदानन्द आत्मामें विकार होता है, उस विकारसे कल्याण होगा ऐसी मान्यता वह महान रोग है, वह क्षय–रोग है, इसलिये यथार्थ श्रद्धान करके मोक्षमार्गमें प्रवर्तन करोगे तो तुम्हारा भला होगा। यहाँ दृष्टान्त देते हैं कि—जिसप्रकार कोई रोगी निर्गुण औषधिका निषेध सुनकर, औषधिसाधन छोड़कर यदि कुपथ्य सेवन करे तो वह मरता है। सच्चे वैद्यको छोड़कर कुपथ्य सेवन करेगा तो मर जायेगा, उसमें वैद्यका दोष नहीं है। उसीप्रकार कोई संसारी जीव पुण्यरूप धर्मका निषेध सुनकर धर्म–साधन छोड़ देगा और विषय कषायमें प्रवर्तन करेगा तो नरकादि दुःखों को प्राप्त होगा। आत्मा में होनेवाली सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रदशा आत्माको लाभकारी है। पुण्य–परिणाम निर्गुण हैं, मोक्षमार्गको लाभकर्ता नहीं हैं, बन्धके कारण हैं; उनसे जन्म–मरणका अन्त नहीं आता। शुद्ध चिदानन्द की दृष्टिके बिना धर्म नहीं होता। पुण्यको निर्गुण औषधि कहा है।

पर्यायमें पुण्य होता है वह विपरीत परिणाम है, उससे आत्माको लाभ नहीं होता; क्योंकि पुण्यसे धर्मरूपी गुण नहीं होता।

पुण्यसे स्वर्ग प्राप्त करके सीमंधर भगवानके पास जायेंगे;—ऐसा मानने वाले की दृष्टि संयोग पर है; वहाँ जाकर भी वही बुद्धि रखने वाला है। शुद्ध चिदानन्द की दृष्टि नहीं की इसलिये समवशरण में जाने पर भी भगवानकी वाणीका रहस्य नहीं समझा। पुण्य छुड़ाकर पाप करानेका अभिप्राय नहीं है। अज्ञानी पुण्यसे धर्म मानता है इसलिये पुण्यका धर्मके कारणरूपसे निषेध किया है। कोई विपरीत समझे तो उसमें उपदेशकका दोष नहीं है। उपदेशकका अभिप्राय सच्ची श्रद्धा कराके असत् श्रद्धा, असत् ज्ञान और असत् आचरण छुड़ानेका है। सम्यग्दर्शनके बिना बाह्य–चारित्र अरण्यरोदनके समान है; उससे जन्म–मरणका नाश नहीं होगा। आत्मा ज्ञायक चिदानन्द है; पर्याय में पुण्य–पापके परिणाम होते हैं वे व्यर्थ हैं—अनावश्यक है; उनसे रहित आत्माकी दृष्टि न करे तो धर्म नहीं होता। उपदेश देनेवाले का अभिप्राय असत्य श्रद्धा छुड़ाकर मोक्षमार्गमें लगाने का है। यात्रा और दया–दानादिके परिणाम छुड़ाकर व्यापारादि के पापभाव करानेका अभिप्राय नहीं है; किन्तु अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि दया–दान करते–करते धर्म होगा, उसकी असत्य श्रद्धा का निषेध कराते हैं।

आत्माके भान बिना व्यवहार सच्चा नहीं है। निश्चयस्वभाव आदरणीय है और व्यवहार जानने योग्य है; व्यवहार आदरणीय नहीं है। हमारा तो मोक्षमार्ग में लगाने का अभिप्राय है और ऐसे अभिप्राय से ही यहाँ निरूपण करते हैं।

पुनश्च, कोई जीव तो कुलक्रम द्वारा ही जैनी है। अन्तर्जैन की खबर नहीं है और बाह्यमें जैन नाम धारण कर रखे; तो कहीं जैन-कुल में जन्म लेने से जैन नहीं हो जाता। उसे जैनदर्शन की खबर नहीं है किन्तु वह अपने को कुलक्रम से जैनी हुआ मानता है, किन्तु वास्तव में तो आत्मा ज्ञानानन्द है;—इसप्रकार पहिचान कर पर्याय में होने वाले विकार को द्रव्यदृष्टि द्वारा नाश करे वह जैन है। हमारे बापदादा जैन थे इसलिये हम भी जैन हैं—ऐसा कोई कहे तो वह सच्चा जैनी नहीं है। अन्तर्दृष्टि से ही जैनी हुआ जाता है।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ३ सोमवार ता० १६-२-५३]

कुलक्रम से धर्म नहीं होता

दिगम्बर जैन होने पर भी व्यवहाराभास को माननेवाले जीव एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं। यहाँ कोई जीव तो कुलक्रम द्वारा ही जैन हैं, किन्तु जैनधर्मका स्वरूप नहीं जानते। वे ऐसा मानते हैं कि हम तो कुल परम्परासे जैन हैं। जिसप्रकार अन्यमती वेदान्ती, मुसलमान आदि कुलक्रमसे वर्तते हैं उसीप्रकार यह भी वर्तते हैं। यदि कुल परम्परासे धर्म हो तो मुसलमान आदि सभी धर्मात्मा सिद्ध होते हैं, तब फिर जैनधर्मकी विशिष्टता क्या ? कहा है कि:—

लोयम्मि रायणीई णायं ण कुलकम्म कइयावि।
किं पुण तिलोयपहुणो जिणंदधम्माहिगारम्मि॥

लोकमें ऐसी राजनीति है कि कुलक्रम द्वारा कभी भी न्याय नहीं होता। जिसका कुल चोर है उसे चोरीके मामलेमें पकड़ते हैं; तो वहाँ कुलक्रम जानकर छोड़ नहीं देते किन्तु दण्ड ही देते हैं। तो

फिर सर्वज्ञ भगवानके धर्म–अधिकारमें क्या कुलक्रमानुसार न्याय संभव है ? जैन कुलमें जन्म लेकर जो जैनधर्मकी परीक्षा नहीं करता वह व्यवहाराभासी है। जैनधर्ममें परीक्षा करना चाहिये। पिता निर्धन हो और स्वयं धनवान हो जाये तो पिता निर्धन था इसलिये धन को छोड़ नहीं देता। जब व्यवहार में कुल का प्रयोजन नहीं है, तो फिर धर्म में कुलका प्रयोजन कैसा ? पिता नरक में जाता है और पुत्र मोक्ष में; तो कुल की परम्परा किस प्रकार रही ? कुलक्रम की परम्परा हो तो पिताके पीछे पुत्रको भी नरक में जाना पड़ेगा; किन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिये धर्म में कुलक्रम की आवश्यकता नहीं है।

अष्टसहस्री में कहा है कि जीवको परीक्षाप्रधानी होना चाहिये। अकेले आज्ञाप्रधानीपने द्वारा नहीं चल सकता। अनेक लोग कहते हैं कि निमित्त से धर्म होता है, व्यवहार से धर्म होता है, इसलिये हम मानते हैं; किन्तु ऐसा नहीं चल सकता; परीक्षा करना चाहिये।

पुनश्च, जो शास्त्रोंके अन्य–विपरीत अर्थ लिखते हैं वे पापी हैं। दिगम्बर शास्त्रके नामसे देवीकी पूजा करना, क्षेत्रपाल की पूजा करना वह विपरीत प्रवृत्ति है। पापी पुरुषों ने कुदेव की प्ररूपणा की है। जिसे आत्माका भान नहीं है और उद्देशिक आहार लेता है, मुनिके लिये ही पानी गर्म करना; केला, मोसम्बी आदि लाना यह न्याय नहीं है। आहार देने और लेने वाले दोनों की भूल है। ऐसा उद्देशिक आहार लेने पर भी जो मुनिपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानियों ने ऐसी प्रवृत्ति चलाई है। निर्ग्रंथ मुनि को सहज नग्नदशा होती है; वे निर्दोष आहार लेते हैं। प्राण चले जायें किन्तु दोषयुक्त आहार न लें–ऐसी मुनि की रीति है; तथापि मुनिका स्वरूप

न समझें और उद्देशिक आहार लें वे सच्चे गुरु नहीं हैं। इसप्रकार विषय–कषाय पोषणादिरूप विपरीत प्रवृत्ति चलाई हो उसे छोड़ देना चाहिये। दिगम्बर जैनधर्म में जन्म लेने पर भी कुदेव, कुगुरु की मान्यता चलाई हो तो उसे छोड़ देना चाहिये। व्यवहार से धर्म मनाया हो तो वह कुधर्म है; वह मान्यता छोड़कर जिनआज्ञानुसार प्रवर्तना योग्य है।

प्रश्नः–हमारी दिगम्बर–परम्परा इसीप्रकार चलती हो तो क्या करें? पाँचवें अधिकार में श्वेताम्बर और स्थानकवासी की बात आ चुकी है; यहाँ तो दिगम्बर सम्प्रदाय की बात करते हैं। हमें कुल-परम्परा छोड़कर नवीन मार्ग में प्रवर्तना योग्य नहीं है।

समाधानः–अपनी बुद्धिसे नवीन मार्ग में प्रवर्तन करे तो वह योग्य नहीं है; किन्तु जो यथार्थ वस्तुस्वरूपका निरूपण करे वह नवीन मार्ग नहीं है। स्वभावसे धर्म है और रागसे धर्म नहीं है—ऐसा समझना चाहिये।

"रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जाहिं पै वचन न जाई" ऐसा अन्यमत में कहते हैं। इसीप्रकार "जैनधर्म रीति सदा चलि आई, प्राण जाहिं पै धर्म न जाई!"—ऐसा समझना चाहिये। श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने जैनधर्मका जैसा स्वरूप कहा है वह यथार्थ है।

केवली भगवान को रोग, उपसर्ग, क्षुधा, कवलाहारादि मानें, क्रमिक उपयोग मानें; वस्त्र सहित मुनिपना अथवा स्त्री को केवलज्ञान मानें वह योग्य नहीं है। जैसा शास्त्रमें लिखा है उसे छोड़कर कोई पापी पुरुष कुछ दूसरा ही कहे तो वह योग्य नहीं है। सर्वज्ञकी वाणी अनुसार पुष्पदन्त, भूतबलि आदि आचार्योंने षट्खण्डागम की

रचना की है; उसमें फेरफार करना योग्य नहीं है। लिखनेमें लेखक की कोई भूल रह गई हो तो सुधारी जा सकती है; किन्तु प्रयोजन-भूत बात में आचार्यों की कोई भूल नहीं है। द्रव्य–स्त्री को कभी छट्ठा गुणस्थान नहीं आता; तथापि उससे विरुद्ध कहे और फेरफार करे वह पापी है।

द्रव्य संग्रह में मार्गणा की बात आती है, वह जीव की भाव-मार्गणा है; द्रव्यमार्गणा की बात नहीं है। जीव किस गति आदि में है उसे खोजने की भावमार्गणा की बात है; तथापि उससे विरुद्ध मानना मिथ्याप्रवृत्ति है। पुरातन जैन शास्त्र, धवल, महाधवल, समय-सारादि के अनुसार प्रवर्तन करना योग्य है। वह नवीन मार्ग नहीं है। परम्परा सत्य का बराबर निर्णय करना चाहिये।

कुल परम्परा की बात चली आ रही है इसलिये नहीं, किन्तु सर्वज्ञ कहते हैं और तदनुसार सत्य है इसलिये अंगीकार करना चाहिये। कुल का आग्रह नहीं रखना चाहिये। जिनआज्ञा कुल-परम्परा विरुद्ध हो तो कुलपरम्परा को छोड़ देना चाहिये। जो कुल के भय से करता है उसके धर्मबुद्धि नहीं है। लग्नादि में कुलक्रम का विचार करना चाहिये किन्तु धर्म में कुल परम्परानुसार चलना योग्य नहीं है। धर्म की परीक्षा करनी चाहिये। घरके बड़े बूढ़े कहते हैं इसलिये धर्म का पालन करना चाहिये, यह ठीक नहीं है। मिट्टी का बर्तन लेने जाता है वह भी ठोक बजाकर लेता है; उसीप्रकार धर्म की परीक्षा करनी चाहिये।

मात्र आज्ञानुसारी सच्चे जैन नहीं हैं

जो कुलक्रमानुसार चलता है वह व्यवहाराभासी है। यह बात कही जा चुकी है। अब दूसरी बात कहते हैं:–कोई आज्ञानुसारी जैन

हैं। वे शास्त्रमें जैसी आज्ञा है वैसा ही मानते हैं; किन्तु स्वयं आज्ञा की परीक्षा नहीं करते। सर्व मतानुयायी अपने—अपने धर्म की आज्ञा मानते हैं, तो सबको धर्म मानना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं है। निर्णय करके ही धर्म को मानना चाहिये। भगवान के कथन मात्रसे नहीं, किन्तु वीतरागी विज्ञान की परीक्षा करके जिनआज्ञा मानना योग्य है। परीक्षा के बिना सत्य—असत्य का निर्णय कैसे हो सकता है? निर्णयके बिना शास्त्र को माने तो अन्यमती की भाँति आज्ञा का पालन किया। धर्म क्या है, वह सब निर्णयपूर्वक मानना चाहिये। मात्र दिगम्बर का पक्ष लेकर नहीं मानना चाहिये। ऐसा निर्णय करना चाहिये कि शुभाशुभ रागादि विकार हैं धर्म नहीं हैं और ध्रुव स्वभाव विकार रहित है उससे धर्म होता है। निर्णय किये बिना जिसप्रकार अन्यमती अपने शास्त्र की आज्ञा मानते हैं, उसीप्रकार यह भी जैन शास्त्रों की आज्ञा माने तो वह पक्ष द्वारा ही आज्ञा मानने जैसा है।

प्रश्नः—शास्त्रमें सम्यक्त्वके दस प्रकारों में आज्ञा—सम्यक्त्व कहा है। भगवान ने जो स्वरूप कहा है उसमें शङ्का नहीं करना चाहिये; तथा आज्ञा विचयको धर्मध्यान भेद कहा है और निःशंकित अंगमें जिनवचनमें संशय करने का निषेध किया है—वह किस प्रकार?

उत्तरः—शास्त्रके किसी कथनकी प्रत्यक्ष—अनुमानादि द्वारा परीक्षा की जा सकती है और कोई बात ऐसी है कि जो प्रत्यक्ष—अनुमानादि गोचर नहीं है। अज्ञानी कहते हैं कि पानी अग्निसे प्रत्यक्ष उष्ण होता है, किन्तु वह भूल है। पानी के स्पर्श गुणकी उष्णतारूप अवस्था होती है वह प्रत्यक्ष है, उसे अज्ञानी नहीं देखता। पानी के

परमाणुओं में प्रतिसमय उत्पाद–व्यय–ध्रुव होता रहता है। स्व-शक्ति के कारण शीत अवस्था का व्यय होकर उष्ण अवस्था का उत्पाद होता है और स्पर्श–गुण ध्रुव रहता है। अग्नि और पानीमें अन्योन्य अभाव है। अग्निके कारण पानी उष्ण नहीं होता वह प्रत्यक्ष है।—ऐसा निर्णय करना चाहिये; किन्तु पर्यायमें अविभाग प्रतिच्छेद आदि की समझ न पड़े तो वह आज्ञासे मानना चाहिये; किन्तु जो पदार्थ समझमें आये उसकी तो परीक्षा करना चाहिये।

जिस शास्त्रमें प्रयोजनभूत बात सच्ची हो उसकी अप्रयोजनभूत बात भी सच्ची समझना चाहिये; और जिस शास्त्रमें प्रयोजनभूत बात में भूल हो उसकी सारी बात अप्रमाण मानना चाहिये।

प्रश्न:—परीक्षा करते समय कोई कथन किसी शास्त्रमें प्रमाण भासित हो, तथा कोई कथन किसी शास्त्रमें अप्रमाण भासित हो तो क्या किया जाये?

उत्तर:—सर्वज्ञकी वाणी अनुसार शास्त्रमें कुछ भी विरुद्ध नहीं है; क्योंकि जिसमें पूर्ण ज्ञातृत्व ही न हो अथवा राग द्वेष हो वही असत्य कहेगा। वीतराग सर्वज्ञ देवमें ऐसा दोष नहीं हो सकता। तूने अच्छी तरह परीक्षा नहीं की है इसीलिये तुझे भ्रम है।

प्रश्न:—छद्मस्थसे अन्यथा परीक्षा हो जाये तो क्या करना चाहिये?

उत्तर:—सत्य–असत्य दोनों वस्तुओंको मिलाकर परीक्षा करना चाहिये। सुवर्ण, वस्त्रादि लेते समय परीक्षा करता है, उसीप्रकार शास्त्रकी आज्ञाका मिलान करना चाहिये; सत्य–असत्यको मिलाकर प्रमाद छोड़कर परीक्षा करना चाहिये। ऐसा नहीं है कि जिस सम्प्रदायमें जन्म लिया उसीकी बात सच्ची हो। जहाँ पक्षपातके कारण अच्छी तरह परीक्षा नहीं की जाती वहीं अन्यथा परीक्षा होती है।

प्रश्न:—शास्त्रमें परस्पर विरुद्ध कथन तो अनेक हैं, फिर किस-किसकी परीक्षा करें ?

उत्तर:—मोक्षमार्गमें देव–गुरु–धर्म, निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध, जीवादि नव तत्त्व तथा बन्ध–मोक्षमार्ग प्रयोजनभूत है; इसलिये उसकी परीक्षा तो अवश्य करना चाहिये और जिन शास्त्रों में उनका सत्य कथन हो उनकी सर्व आज्ञा मानना चाहिये; तथा जिनमें उनकी अन्यथा प्ररूपणा हो उनकी आज्ञा नहीं मानना चाहिये। मोक्षमार्गमें देवकी परीक्षा करना चाहिये। सर्वज्ञको ज्ञान–दर्शन दोनों उपयोगोंका पूर्ण परिणमन एक ही समयमें है। कोई क्रमपूर्वक उपयोग माने और केवलीको आहार माने वह सर्वज्ञको नहीं समझता। आत्माके भान पूर्वक जो अन्तरमें लीनता करे और बाह्य से २८ मूल गुणोंका पालन करे, तथा जिसके शरीरकी नग्नदशा हो वह मुनि है। इसप्रकार मुनिका स्वरूप समझना चाहिये। धर्म की परीक्षा करना चाहिये। भूतार्थ स्वभावके आश्रयसे ही धर्म होता है; उचित निमित्त–व्यवहार होता है किन्तु व्यवहारसे धर्म नहीं होता—ऐसा समझना चाहिये। मोक्षमार्गमें देव–गुरु–धर्मकी परीक्षा करना चाहिये; वह मूलधन है। कोई जीव व्याज दे किन्तु मूलधन न दे, तो वह मूलधनको उड़ाता है; उसीप्रकार यहाँ यह मूलधन है। दिगम्बर सम्प्रदायमें जन्म लेने मात्रसे काम नहीं चल सकता; परीक्षा करना चाहिये। जो व्यवहारसे और बाह्य लक्षणसे देव–गुरु–शास्त्रकी परीक्षा नहीं करता, उसका गृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ है—ऐसा श्री भागचन्द्रजी "सत्ता स्वरूप" में कहते हैं। देव, गुरु और धर्मका स्वरूप जानना चाहिये।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ४ मंगलवार, ता० १७-२-५३]

तत्त्वकी परीक्षा करना चाहिये। जीव द्रव्यलिंगधारी मुनि और श्रावक अनन्तबार हुआ, किन्तु आत्मज्ञानके बिना सुख प्राप्त नहीं हुआ।

प्रश्न:—कुन्दकुन्दाचार्य तो ज्ञानी थे, फिर भी विदेहमें क्यों गये थे ?

उत्तर:—कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रथम तत्त्वकी परीक्षा तो की थी और उन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र था। तत्त्वके किसी सूक्ष्म पक्षका निर्णय करने के लिये अथवा दृढ़ताके लिये ऐसा विकल्प आया था। सूक्ष्म बात की विशेष निर्मलताके लिये गये थे। उन्हें सम्यग्दर्शन तो था ही, प्रयोजनभूत मूलभूत तत्त्वकी परीक्षा पहले से की थी।

यहाँ कहते हैं कि—देव-गुरुकी परीक्षा करना चाहिये। श्वेताम्बर कहते हैं कि देवको क्षुधा-तृषा लगती है, किन्तु देवका वैसा स्वरूप नहीं है; परीक्षा करना चाहिये। परीक्षा किये बिना माने तो मिथ्यादृष्टि है। गुरुकी परीक्षा करना चाहिये। अपने-अपने देव-गुरु सच्चे हैं—ऐसा सभी सम्प्रदायवाले कहते हैं; किन्तु ऐसा नहीं चल सकता; परीक्षा करना चाहिये।

जिस शास्त्रमें प्रयोजनभूत बात सत्य हो, उसकी सर्व आज्ञा मानना चाहिये। जिसमें देव-गुरु-शास्त्र, नवतत्त्व, बन्ध-मोक्षमार्ग की विपरीत बात लिखी हो उनकी आज्ञा नहीं मानना चाहिये। इसलिये मात्र कुल रूढ़िसे मानना योग्य नहीं है। पुनश्च, जिसप्रकार लोकमें जो पुरुष प्रयोजनभूत कार्योंमें झूठ नहीं बोलता वह प्रयोजन रहित कार्योंमें कैसे झूठ बोलेगा ? उसीप्रकार शास्त्रों में प्रयोजनभूत देवादिक का स्वरूप, नवतत्त्वोंका स्वरूप यथार्थ कहा है; तो फिर समुद्र पर्वत आदि अप्रयोजनभूत बात असत्य कैसे कहेंगे ? और प्रयो-

जनभूत देव गुरुका विपरीत कथन करनेसे तो वक्ताके विषय-कषाय का पोषण होता है।

प्रश्न:—विषय-कषायसे देवादिकका कथन तो अन्यथा किया, किन्तु उन्हीं शास्त्रोंमें दूसरे कथन किसलिये अन्यथा किये हैं ?

उत्तर:—यदि एक ही कथन अन्यथा करे तो उसका अन्यथापना तुरन्त प्रगट हो जायेगा, तथा भिन्न पद्धति भी सिद्ध नहीं होगी; किन्तु अनेक अन्यथा कथन करने से भिन्न पद्धति भी सिद्ध होगी और तुच्छ बुद्धि लोग भ्रममें भी पड़ जायेंगे। अपने बनाये हुए शास्त्रोंमें अपनी बात चलाने के लिये कुछ सत्य कहा और कुछ असत्य कहा; किन्तु वह वीतरागकी बात नहीं है सत्यार्थ स्वभावके आश्रयसे कल्याण होता है; निमित्त और रागसे कल्याण नहीं होता।—इसप्रकार परीक्षा करना चाहिये।

परीक्षा करके आज्ञा मानना वह आज्ञासम्यक्त्व है

अब, ऐसी परीक्षा करने से एक जैनमत ही सत्य भासित होता है। सर्वज्ञ परमात्माकी ध्वनिमें जो मार्ग आया वह यथार्थ है। सात तत्त्व; उपादान-निमित्त आदिका स्वरूप आया वह सत्य है। जैन मतके वक्ता श्री सर्वज्ञ वीतराग हैं; वे झूठ किसलिये कहेंगे ? इस-प्रकार परीक्षा करके आज्ञा माने तो वह सत्य श्रद्धान है और उसीका नाम आज्ञा-सम्यक्त्व है। परीक्षा किए बिना माने तो उसने सच्ची आज्ञा नहीं मानी।

और जहां एकाग्र चिन्तवन हो उसका नाम आज्ञा-विचय धर्म-ध्यान है। यदि ऐसा न मानें और परीक्षा किये बिना मात्र आज्ञा मानने से ही सम्यक्त्व या धर्मध्यान हो जाता हो तो जीव अनन्तबार मुनिव्रत धारण करके द्रव्यलिंगी मुनि हुआ; किन्तु आत्मभानके बिना

सुखी न हो सका। देहको क्रियासे और पुण्यसे धर्म मानता है, इसलिये वह मिथ्यात्व द्वारा दुःखी हुआ। मात्र आज्ञा मानने से धर्म होता हो तो द्रव्यलिंगी मुनि ने आज्ञा का पालन किया है, किन्तु परीक्षा नहीं की। आज्ञा मानने से धर्म होता हो तो द्रव्यलिंगीको धर्म होना चाहिये; किन्तु उसने यह नहीं जाना कि भगवानकी आज्ञा क्या है और आगमकी क्या है; उसका निर्णय नहीं किया। सर्वज्ञकी व्यवहार आज्ञाका पालन किया किन्तु "मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ" उसकी दृष्टि करके अनुभव करना वह अनुभूति है;—ऐसी वास्तविक सच्ची आज्ञा नहीं मानी। उसने निश्चय और व्यवहारकी परीक्षा नहीं की। मात्र व्यवहार आज्ञानुसार क्रियाकांड करता है। पंच महाव्रत पालन करना आदि परिणाम किये हैं किन्तु रागरहित आत्मा ज्ञानानन्द है—ऐसी निश्चयकी परीक्षा नहीं की। व्यवहार आज्ञानुसार साधन करता है, पंचमहाव्रत पालता है; शरीरके खण्ड-खण्ड होने पर भी क्रोध न करे इसप्रकार व्यवहार आज्ञा पालन की, नववें ग्रैवेयक में ३१ सागर की स्थिति तक रहा, किन्तु परीक्षा करके अन्तरंग निश्चयका भावभासन नहीं किया।

आत्मा जड़की क्रियाका और रागका ज्ञाता है; वैसी दृष्टि नहीं हुई उसकी बात करते हैं। जिसका व्यवहार श्रद्धान सच्चा नहीं है उसके व्यवहार और निमित्त दोनों मिथ्या हैं। यहाँ तो, मूलगुणका पालन जिन आज्ञानुसार करे, एकबार निर्दोष आहार ले, उद्देशिक आहार न ले, उसकी बात है। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि को व्यवहार श्रद्धा है; वीतराग देवके अतिरिक्त दूसरे को नहीं मानता; किन्तु परीक्षा नहीं की है, मात्र आज्ञाका पालन किया है। आज्ञा माननेसे सम्यग्दर्शन होता हो तो वह मिथ्यादृष्टि क्यों रहे ? इसलिये

प्रयोजनभूत बात सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रादि तथा बन्ध–मोक्ष और उसके कारणों की अवश्य परीक्षा करना चाहिये।—इसप्रकार परीक्षा करके आज्ञा माने तो आज्ञासम्यक्त्वी होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्म लिया इसलिये श्रावक हुए; किन्तु वह बात मिथ्या है। पहले परीक्षा करके आज्ञा माने तो सम्यक्त्व होता है और फिर श्रावक तथा मुनिदशा प्रगट होती है। कुन्दकुन्दाचार्यादि मुनि और दीपचन्दजी आदि ऐसा कहते हैं कि परीक्षा करो और फिर मानो। सच्चेदेव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा निश्चय सम्यक्त्व नहीं है; किन्तु आत्मा का भान करे तो उस श्रद्धा को व्यवहारश्रद्धा कहते हैं; इसलिये परीक्षा करके आज्ञा मानते ही सम्यक्त्व अथवा धर्मध्यान होता है। लोक में भी किसी प्रकार परीक्षा करके पुरुष की प्रतीति करते हैं। धर्म में परीक्षा न करे तो स्वयं ठगा जाता है। और तूने कहा कि जिनवचन में संशय करने से सम्यक्त्व में शंका नामका दोष आता है; किन्तु "न जाने यह कैसा होगा?"—ऐसा मानकर कोई निर्णय ही न करे तो वहाँ शंका नामका दोष होता है। निर्णय के लिये विचार करते ही सम्यक्त्वमें दोष लगे तो अष्टसहस्रीमें आज्ञाप्रधानी की अपेक्षा परीक्षाप्रधानी को क्यों अच्छा कहा? निर्णय करे तो शंका दोष लगता है।

पुनश्च, पृच्छना स्वाध्याय का अंग है। मुनि भी प्रश्न पूछते हैं। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र किसे कहते हैं, आदि प्रश्न पूछना वह स्वाध्याय का अंग है। और प्रमाण-नय द्वारा पदार्थों का निर्णय करने का उपदेश दिया है। निश्चय और व्यवहारनय से तथा प्रमाण से और चार निक्षेपों से निर्णय करना चाहिये। यदि आज्ञा से धर्म

होता हो तो परीक्षा करने को किसलिये कहा ? इसलिये परीक्षा करके आज्ञा मानना योग्य है।

तीर्थंकर और गणधर के नाम से लिखे हुए कल्पित शास्त्रों की परीक्षा करके श्रद्धा छोड़ना चाहिये।

और कोई पापी पुरुष आचार्य का नाम रखकर कल्पित बात करे तथा उसे जिनवचन कहे तो उसे प्रमाण नहीं करना चाहिये। कोई जीव पुण्य से धर्म मनाये, निमित्त से कार्य का होना मनाये तथा वैसे शास्त्रों को जैनमत का शास्त्र कहे तो वहाँ परीक्षा करना चाहिये, परस्पर विधि का मिलान करना चाहिये। आजकल भगवान और आचार्य के नाम से मिथ्या शास्त्र लिखे गये हैं; इसलिये परीक्षा करना चाहिये। किसी के कहने से नहीं किन्तु परीक्षासे मानना चाहिये। परस्पर शास्त्रों से विधि मिलाकर इसप्रकार सम्भवित है या नहीं ?—ऐसा विचार करके विरुद्ध अर्थ को मिथ्या समझना। जैसे कोई ठग अपने पत्र में किसी साहूकार के नाम की हुण्डी लिख दे, और नामके भ्रम से कोई अपना धन दे दे, तो वह दरिद्र हो जायेगा; उसीप्रकार भगवान या आचार्य के नाम से अपना मत चलाने के लिये शास्त्रों से विरुद्ध लिखे तो वह पापी है। व्यवहार से धर्म मनाये, प्रतिमा को श्रृंगार वाला कहे वह पापी है। मिथ्यादृष्टि जीवों ने शास्त्र बनाये हों तथा शास्त्रकर्ता का नाम जिन, गणधर अथवा आचार्य का रक्खा हो, और नामके भ्रम से कोई मिथ्या श्रद्धान कर ले तो वह मिथ्यादृष्टि ही होगा।

शुभराग से संसार परित (लघु—मर्यादित) नहीं होता

श्वेताम्बर के ज्ञातासूत्र में कहा है कि मेघकुमार के जीव ने

हाथी के भव में खरगोश की दया पाली इससे उसका संसार परित हुआ; किन्तु दयाभाव तो शुभपरिणाम है उससे संसार परित नहीं होता; इसलिये वह बात मिथ्या है। आत्मभान के बिना सब व्यर्थ है। शुभराग से पुण्य है धर्म नहीं है। शुभ में धर्म मनाये और वीतराग का नाम लिखे और उस नाम से कोई ठगा जाये तो वह मिथ्यादृष्टि होगा। सर्वज्ञ को उपसर्ग क्षुधा, तृषा और शरीर में रोग नहीं होता, निहार नहीं होता। तीर्थंकर को जन्म से ही निहार नहीं होता और केवलज्ञान के पश्चात् आहार निहार दोनों नहीं होते—ऐसा जानना चाहिये। आत्मभान वाले नग्न दिगम्बर निर्ग्रंथ गुरु ही सच्चे गुरु हैं।

प्रश्न:—गोम्मटसार में ऐसा कहा है कि—सम्यग्दृष्टि जीव अज्ञानी गुरुके निमित्तसे मिथ्या श्रद्धान करे, तथापि वह आज्ञा मानने से सम्यग्दृष्टि ही होता है।—यह कथन कैसे किया है?

उत्तर:—जो प्रत्यक्ष–अनुमानादि गोचर नहीं है तथा सूक्ष्मपने से जिसका निर्णय नहीं हो सकता उसकी बात है; किन्तु देव, गुरु, शास्त्र तथा जीवादि तत्त्वका निर्णय हो सकता है। मूलभूत बातमें ज्ञानी पुरुषोंके कथनमें फेर नहीं होता। जिसकी मूलभूत बातमें फेर हो वह ज्ञानी नहीं है।

जड़से आत्माको लाभ होता है, आत्मासे शरीर चलता है;—ऐसा माननेवाले को सात तत्त्वोंकी खबर नहीं है। जड़की पर्याय जड़ से होती है, तथापि आत्मासे होती है—ऐसा मानना मूलभूत भूल है। पुण्य–आश्रवसे धर्म होता है, निमित्तसे उपादानमें विलक्षणता होती है—ऐसा माननेवाले की मूलभूत तत्त्वमें भूल है। जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि सात तत्त्व स्वतंत्र

हैं; तथापि कर्मसे विकार माने, जड़की पर्यायका जीवसे होना माने, अग्निसे पानी गर्म होता है ऐसा माने तो सात तत्त्व नहीं रहते। अजीव में अनन्त पुद्गल स्वतंत्र हैं, ऐसा न माने तो अजीव स्वतंत्र नहीं रहता। मूलभूतमें भूल करे तो सम्यग्दर्शन सर्वथा नहीं रहता– ऐसा निश्चय करना चाहिये। परीक्षा किये बिना मात्र आज्ञा द्वारा ही जो जैनी है उसे भी मिथ्यादृष्टि समझना; इसलिये परीक्षा करके वीतरागकी आज्ञा मानना चाहिये।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ५ बुधवार, ता० १८–२–५३]

पुनश्च, कोई परीक्षा करके जैनी होता है; किन्तु देव–गुरु–शास्त्र किन्हें कहा जाये ? नव तत्त्व किन्हें कहना चाहिये ?—ऐसी मूल बात की परीक्षा नहीं करता। मात्र दया पालन करे, शील पाले, तो वह मूलधर्म नहीं है। दया का भाव तो कषायमन्दता है; शील अर्थात् ब्रह्मचर्य पालन करता है, किन्तु वह मूल परीक्षा नहीं है। ऐसी दया और शीलका पालन तो अन्यमती भी करते हैं। तपादि द्वारा परीक्षा करे तो वह मूल परीक्षा नहीं है। हमारे भगवान ने तप किया था और संयम पाला था—वह मूल परीक्षा नहीं है। भगवानकी पूजा-स्तवन करता है इसलिये धर्मात्मा है यह भी परीक्षा नहीं है। विशाल-जिनमन्दिर बनवाये, प्रभावना करे, पंचकल्याणक रचाये वह भी धर्मी की परीक्षा नहीं है; वह तो पुण्य परिणामोंकी बात है। ऐसी बातें तो जैनके अतिरिक्त अन्य मतोंमें भी हैं। पुनश्च, अतिशय चमत्कारसे भी धर्मकी परीक्षा नहीं है। व्यंतर भी चमत्कार करते हैं। हमारे भगवान पुत्र प्रदान करते हैं और चमत्कार बतलाते हैं

वह परीक्षा नहीं है। जैन धर्मका पालन करेंगे तो स्वर्गकी प्राप्ति होगी, धन मिलेगा ऐसा मानकर जैनधर्म की परीक्षा करे तो वह मिथ्यादृष्टि है। इन कारणों से जैनमत को उत्तम जानकर कोई प्रीतिवान होता है; किन्तु ऐसे कार्य तो अन्य मतमें भी होते हैं। अन्य मतमें भी संयम, तप, इन्द्रियदमन, ब्रह्मचर्य पालन करते हैं; इसलिये वह सच्ची परीक्षा नहीं है; उसमें अतिव्याप्ति दोष आता है; इसलिये वह धर्मकी परीक्षा नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है; पर्याय में विकार होता है, विकार में परवस्तु निमित्त है; विकार रहित आत्मा शुद्ध है;—ऐसा भान होना वह जैनधर्म है।

पर जीवों की दया पालन करना आदि जैनधर्म का सच्चा लक्षण नहीं है।

प्रश्नः—जैनमत में जैसी प्रभावना, संयम, तप आदि होते हैं वैसे अन्य मतमें नहीं होते, इसलिये वहाँ अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

समाधानः—यह तो सच है; किन्तु तुम पर जीव की दया पालन करने को जैनधर्म कहते हो उसी प्रकार दूसरे भी कहते हैं। वास्तवमें तो आत्मा पर की दया पाल ही नहीं सकता—ऐसा समझना चाहिये। आत्मा पर जीव की रक्षा कर सकता है ऐसा माननेवाला जैन नहीं है। वीतराग स्वभावकी प्रतीति पूर्वक पर्यायमें राग की उत्पत्ति न हो उसे दया कहते हैं। यहाँ परीक्षा करने को कहते हैं। पर जीव उसकी अपनी आयु के कारण जीता है और आयु पूर्ण होने पर मृत्यु होती है; तथापि अज्ञानी जीव मानता है कि मैं पर को बचा या मार सकता हूँ। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है, वह पर का कुछ नहीं कर

सकता। आत्माके भान पूर्वक अराग परिणामोंका होना वह निश्चय-दया है, और शुभ भाव व्यवहार–दया है। अशुभ या शुभ भाव निश्चयसे हिंसा ही है। शरीर से ब्रह्मचर्यका पालन करना वह सच्चा ब्रह्मचर्य नहीं है, ऐसा ब्रह्मचर्य तो अन्य मतावलम्बी भी पालते हैं। आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है। उसकी दृष्टि रखकर उसमें लीनता करना सो ब्रह्मचर्य है। और आहार न लेने को अज्ञानी तप कहते हैं, वह सच्चा तप नहीं है। अन्य मतावलम्बी भी आहार नहीं लेते। इच्छाका निरोध होना सो तप है। स्वभाव के भान पूर्वक इच्छा का रुक जाना और ज्ञानानन्द का प्रतपन होना वह तप है। और अज्ञानी इन्द्रिय–दमन को संयम कहता है, वह सच्चा संयम नहीं है। देह, मन, वाणी का आलंबन छोड़कर आत्मा में एकाग्र होना सो संयम है।

अपने राग रहित स्वभाव को पूज्य मानना वह पूजा है, और अन्तर में जो प्रभावना हुई वह प्रभावना है। लोग व्यवहारसे प्रभावना मानते हैं, किन्तु वह वास्तव में धर्म नहीं है। आत्मा ज्ञाता–दृष्टा है, शुभाशुभ राग होता है वह मलिनता है, उससे रहित आत्मा का भान होना वह धर्म है। लोग बाह्य में चमत्कार मानते हैं। अन्य मत वाले भी चमत्कार करते हैं, किन्तु आत्मा चैतन्य चमत्कार है, उसमें एकाग्र होने से शांति प्राप्त होती है, वह सच्चा चमत्कार है। बाह्य देव चमत्कार करते हैं ऐसा मानने वाला जैन नहीं है। लक्ष्मी आदि की प्राप्ति वह इष्ट की प्राप्ति नहीं है। शुद्ध चिदानन्द स्वभाव इष्ट है, पुण्य–पाप अनिष्ट है। पुण्य–पाप रहित अंतर्लीनता का होना इष्ट है।

लोग बाह्य से जैनपना मानते हैं वह भूल है। दया, शील,

संयम, प्रभावना, चमत्कार—सब व्यवहार है; उससे जैनधर्म की परीक्षा नहीं है। आत्मा के भान पूर्वक परीक्षा करना चाहिये। और वे कहते हैं कि अन्य मत में यह बराबर नहीं है, वहाँ किसी समय दया की प्ररूपणा करते हैं और किसी समय हिंसा की। तो उनसे कहते हैं कि अन्य मत में पूजा, प्रभावना, दया, संयम हैं, इसलिये इन लक्षणों से अतिव्याप्तिपना होता है, उससे सच्ची परीक्षा नहीं हो सकती। राग से भिन्न आत्मा है—इस प्रकार आत्मा की परीक्षा करनी चाहिये। वह कैसे होती है?

दया, दान, तप से सम्यक्त्व नहीं होता।

दया, दान, शील, तप से सम्यक्त्व होता है ऐसा नहीं कहा है। तत्त्वार्थ श्रद्धान करे तो सम्यग्दर्शन होता है। उसके बिना सभी तप बाल-तप हैं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और जीवादि का यथार्थ श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन होता है। और उन्हें यथार्थ जाननेसे सम्यग्ज्ञान होता है।

शरीर निरोगी हो तो धर्म होता है ऐसा मानने वाला मूढ़ है; वह जड़ से धर्म मानता है, उसे सात तत्वोंकी श्रद्धा नहीं है। शरीर में बुखार हो तो सामायिक कहाँ से हो सकती है?—ऐसा अज्ञानी पूछता है। जड़ की पर्याय से धर्म होता है?—नहीं। शरीर की चाहे जैसी अवस्था में भी मैं शरीरसे पृथक् हूँ—ऐसा भान हो उसे सामायिक होती है। सुकौशल मुनि तथा सुकुमाल मुनि को व्याघ्री आदि खाते हैं तथापि अंतर में सामायिक वर्तती है। शरीर की अवस्था जड़ की है, वह आत्मा की अवस्था नहीं है। आत्मा शरीरका स्पर्श नहीं करता। जीव-अजीव दोनों भिन्न हैं—ऐसा सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवाला

मानता है; तभी से धर्म का प्रारम्भ होता है। शरीर के टुकड़े होते हैं इसलिये दुःख नहीं है। शरीर को कोई काट नहीं सकता। अनंत परमाणु पृथक्-पृथक् हैं। मुनि के शरीर का एक-एक परमाणु व्याघ्री के शरीर से अभावरूप है।—इसप्रकार सात तत्त्व पृथक् पृथक् हैं—ऐसी जिन्हें खबर नहीं है उसके निश्चय और व्यवहार दोनों मिथ्या हैं। धर्मी जीव पर के कारण दुःख नहीं मानता; अपने कारण निर्बलता से द्वेष होता है। आस्रव स्वतंत्र और ज्ञायक स्वभाव स्वतंत्र है—ऐसा भिन्न है—जाने तो धर्म हो।

अज्ञानी को आत्मा का भान नहीं है इसलिये उसे कषाय की मन्दता होने पर भी वास्तव में रागादि कम नहीं होते। जो राग से धर्म मानता है उसकी दृष्टि पुण्य पर है; इसलिये राग कम नहीं होता। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है,—ऐसी दृष्टि जिसके हुई है उसके जो राग दूर होता है वह सम्यक्चारित्र है। राग से धर्म मनाये वह आत्माको नहीं मानता। आत्मा एक समय में परिपूर्ण परमात्मा है—ऐसी जिसकी दृष्टि नहीं है उसने आत्मा को नहीं जाना है। उसने रागको माना है, कर्म को माना है, वह अन्यमती है। और कोई कहता है कि जैनधर्म कर्म प्रधान है, किन्तु वह बात मिथ्या है। आत्मा एक समय में पूर्ण शक्ति का भण्डार है;—ऐसे आत्मा को माने वह जैन है। यही वीतरागी शास्त्रों का मर्म है।

पुनश्च, कोई अपने बाप दादा के कारण जैनधर्म धारण करता है, किसी महान पुरुष को जैनधर्म में प्रवर्तित देखकर स्वयं भी विचार पूर्वक उसका रहस्य जाने बिना देखादेखी उसमें प्रवर्तित होता है तो वह सच्चा जैन नहीं है। वह देखादेखी जैनधर्म की शुद्ध-अशुद्ध

क्रियाओं में वर्तता है, कषाय मन्दता करता है, भक्ति आदि के परिणाम करता है। यहाँ शुद्ध–अशुद्ध का अर्थ शुभ–अशुभ समझना। दयादानादि परिणाम देखा–देखी करता है। उसने पाँच हजार रुपये दिये इसलिए हमें भी पाँच हजार देना चाहिये,—इसप्रकार देखादेखी से दान करता है। वह बिना परीक्षा के करता है; उसे धर्म नहीं होता। जैनधर्म बाहुबलि की प्रतिमा में या सम्मेदशिखर में नहीं है, तथा शुभ–अशुभ भाव में भी जैनधर्म नहीं है। अपने आश्रय से प्रगट होनेवाली शुद्ध पर्याय में जैनधर्म है। हाँ, इतना सच है कि जैनमत में गृहीत मिथ्यात्वादि की पापप्रवृत्ति विशेष नहीं हो सकती; पुण्यके निमित्त अनेक हैं और सच्चे मोक्षमार्ग के कारण भी वहाँ बने रहते हैं; इसलिये जो कुलादिकसे जैनी है और व्यवहारसे कषायमन्दता है, उन्हें दूसरों की अपेक्षा भला कहा है, किन्तु आत्मा का भान न होने के कारण वे भी जीवन हार जायेंगे।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ६, गुरुवार ता० १९–२–५३]

पुनश्च कोई संगति के कारण जैनधर्म धारण करता है, किन्तु यह विचार नहीं करता कि जैनधर्म क्या है। मात्र देखादेखी शुद्ध-अशुद्ध क्रियारूप वर्तता है। आत्मभान बिना मात्र देखादेखी प्रतिमा धारण करे या मुनिपना ले तो वह मिथ्यादृष्टि है। कोई एक महीने के उपवास करे, और स्वयं भी उसकी देखा देखी उपवास करने लगे तो उसमें धर्म नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि सर्वज्ञ के पंथ में जिसे सच्चे देव–गुरु–शास्त्र की पहिचान है उसके पाप प्रवृत्ति अल्प होती है। सत्श्रवण, यात्रा, भक्ति, पूजादि शुभ परिणाम के निमित्त होते हैं वे आत्मा के सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र के निमित्त बन जाते

हैं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को मानने वाले इस अपेक्षा से ठीक हैं। दूसरों की अपेक्षा वे व्यवहार श्रद्धा में ठीक हैं, किन्तु उन्हें जन्म-मरण के अन्त का लाभ नहीं है।

धनप्राप्ति आदि लौकिक प्रयोजन के हेतु धर्मक्रिया करे उसे पुण्य भी नहीं होता।

पुनश्च, प्रतिदिन सामायिक प्रतिक्रमण करेंगे तो धर्मी माने जायेंगे और उससे आजीविका मिलेगी;—इस प्रकार कपट करे तो मिथ्यादृष्टि है। उपवास करेंगे तो लोक में बड़प्पन मिलेगा, ऐसा माननेवाला अज्ञानी है; उसे जैनधर्म की खबर नहीं है। व्रत धारण करेंगे तो पूज्य माने जायेंगे, मुनिपना धारण करेंगे तो सन्मान प्राप्त होगा;—ऐसी बड़ाई के लिये करता है वह मिथ्यादृष्टि है; जो लक्ष्मी प्राप्त होने की मान्यता से व्रत-तप करे वह जैनधर्म के रहस्य को नहीं जानता। पैसा और स्वर्गकी इच्छा करने वाला मान अथवा पर पदार्थ प्राप्त करने की भावना वाला मिथ्यादृष्टि है। जो बड़प्पन के लिये धर्म क्रिया करता है वह पापी है। पुण्य करेंगे तो पुत्र और प्रतिष्ठा प्राप्त होगी; महावीरजी तीर्थक्षेत्रकी यात्रा करने से धन मिलेगा;—ऐसी भावनासे यात्रा करे तो पापी है। वहाँ कषाय और कषायके फलकी भावना है उसे जैनधर्मकी खबर नहीं है। संयोग पूर्वकर्मके उदयसे प्राप्त होते हैं इसकी उसे खबर नहीं है; उसका तरना कठिन है। धर्मी जीव स्वर्ग या लक्ष्मी आदि की आशा नहीं रखता। जो संसार-प्रयोजन साधता है वह महान अन्याय करता है। पुण्यका फल ऐसा मिलना चाहिये वह मिथ्यात्व सहित निदान है; सम्यग्दृष्टि ऐसा निदान नहीं करता। अज्ञानी अनुकूल सामग्री की

भावना करता है और प्रतिकूलता टालना चाहता है वह जैनधर्म नहीं है। संयोग और रागकी मिथ्याश्रद्धा छोड़ना तथा स्वभावकी श्रद्धा करना वह जैनधर्म है।

प्रश्नः—हिंसादिक द्वारा जो व्यापारादि करते हैं, वही कार्य यदि धर्मसाधनसे सिद्ध करें तो उसमें बुरा क्या हुआ? इससे तो दोनों प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

समाधानः—पुत्रके लिये अथवा अनुकूल साधनके लिये विषय-कषायरूप परिणाम करे वह पाप है, क्योंकि जीव स्वयं ममत्व करता है। कमाईका और कुटुम्बकी व्यवस्थाका भाव पाप है। पापकार्य और धर्मकार्य—दोनोंका एक साधन करने से तो पाप ही होगा। प्रोषध करेंगे तो उसके अगले और पिछले दिन अच्छा भोजन मिलेगा यह पापभाव है। सामायिक, उपवास, छट्ठ–अठम–वर्षी तप करने से चांदी आदि के बर्तन मिलेंगे—ऐसा मानकर उपवास करे तो वह पाप ही है। विपरीत दृष्टि तो है ही, उपरांत अशुभ परिणाम भी है।

धर्म साधन के लिये चैत्यालय बनाये और उसी मन्दिर में विकथा करे, जुआ, ताश खेले, तो वह महान पाप है; उसे धर्म की खबर नहीं है। हिंसा तथा भोगादि के लिये पृथक् मकान बनाये तो ठीक, किन्तु मन्दिर में जुआ; ताश आदि खेलना तो महान पाप है। मन्दिर में कुदृष्टि करे, तीर्थक्षेत्र–धर्मस्थल–धर्मशाला में व्यभिचार सेवन करे वह महान पापी है। उसीप्रकार धर्म का साधन पूजा, दान, शास्त्राभ्यासादि हैं; उन साधनों द्वारा आजीविकारूपी कार्य करे तो वह पापी है। शास्त्र–वचनिका से पैसे प्राप्त करे वह पापी है; इसलिये वैसा कार्य करना हितकारी नहीं है। अपनी आजो-

विकार्थ हिंसादि व्यापार करता हो तो करे, किन्तु भगवान की पूजादि में आजीविका का प्रयोजन विचारना योग्य नहीं है।

प्रश्न:—यदि ऐसा है तो मुनि भी धर्मसाधन के लिये परगृह में भोजन करते हैं; तथा कोई साधर्मी सार्धमियों का उपकार करते-कराते हैं यह कैसे हो सकता है ?

उत्तर:—कोई ऐसा विचार करे कि—मुनि हो जाने से रोटी तो मिलेगी, इसलिये मुनि हो जाना ठीक है; तो वह पापी है। आजीविका के लिये मुनिपना अथवा प्रतिमा धारण करे वह मिथ्या-दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रपदको भी तृण समान मानता है। जो जीव यक्ष, क्षेत्रपाल, देव-देवी, मणिभद्र, अम्बा-पद्मावती आदि को मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। धर्मी जीव संयोगोंकी दृष्टि नहीं रखता आजीविका का प्रयोजन विचार कर वह धर्मसाधन नहीं करता। किन्तु अपने को धर्मात्मा जानकर कोई स्वयं उपकारादि करे तो उसमें कोई दोष नहीं है; किन्तु धर्मात्मा दीनता नहीं करता। जो स्वयं ही भोजनादिकका प्रयोजन विचारकर धर्मसाधन करता है वह तो पापी ही है।

जो वैराग्यवान् होकर मुनिपना अंगीकार करता है उसे भोज-नादिका प्रयोजन नहीं है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसी जिसे दृष्टि हुई है वह वैरागी है। राग और विकार रहित मेरा स्वरूप है, "सिद्ध समान सदा पद मेरा"—ऐसा वह समझता है। ऐसा आत्मा जिसकी दृष्टिमें रुचा है और राग-द्वेष से उदासीन परिणाम हुए हैं वह जीव मुनिपना अंगीकार करता है। लालच से मुनिपना लेना योग्य नहीं है; पहले आत्मज्ञान होना चाहिये। आत्मज्ञान होने के पश्चात्

वैरागी होना चाहिये। वैराग्यवान जीव भोजनादि प्रयोजन सिद्ध करने के लिये मुनिपना नहीं लेते। नवधाभक्ति पूर्वक निर्दोष आहार मिले तभी लेते हैं। उनके अपने लिये बनाया हुआ आहार नहीं लेते। गृहस्थने अपने लिये भोजन बनाया हो वही आहार मुनि लेते हैं। एषणा समिति का भलीभाँति पालन करते हैं। उद्देशिक आहार लेना वह एषणा समितिका दोष है। आहारके प्रयोजन बिना आत्मा का सेवन करते हैं। शरीरकी स्थितिके हेतु कोई निर्दोष आहार दे तो लेते हैं; किन्तु भोजनका प्रयोजन विचारकर मुनिपना नहीं लेते।

मुनिके संक्लेश परिणाम नहीं होते। बड़प्पनके अथवा यशके लिये मुनिपना धारण नहीं करते। पुनश्च, वे अपने हितके लिये धर्म साधन करते हैं किन्तु उपकार करानेका अभिप्राय नहीं है; और ऐसा उपकार कराते हैं जिसका उनके त्याग नहीं है। कोई साधर्मी स्वयं उपकार करता है तो करे, तथा न करे तो उससे अपने को कोई संक्लेश भी नहीं होता। कोई याचनाके प्रयत्न करे और धर्म साधनमें शिथिल हो जाये तो वह मिथ्यादृष्टि अशुभ परिणामी है। इसप्रकार जो सांसारिक प्रयोजनके हेतुसे धर्म साधन करते हैं वे मिथ्यादृष्टि तो हैं ही, किन्तु साथ ही पापी भी हैं।—इसप्रकार जैन मतावलम्बियों को भी मिथ्यादृष्टि जानना।





जैनाभासी मिथ्यादृष्टियोंकी धर्मसाधना

अब, जैनाभासी मिथ्यादृष्टियोंको धर्मका साधन कैसा होता है वह यहाँ विशेष दर्शाते हैं।

कुछ जीव कुल प्रवृत्तिसे धर्मसाधना करते हैं। एक करे तो दूसरा करता है; तथा लोभके अभिप्रायसे धर्मसाधन करें उनके तो धर्मदृष्टि ही नहीं है। भगवानकी भक्ति करने के समय चित्त कहीं डोलता रहता है; अपने परिणामोंका ठिकाना नहीं है और मुंहसे पाठ करता है, किन्तु परिणाम बुरे होने से उसे पुण्य भी नहीं है; धर्मकी तो बात ही दूर रही। दूकानका विचार आये, सुन्दर स्त्रियों को देखता रहे तो उसे पुण्य भी नहीं होता, वह अशुभोपयोगी है। "मैं कौन हूँ" उसका विचार नहीं करता। पाठ बोल जाता है किन्तु अर्थकी खबर नहीं है। भगवानकी भक्तिमें विचार करना चाहिये कि यह कौन हैं? वीतरागदेव किसी को कुछ देते–लेते नहीं हैं। स्तवनमें आता है कि–"शिवपुर हमको देना," तो क्या तेरा मोक्ष भगवान के पास है? नहीं। और कहता है कि—"हे भगवान! जो कुछ आप करें सो ठीक; तो भगवान तेरी पर्यायके कर्ता हैं?—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। भगवान न तो किसी को डुबाते हैं और न तारते हैं। वे तो मात्र साक्षी हैं, केवलज्ञानी हैं।

मैं कौन हूं उसकी खबर नहीं है; किसकी स्तुति करता हूं तथा किस प्रयोजनसे करता हूँ वह भी ज्ञात नहीं है। सर्वज्ञ भगवान पूर्ण हो गये हैं, मैं भी पुरुषार्थसे सर्वज्ञ होऊँगा; किन्तु शुभराग आता है

इसलिये लक्ष जाता है;—ऐसी जिसे खबर नहीं है उसे वीतरागकी खबर नहीं है। "आरुग्ग बोहि लाभं"—ऐसा पाठ बोलता है किन्तु अर्थकी खबर नहीं है। हे नाथ! पुण्य–पापरूप परिणाम वह रोग है; निरोग–स्वरूप आनन्दकन्द वस्तु आत्मा है; उसकी श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र रूपी निरोगताका लाभ मुझे प्राप्त हो। मैं शक्तिसे निरोग स्वरूप हूँ, किन्तु पर्यायमें आप जैसी निरोगता मुझे प्राप्त हो—ऐसी भावना भाता है।

अज्ञानी मानता है कि भगवानकी स्तुतिसे पैसा और अनाज मिलेगा तो वैसा माननेवाला मूढ़ है। उसे भगवान के स्वरूपकी खबर नहीं है। सर्वज्ञ किसी को पैसे देते–लेते नहीं हैं। और वह जीव कभी क्षेत्रपाल, चक्रेश्वरी, अम्बाजी, भवानी आदि के चरणों में लोटने लगता है। भगवान के कुलदेव हैं—ऐसा कहकर कुलदेव को मानता है; कुगुरु–कुशास्त्र को मानता है। कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र तथा उनके मानने वालों का त्याग करना चाहिये। अज्ञानीको सच्चे देव–गुरु–शास्त्रकी खबर नहीं है। और वह दान देता है तो पात्र–कुपात्रके विचाररहित दान देता है। पचास हजार रुपये देंगे तो प्रतिष्ठा बढ़ेगी और मकानमें नाम की तख्ती लग जायेगी;—इसप्रकार मान के लिये दान दे तो वह पापी है। परीक्षा के बिना जो प्रशंसाके लिये दान देता है वह मिथ्यादृष्टि पापी है। लाजके लिये धर्म करे, भोजनादिके लिये धर्म करे वह मिथ्यादृष्टि है।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ७ शुक्रवार, ता० २०–२–५३]

श्रीमद् राजचन्द्रजी को छोटी उम्र से जातिस्मरण ज्ञान था; वे तत्त्वज्ञानी थे। उन्होंने २९ वर्षकी उम्रमें "आत्मसिद्धि" की रचना की है। वे कहते हैं कि—

"लह्यु ं स्वरूप न वृत्तिनु ं, ग्रह्यु ं व्रत अभिमान,
ग्रहे नहिं परमार्थ ने, लेवा लौकिक मान !"

लौकिक मान लेने के लिये अज्ञानी जीव व्रत धारण करता है; किन्तु राग रहित और जड़की क्रियासे रहित अपना स्वभाव है उसकी पहिचान नहीं करता और व्रत धारण करके अभिमान करता है।

प्रथम अपने स्वभावकी दृष्टि करना चाहिये। दया-दानादिके भाव आते हैं, किन्तु ज्ञानी उन्हें पुण्यास्रव मानता है। स्वभाव की प्रतीति, ज्ञान और लीनताका होना वह निश्चय है और शुभरागको व्यवहार कहते हैं। "आत्मसिद्धि" में कहा है कि—

"नय निश्चय एकान्तथी आत्मां नथी कहेल,
एकांते व्यवहार नहि, बंने साथे रहेल।"

जब निश्चय प्रगट होता है तब शुभराग को व्यवहार कहते हैं। कोई अज्ञानी जीव उपवास करने के लिये अगले दिन खूब खा ले, तो वह वृत्ति गृद्धिपने की है। वह रागके पोषणका साधन करता है किन्तु आत्माके पोषणका साधन नहीं करता। मेरे ज्ञान स्वभावमें शांति है उसकी उसे खबर नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्यादि भावलिंगी मुनि थे; वे सहज निर्दोष आहार लेते थे। आजकल तो मुनियों के लिये चौका बनाते हैं और वहाँ वे आहार लेते हैं—यह सब पापभाव है। अज्ञानी बाह्य साधन भी रागादि की पुष्टिके लिये करता है। अज्ञानी की दृष्टि परके ऊपर है; खान-पानके पदार्थोंमें शांति मानता है। शरीर तो अजीव तत्त्व है, आत्मा जीवतत्त्व है; भोजनकी वृत्ति उठे वह आश्रव तत्त्व है। तीनों को पृथक् मानना चाहिये।

आत्मभानके पश्चात् शुभराग होता है; कर्मसे राग नहीं होता।

आत्मभान होने के पश्चात् भी पूजन प्रभावना, यात्रादिका राग

आता है; किन्तु रागरहित आत्माका ज्ञान हुआ वह निश्चय है और शुभराग सच्चा धर्म नहीं है, आस्रव ही है ऐसा जानना वह व्यवहार है। कर्मसे राग नहीं होता। "कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।" कर्म तो जड़ है; जीव अपनी भूलसे परिभ्रमण करता है। मैं भूल करता हूँ तो कर्मको निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानी स्वयं अपराध करता है और कर्म पर दोष डालता है। कर्म है इसलिये विकार नहीं है; किन्तु स्वयं राग में रुका तब कर्म को निमित्त कहा जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा है—पर्याय का यथार्थ ज्ञान करने वाला धर्मी समझता है कि मेरा ज्ञान स्वभाव राग से भी अधिक है। स्वभावकी अधिकता में राग गौण है। मैं राग नहीं हूँ, राग एकसमय की पर्याय है, मैं राग से पृथक् हूँ, मैं ज्ञान स्वभावी हूँ—ऐसी दृष्टि करना सो निश्चय है, और राग की पर्याय का ज्ञान वर्तता है वह व्यवहार है।

पूजा, प्रभावनादि कार्य होते हैं; उनमें अज्ञानी बड़ाई मानता है। अपने ज्ञान स्वभाव की दृष्टि नहीं है और पाँच लाख रुपये खर्च करने में बड़प्पन मानता है। मन्दिर की पर्याय जड़से होती है, उसकी उसे खबर नहीं है और कर्तापने का अभिमान करता है। जीव जितनी कषायमन्दता करे उतना पुण्य होता है, किन्तु उससे जो धर्म मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। जो राग आना है वह तो आयेगा ही, किन्तु उससमय दृष्टि किस ओर है वह देखना चाहिये। मन्दिर, मानस्तम्भ आदि जड़ के कारण बनते हैं, तथापि अज्ञानी मानता है कि मैंने इतने मन्दिर बनाये, वह कर्तृत्वबुद्धि बतलाता है। आत्मज्ञानी उसका अभिमान नहीं करता।

ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है और कर्ता है वह ज्ञाता नहीं है।

जो जीव अपने को जड़ की तथा राग की पर्याय का कर्ता मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, और सम्यग्ज्ञानी जड़ की पर्याय का तथा अस्थिरता के राग का ज्ञाता है, वह स्वयं को उसका कर्ता नहीं मानता। जो पर की क्रिया का कर्ता होता है वह ज्ञानी नहीं है, और जो ज्ञाता है वह पर का तथा राग का कर्ता नहीं होता। जिसे आत्मा का भान हुआ है उसे देव-गुरु-शास्त्र पर भक्ति का भाव आता है वह शुभराग है। ज्ञानी समझता है कि पुण्य आश्रव है। मकान की क्रिया मैंने नहीं की। पुद्गल परमाणु की जो पर्याय जिस क्षेत्र में, जिस काल में होना है वह होगी, उसमें फेरफार करने के लिये इन्द्र या नरेन्द्र समर्थ नहीं हैं।

और अज्ञानी हिंसा के परिणाम करता है। भगवान की पूजाके प्रसंग पर फूलों में त्रसहिंसा का, तथा रात्रि के समय दीयाबत्ती में जीव मरते हैं, उनका विचार करना चाहिये। पूजादि कार्य तो अपने तथा अन्य जीवों के परिणाम सुधारने के लिये कहे हैं। और वहाँ किंचित् हिंसादिक भी होते हैं, किन्तु वहाँ अपराध अल्प हो और लाभ अधिक हो ऐसा करने को कहा है। सावद्य अल्प और पुण्य बहु हो तो पूजा-भक्ति करने को कहा है। अब, अज्ञानी को परिणामों की तो पहिचान नहीं है; कितना लाभ और कितनी हानि होती है उसकी खबर नहीं है। जिसप्रकार व्यापारी व्यापार में सब ध्यान रखता है उसीप्रकार धर्मकार्य में लाभ-हानि का विचार करना चाहिये अज्ञानी को लाभ हानि का अथवा विधि अविधि का ज्ञान नहीं है। समूहयात्रा में कई बार तीव्र आकुलतामय परिणाम हो जाते हैं। पहाड़ पर यात्रा करने जाये और थकान आ जाये, उस-

समय तीव्र कषाय के परिणाम करता है, विवेक नहीं रखता। पूजा विधिपूर्वक या अविधि से करता है उसका ज्ञान नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वभावी है ऐसे भानपूर्वक अपने परिणामों को देखना चाहिये।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ८ शनिवार, ता० २१-२-५३]

सर्व शास्त्रों का तात्पर्य "वीतराग भाव" है; शुभभाव धर्म नहीं, किन्तु पुण्य है।

चौथा-पांचवां-छट्ठा आदि गुणस्थान हैं, उन्हें यदि न माने तो तीर्थ का ही नाश हो जायेगा; और जो जीव मात्र भेद का ही आश्रय करके धर्म मानता है, किन्तु निश्चय अभेद स्वभाव को नहीं पहचानता उसे तत्त्व का भान नहीं है। निश्चय के बिना तो तत्त्व का ही लोप हो जाता है और साधक दशामें जो भेद पड़ते हैं उसे जानने रूप व्यवहार के बिना तीर्थ का लोप होता है; इसलिये दोनों को यथावत् जानना चाहिये।

यात्रा-पूजादि का शुभभाव धर्म नहीं है किन्तु पुण्य है। बाह्य शरीर की क्रिया से पुण्य नहीं हैं किन्तु अन्तर में मन्दराग किया उससे पुण्य होता है। उसके बदले शरीर की क्रिया से पुण्य माने और पुण्य को धर्म माने वे दोनों भूल हैं। निश्चय व्यवहार दोनों जानकर निश्चय का आदर करना और व्यवहार को हेय बनाना वह कार्य करना है। जानने योग्य दोनों हैं, किन्तु आदरणीय तो एक निश्चय ही है। मन्दराग और धर्म पृथक् पृथक् वस्तुएँ हैं। धर्म तो वीतराग भाव है। निश्चय स्वभाव की दृष्टि रखकर, बीच में जो राग आये उसे जानना चाहिये, किन्तु आदरणीय नहीं मानना

चाहिये—उसका नाम प्रमाणज्ञान है। मात्र व्यवहारके आश्रयसे धर्म माने व निश्चय क्या है उसे न जाने तो वह व्यवहाराभासी है। उसका यह वर्णन चलता है।

वह व्यवहाराभासी जीव शास्त्र पढ़ता है तो पद्धति अनुसार पढ़ लेता है, किन्तु उसके मर्म को नहीं समझता। यदि बाँचता है तो दूसरों को सुना देता है, पढ़ता है तो स्वयं पढ़ लेता है और सुनता है तो जो कुछ कहे वह सुन लेता है; किन्तु शास्त्राभ्यास का जो प्रयोजन है उसका स्वयं अन्तरंगमें अवधारण नहीं करता। सर्व शास्त्रोंका तात्पर्य तो वीतरागभाव है। वीतरागभावका अर्थ क्या? स्वभावका अवलम्बन और निमित्तकी उपेक्षा वह वीतरागभाव है। पहले वीतरागी दृष्टि प्रगट होती है और फिर वीतरागी चारित्र। परद्रव्य तो तुझसे भिन्न है, उसका तुझमें अभाव है; इसलिये न तो तुझसे उसे कोई लाभ–हानि है, और न उससे तुझे। तेरी पर्याय में रागादिभाव होते हैं वह भी धर्म नहीं है; धर्म तो ध्रुव स्वभाव के आश्रयसे जो वीतरागभाव प्रगट होता है उसमें है। ऐसा भान किये बिना शास्त्र पढ़ ले—सुन ले तो उससे कहीं धर्म नहीं होता। शास्त्रों का तात्पर्य क्या है उसे अज्ञानी नहीं समझता। दिगम्बर सम्प्रदायमें भी जो तत्त्वका निर्णय नहीं करता और देवपूजा, शास्त्रस्वाध्यायादि में ही धर्म मान लेता है वह व्यवहाराभासी है।

भगवानके दर्शन करने जाये वहाँ स्वयं मन्दराग करे तो पुण्य होता है। भगवान कहीं इस जीवको शुभभाव नहीं कराते। कर्मके कारण विकार होता है—यह तो बात ही झूठी है। "आत्माके द्रव्य-गुणमें विकार नहीं है, तो फिर पर्यायमें कहाँ से आया?—पर्यायमें कर्मने विकार कराया है;"—ऐसा अज्ञानी कहता है किन्तु वह झूठ

है। जो विकार हुआ वह जीवकी पर्यायमें अपने अपराधसे हुआ है। द्रव्य–गुणमें विकार नहीं है किन्तु पर्यायमें वैसा धर्म है अपनी योग्यता है। वह पर्याय भी जीवका स्वतत्त्व है। औदयिकादि पांचों भाव जीवके स्वतत्त्व हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि:—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौद-यिकपारिणामिकौ च।

विचार तो करो कि पूर्वं अनन्तानन्तकाल परिभ्रमणमें चला गया; तो वस्तुस्वरूप क्या है? शुभभाव किये, व्रत–तप किये, तथापि दुःखमें भ्रमण करता रहा,–तो बाकी क्या रह गया? मैं पुण्य–पाप-रहित ज्ञायक चिदानन्दमूर्ति हूँ—ऐसी दृष्टिसे धर्मका प्रारम्भ होता है।

श्री समयसारमें कहा है कि:—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ६ ॥

ज्ञान द्वारा प्रथम ऐसे ज्ञायक स्वभावकी पहिचान करना वह अपूर्व धर्म का प्रारम्भ है। जो निमित्त से धर्म मानता है, उसे निमित्त से भेदज्ञान नहीं है; रागसे धर्म मानता है उसे कषायसे भेदज्ञान नहीं है; उसे धर्म नहीं हो सकता। जैन कुलमें जन्म लेने से कहीं धर्म नहीं हो जाता। कुल परम्परा कहीं धर्म नहीं है। पुत्र या पैसादिके हेतुसे भगवानको माने तो उसमें भी पाप ही है। कुदेवादिको माने वह मिथ्यादृष्टि है। ऊपर से भले ही इन्द्र उतर आयें, तथापि धर्मी जीव कहता है कि वे मेरा कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र–कोई भी फेरफार नहीं कर सकते। जिस काल सर्वज्ञदेव ने जो देखा है उसमें कोई फेरफार करने में समर्थ नहीं है।

जो ऐसा जानता है वह किसी भी कुदेव देव-देवी को नहीं मानता। अज्ञानी आत्माके परमार्थ स्वभावको तो जानता नहीं है और अभूतार्थ धर्मकी साधना करता है अर्थात् रागको धर्म मानता है। व्यवहार तो अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है। भूतार्थ आत्मस्वभाव के आश्रयसे ही सम्यग्दर्शन है। उसे जो नहीं जानता और कषाय की मन्दता करके अपने को धर्मी मानता है वह जीव अभूतार्थ धर्मकी साधना करता है, वह भी व्यवहाराभासी है।

और कोई जीव ऐसे होते हैं कि जिनके कुछ तो कुलादिरूप बुद्धि है तथा कुछ धर्मबुद्धि भी है; इसलिये वे कुछ पूर्वोक्त प्रकारसे भी धर्मका साधन करते हैं; तथा कुछ आगममें कहा है तदनुसार भी अपने परिणामोंको सुधारते हैं;—इसप्रकार उनमें मिश्रपना होता है।

व्यवहाररत्नत्रय आश्रव है; अरिहन्तकी महानता बाह्य वैभव से नहीं किन्तु वीतरागी विज्ञान से है।

और कोई धर्म बुद्धि से धर्म साधन करते हैं, किन्तु निश्चय धर्म को नहीं जानते; इसलिये वे भी अभूतार्थ धर्म की अर्थात् राग की ही साधना करते हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के शुभराग को ही मोक्षमार्ग मानकर उसका सेवन करते हैं, किन्तु वास्तव में वह मोक्षमार्ग नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय आस्रव है, किन्तु अज्ञानी उसे मोक्ष-मार्ग मानता है। और देव-गुरु धर्म की प्रतीति को शास्त्रों में सम्यक्त्व कहा है, इसलिये वह जीव अरिहन्तदेव-निर्ग्रन्थ गुरु तथा जैन शास्त्र के अतिरिक्त दूसरों की वन्दनादि नहीं करता; कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को नहीं मानता; किन्तु सच्चे देव-गुरु-शास्त्रको परीक्षा करके स्वयं नहीं पहिचानता। तत्त्वज्ञान पूर्वक यथार्थ परीक्षा करे तो मिथ्यात्व

दूर हो जाये। अज्ञानी मात्र बाह्य शरीरादि लक्षणों द्वारा ही परीक्षा करता है, किन्तु तत्त्वज्ञानपूर्वक सर्वज्ञको नहीं पहचानता। भगवानको भी परीक्षा करके पहिचानना चाहिये। समन्तभद्राचार्य भी सर्वज्ञकी परीक्षा करके आप्तमीमांसा में कहते हैं कि हे नाथ!

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः
मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान्।

देव आते हैं, आकाश में गमन होता है, चंवर ढोरते हैं, समवशरण की रचना होती है—यह सब तो मायावी देव के भी होता दिखाई देता है, इसलिये उतने से ही आप महान नहीं हैं; किन्तु सर्वज्ञता, वीतरागतादि आपके गुणों की पहिचान करके हम आपको महान और पूज्य मानते हैं। इसलिये तत्त्वज्ञानपूर्वक सच्ची परीक्षा करना चाहिये।



५

जैनाभासों की सुदेव-गुरु-शास्त्रभक्ति का मिथ्यापना

भगवान इन्द्रों से पूज्य हैं; आकाश में विचरते हैं, उनके परम औदारिक शरीर होता है—यह बात तो ठीक है, किन्तु वे सब बाह्य लक्षण हैं; वह तो देह का वर्णन हुआ; किन्तु भगवान के आत्मा के गुणोंको न पहिचाने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। प्रवचनसारकी ८० वीं गाथा में कहा है कि:—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥

वहाँ तत्त्वज्ञानपूर्वक अरिहन्त देवके द्रव्य—गुण—पर्याय की परीक्षा करके यथार्थ जाने और अपने आत्माका भी ऐसा ही स्वभाव है;—इसप्रकार स्वभाव सन्मुख होकर निर्णय करे, उसे अपने आत्मा की पहिचान होती है; उसका मोह (मिथ्यात्व) नष्ट हो जाता है और उसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। अरिहन्तों ने इसी विधि से मोह का नाश किया है और यही उपदेश दिया है कि—हमने जिसप्रकार मोह का नाश किया है, उसी प्रकार तुम भी वैसा ही पुरुषार्थ करो तो तुम्हारे मोहका भी नाश होगा।

अरिहन्त भगवान देव इन्द्रादि द्वारा पूज्य हैं; अनेक अतिशय सहित हैं, क्षुधादि दोष रहित हैं, शारीरिक सौन्दर्य को धारण करते हैं,

स्त्री संगमादि से रहित हैं, दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं, केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानते हैं, तथा जिन्होंने काम–क्रोधादिका नाश किया है;—इत्यादि विशेषण लगाते हैं; उनमें कोई विशेषण तो पुद्गलाश्रित है तथा कोई जीवाश्रित है; उन्हें भिन्न–भिन्न नहीं जानता जैसे कोई असमान जातीय मनुष्यादि पर्यायों में भिन्नता न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है, उसीप्रकार यह भी असमानजातीय अरिहन्त पर्याय में जीव–पुद्गल के विशेषणों को भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टिपना ही धारण करता है।

मुनिराज के निकट सिंह और हिरन एकसाथ बैठते हैं, वहाँ कहीं मुनि के अहिंसा भाव के कारण वह नहीं है; क्योंकि भावलिंगी अहिंसक मुनि को भी सिंह आकर खा जाता है। इसलिये बाह्य संयोगों पर से गुणों की पहिचान नहीं होती। आत्मा के गुण क्या हैं और पुण्यका कार्य कौनसा है? उनमें पृथक्–पृथक् जानना चाहिये।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ९ रविवार, ता० २२–२–५३]

और, भगवान केवलज्ञान से लोकालोक को जानते हैं—ऐसा मानता है, किन्तु केवलज्ञान क्या है उसे नहीं पहिचानता। पुनश्च, शरीर और आत्मा के संयोगरूप पर्याय को ही जानता है, किन्तु जीव–अजीव को भिन्न–भिन्न नहीं जानता, वह मिथ्यादृष्टि है। और भगवान मात्र लोकालोक को अर्थात् परको ही जानते हैं—ऐसा मानता है, किन्तु उसमें आत्मा तो आया ही नहीं। निश्चय से अपने आत्मा को जानने पर उसमें लोकालोक व्यवहार से ज्ञात हो जाते हैं, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। आत्मा और शरीर तो असमान जातीय हैं, अर्थात् उनकी भिन्न–भिन्न जाति है; उन्हें जो भिन्न-

भिन्न नहीं जानता उसके मिथ्यात्व है। पुनश्च, कर्म और आत्मा भी असमानजातीय हैं, तथापि कर्म के क्षयोपशम के कारण जीव में ज्ञान का विकास होता है—ऐसा मानता है वह भी मिथ्यादृष्टि है। केवलज्ञानादि तो आत्माकी पर्यायें हैं। पुण्यका उदय और परम औदारिक शरीर वे जीव से भिन्न वस्तु है।

प्रश्न:—तीर्थंकर प्रकृति भी जीव से हुई है न ?

उत्तर:—नहीं; वर्तमान में केवलज्ञान और वीतरागता है उसके कारण कहीं तीर्थंकर प्रकृति नहीं है; तीर्थंकर प्रकृति आत्मा के गुण का फल नहीं है; और पूर्वकाल में जब तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हुआ उस समय जीव का रागभाव निमित्त था, किन्तु तीर्थंकर प्रकृति स्वयं तो जड़ है। आत्मा के कारण वह प्रकृति माने तो उसे जड़–चेतन की भिन्नता का भान नहीं है, वह अरिहन्त को नहीं पहचानता। भले ही अरिहन्त की जाप और भक्तिका शुभभाव करे तो पुण्य बंध होगा, किन्तु उसे धर्म नहीं हो सकता।

केवलज्ञान के कारण दिव्यध्वनि नहीं खिरती

जीव और शरीर को कब भिन्न माना कहलाता है ? जीव के कारण शरीर अच्छा रहता है, जीवके कारण शरीर चलता है—ऐसा जो मानता है उसने जीव और शरीर को पृथक् नहीं माना किन्तु एक माना है। जड़ पदार्थ भी "उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त सत्" है, इसलिये जड़ शरीर के उत्पाद–व्यय भी उसीके कारण होते हैं–जीव के कारण नहीं। आत्मा के उत्पाद–व्यय अपनमें हैं; केवलज्ञान-पर्याय रूपसे भगवानका आत्मा उत्पन्न हुआ है, किन्तु जड़ शरीरकी परमौदारिक अवस्था हुई उसमें आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ है, वह तो जड़ का उत्पाद है। और भगवान ऊपर आकाश में डग भरे बिना

विचरण करते हैं, किन्तु वहाँ शरीर के चलने की क्रिया उनके आत्मा के कारण नहीं हुई है। केवलज्ञान हुआ इसलिये शरीर ऊपर आकाश में चलता है—ऐसा नहीं है; दोनों का परिणमन भिन्न-भिन्न है। इधर जीवमें केवलज्ञान का स्वकाल है और पुद्गल में दिव्यध्वनिका स्वकाल है, किन्तु जीवके केवलज्ञान के कारण दिव्यध्वनि नहीं है। यदि जीवके केवलज्ञान के कारण दिव्यध्वनि हो, तो जीव में केवलज्ञान तो अखण्ड रूप से सदैव है, इसलिये वाणी भी सदैव होना चाहिये; किन्तु वाणी तो अमुक काल ही खिरती है; वाणी तो उसके अपने स्वकाल में ही खिरती है। भगवान को त्रिकाल का ज्ञान वर्तता है; किस समय वाणी खिरेगी उसका भी ज्ञान है; केवलज्ञान किसी परकी पर्याय को करता या रोकता नहीं है। लोग "अरिहन्त-अरिहन्त" करते हैं किन्तु अरिहन्त के केवलज्ञान को नहीं पहिचानते।

"भगवान की वाणी"—ऐसा कहना वह उपचार है; और भगवान की वाणी से दूसरे जीवों को वास्तव में ज्ञान नहीं होता, किन्तु सभी जीव अपनी-अपनी योग्यतानुसार समझें उसमें वह निमित्त होती है। जीव-अजीव स्वतंत्र हैं, दोनों की अवस्था भिन्न-भिन्न है-इसप्रकार यथार्थ विशेषण से जीव को पहिचाने वह मिथ्यादृष्टि नहीं रहता।

आत्मामें से तो वाणी नहीं निकलती और वास्तवमें शरीरमें से भी वाणी नहीं निकलती। शरीर तो आहार वर्गणा से बनता है और भाषा भाषावर्गणा से बनती है। जिस प्रकार चने के आटे में जो आटा लड्डुओंके लिये तैयार किया हो उसमें से मगज नहीं बनं

सकता; मगज के लिये मोटे आटे की आवश्यकता होती है। उसी-प्रकार आहारवर्गणा और भाषावर्गणा भिन्न भिन्न हैं; उनमें आहार-वर्गणासे सीधी भाषा नहीं हो सकती, किन्तु भाषावर्गणासे ही भाषा होती है। और कर्म की कार्मण वर्गणा है वह भी अलग है; इसलिये कर्म के कारण भाषा हुई—ऐसा भी नहीं है। जगत में भिन्न-भिन्न योग्यता वाले अनन्त परमाणु हैं।

"हे भगवान ! आप स्वर्ग-मोक्ष दातार हो"—ऐसा स्तुति में आता है; वहाँ अज्ञानी वास्तव में ऐसा मान लेता है कि भगवान हमें तार देंगे। भाई ! स्वर्ग तो तेरे शुभ परिणामों से होता है और मोक्षदशा तेरे शुद्ध उपयोग से प्रगट होती है; उसमें भगवान तो निमित्त मात्र हैं। भगवान तुझे मोक्ष दें और दूसरे को मोक्ष न दें—उसका कोई कारण ? क्या भगवान रागी-द्वेषी हैं ? जीव अपने परिणामों से ही स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करता है; भगवान किसी को कुछ नहीं देते।

मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ। मेरा स्वरूप निरोगी है, और यह जो राग है वह रोग है—ऐसा जानकर ज्ञानी विनयपूर्वक कहता है कि "हे भगवान ! मुझे भावआरोग्य और बोधि का लाभ दो ! मुझे उत्तम समाधि दो !"—वहाँ वह उपचार है। मैं अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में से समाधि प्रगट करूँ, उसमें भगवान तो निमित्त हैं। स्वयं अपने में से भावआरोग्य और समाधि प्रगट की तब विनय से—नम्रता से ऐसा कहा कि "हे भगवान् ! आप बोधि—समाधि दातार हो। लोक में भी नम्रता से कहते हैं कि "बड़ों के पुण्य का प्रताप है;" किन्तु बड़ों के पास पाँच हजार की सम्पत्ति हो और तेरे पास लाखों की हो जाये, तो बड़ों का पुण्य कहाँ से आया ? अपने पुण्य

का फल है वहाँ विनय से बड़ों का पुण्य कहते हैं। उसी प्रकार धर्मी जीव स्वयं अपने पुरुषार्थ से बोधि—समाधि प्रगट करके तरता है, वहाँ भगवान को विनय–बहुमान से ऐसा कहता है कि हे भगवान ! आप हमें बोधिसमाधि देने वाले हो; आप दीनदयाल तरनतारन हो; आप अधम उधारक और पतितपावन हो। यह सब कथन भक्ति के—निमित्त के–उपचार के हैं। भगवान पतितपावन हों तो सब का उद्धार होना चाहिये और पाप का नाश होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। जिस प्रकार मिट्टी के घड़े को उपचार से "घी का घड़ा" कहा जाता है, किन्तु उससे कहीं वह घड़ा घी के समान खाया नहीं जा सकता; उसी प्रकार भगवान को उपचार से तरनतारन, अधम उद्धारक कहा जाता है, किन्तु सचमुच कहीं भगवान इस जीव के परिणामों के कर्ता नहीं हैं।—ऐसी यथार्थ वस्तुस्थिति को न समझे और यों ही अरिहन्त को माने तो वह भी व्यवहाराभासी मिथ्या-दृष्टि है।

जिस प्रकार अन्यमती कर्तृत्वबुद्धि से ईश्वर को मानते हैं, उसी प्रकार यह भी अरिहन्त को मानता है; किन्तु ऐसा नहीं जानता कि—फल तो अपने परिणामों का मिलता है। ज्ञानी जीव अरिहन्त देव को निमित्त मानता है इसलिये उपचार से तो यह विशेषण सम्भव हैं किन्तु अपने परिणाम सुधारे बिना तो अरिहन्त में यह उपचार भी सम्भवित नहीं है ऐसा जो नहीं जानता और बिना जाने अरिहन्त का नाम लेकर मानता है वह भी व्यवहाराभासी मिथ्या-दृष्टि है; वह वास्तव में जैन नहीं है।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला १० सोमवार, ता० २३-२-५३]

आचार्य भगवान की कही हुई बात पं० टोडरमलजी ने चालू देश भाषा में कही है। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ—ऐसी दृष्टि नहीं हुई है और पुण्य परिणामों में धर्म मानता है वह व्यवहाराभासी है। लहसुन खाते-खाते अमृत की डकार नहीं आती, उसीप्रकार शुभभाव-रूपी विकार करते-करते कभी शुद्ध दशा प्राप्त नहीं होती। अज्ञानी शुभभाव को धर्म का कारण समझता है। राग तो त्याग करने योग्य है; तथापि ऐसा मानना कि राग करते-करते सम्यग्दर्शन हो जायेगा, वह मिथ्यादर्शन शल्य है। बाहुबलि भगवान की प्रतिमा के कारण आकर्षण होता हो तो सभी को होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता जीव को फल तो अपने परिणामों का है। जो जीव शुभ-परिणाम करे उसे भगवान अथवा दिव्यध्वनि शुभ का निमित्त कहलाता है। भगवान है इसलिये कषाय मन्दता हुई—ऐसा नहीं है। धर्मी जीव समझता है कि मेरे परिणाम मुझ से होते हैं; भगवान अथवा प्रतिमा तो निमित्त मात्र हैं; इसलिये उपचारसे भगवानको वे विशेषण सम्भव हैं।

परिणाम शुद्ध हुए बिना व्यवहार से अरिहन्त को भी स्वर्ग मोक्षादि के दाता कहा नहीं है। अरिहन्त देव तथा वाणी परवस्तु है। शुभभाव पुण्याश्रव है, उससे रहित चिदानन्द की दृष्टि पूर्वक शुद्ध परिणाम करे-वह मोक्षदातार है तो अरिहन्त को उपचार से मोक्षदातार कहा जाता है। जितना शुभराग शेष रहता है उसके निमित्त से स्वर्ग प्राप्त होता है; तो फिर भगवान को निमित्त रूपसे स्वर्गदाता भी कहा जायेगा। यदि भगवान इस जीवके शुभ या शुद्धपरिणामोंके कर्ता हों तो वे निमित्त नहीं रहते, किन्तु उपादान हो गये; इसलिये वह भूल है। कोई कहे कि—सम्मेदशिखर और

गिरनार का वातावरण ऐसा है कि धर्म की रुचि हो तो ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।

पुनश्च, वे कहते हैं कि अरिहन्त भगवानका नाम सुनकर कुत्तों आदि ने स्वर्ग प्राप्त किया है। अज्ञानी मानते हैं कि भगवान के नाम में बड़ा अतिशय है, किन्तु वह भ्रान्ति है। अपने परिणामों में कषाय-मन्दता हुए बिना मात्र नाम लेने से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, तो फिर नाम सुननेवालों को कहाँ से होगी? परिणाम के बिना फल नहीं है। नाम तो परवस्तु है; उससे शुभ परिणाम होते हों तो सबके होना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता। जो दृष्टान्त दिया गया है, उसमें उन ज्ञानादिकने अपने परिणामोंमें कषायकी मन्दता की है और उसके फलस्वरूप स्वर्गकी प्राप्ति हुई है। नाम के कारण शुभ-भाव नहीं होते। कोई भगवान के समवशरणमें गया अथवा मन्दिरमें गया; किन्तु वहाँ व्यापारादिके अशुभपरिणाम करे तो क्या भगवान उन्हें बदल देंगे? अपने पुरुषार्थ पूर्वक शुभभाव करे तो भगवान को निमित्त कहा जाता है। यहाँ भगवान के नाम की मुख्यता करके उपचारसे कथन किया है।

कितने ही अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि भगवानका नाम लो, आरती करो, छत्र चढ़ाओ, पूजा करो तो रोग नष्ट होगा, पुत्रकी प्राप्ति होगी, पैसा मिलेगा, अनुकूलता हो जायेगी, तो ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। अनुकूलता तो पूर्व पुण्यके कारण प्राप्त होती है। वर्तमानमें शुभभाव करने के कारण वर्तमान संयोग प्राप्त नहीं होता। कोई कहे कि भक्तामर स्तोत्र पढ़ने से श्री मानतुंगाचार्यके ४८ ताले टूट गये थे; तो उससे कहते हैं कि ताले उस समय टूटना

ही थे। शुभ परिणामों के कारण ताले नहीं टूटे हैं। ताले स्वयं टूटे तब भक्तामरस्तोत्रके शुभभावको निमित्त कहते हैं।

सीताजी के ब्रह्मचर्यसे अग्नि पानीरूप हो गई यह भी उपचार कथन है। सुकोशल मुनि ब्रह्मचारी थे, तथापि उन्हें व्याघ्री क्यों खाती है? ब्रह्मचर्य बाह्यमें कार्य नहीं करता। सीताजी को पूर्व कर्मका उदय आया, तब ब्रह्मचर्यमें आरोप किया गया। गजकुमार मुनि तो छट्ठे गुणस्थानमें विराजमान थे, ब्रह्मचारी थे तथापि अग्निका परिषह क्यों आया? इसलिये ब्रह्मचर्य से बाह्य परिषह दूर नहीं होते। अज्ञानी जीव धनकी प्राप्तिके लिये दुकान की देहरीके अथवा गल्लेके पैरों पड़ते हैं और भगवानका नाम लेते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। पूर्व पुण्यानुसार अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है और पापका उदय हो तो प्रतिकूल।

कोई–कोई पण्डित कहते हैं कि जीवकी वर्तमान चतुराई के कारण अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है, किन्तु यह भूल है। सामग्री तो सामग्री के कारण प्राप्त होती है; उसमें वर्तमान बुद्धिमत्ता नहीं किन्तु पूर्व पुण्य निमित्त है। भगवानके नामके कारण सामग्री आती हो तो भगवान जड़के कर्ता हो जायें, किन्तु ऐसा नहीं है। सामग्री अपने कारण आती है उसमें कर्म निमित्त है—ऐसा बतलाना है। जो भगवानको सामग्री प्रदान करनेवाला मानता है वह व्यवहाराभासी है। अरिहन्तकी स्तुति करने से पूर्व पापकर्मोंका संक्रमण होकर पुण्यरूप हो जाते हैं, और उनके निमित्तसे सामग्री प्राप्त होती है, इसलिये भगवानकी स्तुति पर वैसा आरोप आता है।

स्तुति में आता है कि "हे प्रभु! मुझे तारो;" वह निमित्त का कथन है। "तुझमें ज्ञानानन्द शक्ति विद्यमान है; तू स्वयं से ही

तरेगा;"—ऐसा भगवान कहते हैं। जो स्वयं तरता है उसे भगवान निमित्त कहलाते हैं। सीमंधर भगवान वर्तमान में विराजमान हैं; उनसे तरते हों तो महाविदेह क्षेत्रमें सब तर जाना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता। जो जीव पहले से ही संसार प्रयोजनके हेतुसे भक्ति करता है वह पापी है। पूजा करने से अनिष्ट टलेगा और इष्टकी प्राप्ति होगी–ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि तो है ही तथा अशुभ-परिणामी भी है। मन्दिर बनवाने और पूजा करने से पुत्र प्राप्त होगा–ऐसा माननेवाले को मिथ्यात्व सहित पाप लगता है। अपने में कषायकी मन्दता करे तो पूर्वके पाप कर्मोंका संक्रमण होता है; किन्तु आकांक्षावाले को पाप का संक्रमण नहीं होता, इसलिये उसका कार्य सिद्ध नहीं होता।

भगवानकी भक्तिसे मोक्ष होगा—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। जो भगवानकी भक्तिमें ही तल्लीन हो जाता है किन्तु अपने ज्ञानस्वभावको ध्येय नहीं बनाता उसकी मुक्ति नहीं होती। अज्ञानी जीव भक्तिमें अति अनुराग करता है; भगवान से कहता है कि "हे प्रभो! अब तो पार उतारो!" इसका अर्थ यह हुआ कि अभीतक भगवान ने डुबाया है; उन्हें अभीतक पार उतारना नहीं आया; किन्तु यह बात मिथ्या है। जीव अपने कारण तरता है और भटकता है। भक्तिके कारण मोक्ष माने तो अन्यमती जैसी दृष्टि हुई। जिसे आत्मा का भान हुआ है ऐसे जीवको शुभरागका व्यय होकर शुद्धदशा होगी तब मोक्ष होगा। इसलिये धर्मी जीवके शुभ-रागको मोक्षका परम्परा कारण कहा है। अज्ञानी जीव भक्तिसे सम्यग्दर्शन मानता है वह भूल है। भक्ति तो बन्धमार्ग है और सम्यग्दर्शनादि मुक्तिका मार्ग है। बन्धमार्गको मुक्तिमार्ग मानना वह

मिथ्यात्व है। जीवों को सच्चा निर्णय करना चाहिये। धर्मी जीवको भक्तिका शुभराग आता है किन्तु उसे वह मुक्तिका कारण नहीं मानता। भगवान की भक्ति राग है, विकार है, पुण्य है, उपाधि है, उससे तो बन्ध होता है।

अपने कारण शुभभाव करे तो पुण्य बन्ध होता है, किन्तु वह मोक्षका कारण नहीं है। मुनिको आहारदान देते समय शुभराग करे तो पुण्य बन्ध होता है। भावलिंगी सन्तको निर्दोष आहार दे, उनके लिये खरीदकर न लाये, उद्देशिक आहार न दे, तथा भक्ति सहित विधिपूर्वक दे तो पुण्यसे भोगभूमि में उत्पन्न होता है। देवकी या मुनिकी भक्ति मुक्तिका कारण नहीं है। जैसा भगवान कहते हैं वैसी श्रद्धा तो करो मार्गमें गड़बड़ी नहीं चल सकती।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ११ मंगलवार, ता० २४–२–५३]

ज्ञानी के ही सच्ची भक्ति होती है

सर्वज्ञ देव, निर्ग्रन्थ गुरु और शास्त्रकी भक्तिको धर्मी जीव बाह्य निमित्त मानता है। मेरा स्वरूप राग रहित है—ऐसे शुद्ध स्वरूपमें केलि करना सो मोक्षमार्ग है। अज्ञानी बाह्य क्रियाकाण्ड और पुण्यसे धर्म मानता है। सम्प्रदायमें जन्म लेनेसे जैन नहीं हुआ जाता, किन्तु गुण से जैन हुआ जाता है। जैन राग द्वेष मोहका विजेता है। धर्मी जीव भक्तिके रागको उपादेय नहीं मानता, किन्तु हेय मानता है। राग कभी भी हित कर्ता नहीं है। त्रिलोकीनाथकी भक्ति भी हेय है। अशुभसे बचने के लिये शुभ आता है। ज्ञानी शुभ रागको हेय समझता है; उस धर्मी जीवके निश्चय और व्यवहार दोनों सच्चे हैं। आत्माका भान हुआ हो और सिद्ध समान अंशसे आनन्दका अनुभव

करता हो वह अविरति सम्यग्दृष्टि है। छट्ठे गुणस्थान वाले मुनिकी बात तो अलौकिक है; वे अन्तर आनन्दमें झूलते हैं। क्षण भरमें देह से आत्मपिण्ड पृथक् हो जाता है—ऐसी उनकी दशा होती है। यहाँ सम्यग्दर्शनकी बात है। सम्यग्दृष्टि जीव रागको उपादेय नहीं मानता। सच्चा जैन भक्तिके परिणाम छोड़कर शुद्धमें रहने का प्रयत्न करता है। शुद्धमें न रह सके तो शुभ करता है, किन्तु उसे हेय मानता है।

पुण्य और धर्म दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं। सात तत्त्व हैं। भगवान की भक्ति आश्रव तत्त्व है। संवर–निर्जरा धर्म है। सात तत्त्व पृथक् हैं। चिदानन्द स्वभावके आश्रयसे जो दशा प्रगट होती है वह संवर-निर्जरा है। आश्रवसे संवर नहीं होता। भक्तिसे अथवा पुण्यसे धर्म मानता है उसे नवतत्त्वकी श्रद्धा नहीं है। वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानी जीव आश्रवमें आनन्द मानता है। आत्मा तो सुन्दर आनन्दकन्द है; उसकी पर्यायमें रागद्वेषके परिणाम होते हैं, वह मैल है। अशुभ राग तो मैल है ही, किन्तु शुभराग भी मैल है। राग-रहित अन्तर परिणाम होना वह धर्म है। धर्मी जीव भक्तिके परिणाम को उपादेय नहीं मानता, किन्तु शुद्धोपयोगका उद्यमी होता है।

पं० टोडरमलजी श्री अमृतचन्द्राचार्य की पंचास्तिकाय गाथा १३६ की टीका का आधार देते हैं।

अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्राधान्यस्याज्ञानिनो भवति। उपरितन भूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानराग निषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति।

अर्थः—यह भक्ति, मात्र भक्ति ही है प्रधान जिनके ऐसे अज्ञानी

जीवों के ही होती है; तथा तीव्र रागज्वर मिटाने के हेतु और अस्थान के राग का निषेध करने के लिये कदाचित् ज्ञानी के भी होती है।

भक्ति से कल्याण होगा–ऐसी मान्यता सहित भक्ति अज्ञानी जीवों के ही होती है। ज्ञानी के तीव्र अशुभ राग मिटाने के लिये भक्ति का शुभराग आता है; तथापि उसे वे हेय समझते हैं।

ज्ञानी और अज्ञानी की भक्ति में विशेषता

प्रश्न:—यदि ऐसा है तो ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी के भक्ति की विशेषता होती होगी।

उत्तर:—जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है, जो पुण्य–पाप को हेय समझता है, देहादिकी क्रिया को ज्ञेय समझता है, चिदानन्द स्वभाव को उपादेय समझता है–ऐसे धर्मी जीवको सच्ची भक्ति होती है। मिथ्यादृष्टि जीव भक्ति को मुक्तिका कारण मानता है; इसलिये उसके श्रद्धान में अति अनुराग है। वह मानता है कि भगवान की भक्ति से सम्यग्दर्शन और मुक्ति होगी। सम्यग्दर्शन अरागी पर्याय है; क्या राग पर्यायमें से अरागी पर्याय आ सकती है? नहीं; उसका निश्चय मिथ्या है इसलिये व्यवहार भी मिथ्या है। अज्ञानी जीव भक्ति में अति अनुराग करता है। भक्ति करते–करते कभी कल्याण हो जायेगा—ऐसा मानता है। राग करते–करते सम्यग्दर्शन नहीं होता। राग को हेय समझकर, आत्मा को उपादेय माने तो सम्यग्दर्शन होता है। श्रुतज्ञान प्रमाण–सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् निश्चय और व्यवहार–ऐसे दो नय होते हैं। जिसे निश्चय का भान नहीं है उसे व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

धर्मी जीव श्रद्धान में भगवानकी भक्तिको बन्धका कारण मानता है, इसलिये उसके अन्तर में अज्ञानी की भाँति भक्तिका अनुराग नहीं आता। हाँ, बाह्य में ज्ञानी के कदाचित् अति अनुराग होता है। नन्दीश्वर द्वीप में शाश्वत प्रतिमा हैं; वहाँ इन्द्र भक्ति करते करते नाच उठते हैं। वे एकावतारी हैं; भगवान की भक्ति करते हैं; किन्तु ज्ञानानन्द स्वभाव की दृष्टि नहीं छूटती; तथापि जब राग आता है तब भक्ति करते हैं—बाह्य में बहुत भक्ति करते दिखाई देते हैं। रामचन्द्रजी ने भी शांतिनाथ भगवानकी बड़ी भक्ति की थी। भक्ति का अनुराग अज्ञानी को भी होता है, किन्तु वह भक्ति को मुक्ति का कारण मानता है। इस प्रकार अज्ञानी की देव भक्तिका स्वरूप बतलाया।

अज्ञानी की गुरु भक्ति

अब, उसके गुरुभक्ति कैसी होती है वह कहते हैं—

कोई जीव आज्ञानुसारी हैं। वे–यह जैन साधु हैं, हमारे गुरु हैं, इसलिये इनकी भक्ति करना चाहिये–ऐसा विचार कर उनकी भक्ति करते हैं, किन्तु गुरु की परीक्षा नहीं करते। जैनकुल में जन्म लिया इसलिये गुरुकी भक्ति करते हैं, तो वह मार्ग नहीं है। अन्यमती भी अपने सम्प्रदाय के गुरु को मानते हैं। कुल के अनुसार गुरु को मानने से नहीं चल सकता।

अब, कोई परीक्षा करता है कि यह मुनि दया पालते हैं, खास अपने लिये बनाया हुआ आहार नहीं लेते; तो वह सच्ची परीक्षा नहीं है। उद्देशिक आहार में छह काय की हिंसा होती है–ऐसा मान कर वह सदोष आहार न ले, तो वह कहीं मुनिका सच्चा लक्षण नहीं है।

अन्य–मत में भी दया पालन करते हैं; तो दया लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है । अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव–इन तीन दोष-रहित लक्षण द्वारा गुरु को पहिचानना चाहिये । जो दया नहीं पालते, जो उद्देशिक आहार लेते हैं उनकी तो बात ही नहीं है; किन्तु बाह्य से दया पालन करना भी सच्चा लक्षण नहीं है । रागरहित आत्मा के भान बिना सब व्यर्थ है ।

मुनि को दया के परिणाम आते हैं, किन्तु दया से पर जीव नहीं बचता । सम्प्रदाय की रूढ़ि अनुसार दया के लक्षण से गुरु माने तो वह ठीक नहीं है । जिसके लिये उद्देशिक आहार बने उसका तो व्यवहार भी सच्चा नहीं है; किन्तु जो बाह्य से दया और ब्रह्मचर्यादि का पालन करता है उसकी यह बात है । बाह्य ब्रह्मचर्य से मुनि का लक्षण माने तो अतिव्याप्ति दोष आता है । अन्य मत वाले भी बाह्य ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं; इसलिये वह सच्चा लक्षण नहीं है । जिसे ज्ञातादृष्टा का भान है और २८ मूल गुणों का पालन करता है वह मुनि है । एषणा समिति में दोष लगाये तो २८ मूलगुण में दोष है ।

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो ।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो ।।

अनन्तबार मुनिव्रत धारण किया, किन्तु आत्मज्ञानके बिना सुख प्राप्त नहीं कर सका; इसलिये बाह्य शुभभावसे गुरुकी परीक्षा करे तो वह सच्ची परीक्षा नहीं है ।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला १२ बुधवार, ता० २५–२–५३]

व्यवहार समिति आश्रव है, वह आत्माका मूल स्वरूप नहीं है ।

१५

निश्चय समिति और व्यवहार समिति, निश्चय गुप्ति और व्यवहार गुप्ति—ऐसे दो प्रकार हैं। शुद्ध स्वभावमें लीनता ही निश्चय गुप्ति है और वही निश्चय समिति है। आत्मामें लीन न हो, उस समय जो शुभराग आता है और अशुभसे बचता है वह व्यवहार गुप्ति है; और शुभमें प्रवृत्ति हो वह व्यवहारसमिति है। गुरुके स्वरूपकी पहिचान नहीं है और उनकी भक्ति करके धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

गुरु का स्वरूप समझे विना गुरु मानना वह अज्ञान है।

अब, जैन सम्प्रदायमें जन्म लेकर कुछ जीव आज्ञानुसारी होते हैं। परीक्षा विना सम्यग्दृष्टि नहीं हुआ जाता। यह हमारे गुरु हैं,—ऐसा कहकर उनकी भक्ति करता है, किन्तु साधुके स्वरूपकी उसे खबर नहीं है। आत्मभान होने के पश्चात् मुनिदशामें भी व्यवहार आता है। व्यवहार आता ही नहीं—ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। और कोई परीक्षा करना भी है तो—"यह मुनि दया पालते हैं"—ऐसा मानकर उनकी भक्ति करता है। मुनि ४६ दोष रहित आहार लेते हैं; उसमें पाँच समिति के भाव आश्रव हैं। २८ मूल गुणमें जो समिति है वह आश्रव है अतः हेय है। निर्विकल्प आनन्द-दशामें लीन होना वह निश्चय समिति है। और वह संवर निर्जरा है, उपादेय है।

समिति तो आस्रव है। अपने लिये बनाया हुआ आहारादि मुनि नहीं लेते। ऐसा जो न लेने का भाव है वह शुभभाव है, धर्म नहीं है। मुनिके निश्चय और व्यवहार दोनों होते हैं। चौथे गुणस्थान से निश्चय और व्यवहार दोनों होते हैं। श्रावकोंके व्यवहार और मुनियों के निश्चय होता है—ऐसा अज्ञानी मानते हैं, किन्तु वह भूल है। देह, मन, वाणीसे रहित और रागसे भी रहित आत्मामें निर्वि-

कल्प अनुभव सहित प्रतीतिका होना सो सम्यग्दर्शन है; वह निश्चय है और जो राग आता है वह व्यवहार है। दोनों का ज्ञान होना आवश्यक है। अज्ञानी जीव दया पालनके परिणामोंसे और निर्दोष आहार से मुनिपनेकी परीक्षा करता है, किन्तु वह ठीक नहीं है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकता वह मुनिपना है। बाह्यसे परीक्षा करना यथार्थ नहीं है। परीक्षा बिना मान लेना अज्ञान है। निश्चय और व्यवहारके भान बिना सम्यग्दर्शन नहीं है, सम्यग्दर्शनके बिना सम्यग्ज्ञान नहीं है; सम्यग्दर्शन और ज्ञानके बिना चारित्र और ध्यान नहीं है, ध्यानके बिना केवलज्ञान नहीं है।

तीर्थंकर देव कहते हैं कि परीक्षा किये बिना मानना वह मिथ्यात्व है। यहाँ तो सच्चे मुनि की बात है। भावलिंगी मुनिको निर्दोष आहार लेने का विकल्प उठता है वह राग है, चारित्रका दोष है, आश्रव है। शुद्ध आहार न होने पर भी "आहार शुद्ध है"—ऐसा कहना वह झूठ है। मुनि को ध्यान आ जाये कि यह दोष युक्त आहार है, तो नहीं लेते। अशुभसे निवृत्ति वह व्यवहार गुप्ति है। व्यवहार गुप्ति आश्रव है; और निश्चय गुप्ति संवर है—ऐसा अच्छी तरह समझना चाहिये। कोई कहे कि निश्चय सम्यग्दर्शन सातवें गुणस्थान में होता है तो वह भूल है। निश्चय सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानसे होता है; तत्पश्चात् मुनिपना आता है। मुनि पंच समितिका पालन करते हैं। ब्रह्मचर्य से मुनि की परीक्षा करे तो वह भी सच्ची परीक्षा नहीं है। ब्रह्मचर्यका पालन करके जीव अनन्तबार नववें ग्रैवेयक में गया है।

व्रतके दो भेद हैं—एक निश्चयव्रत और दूसरा व्यवहारव्रत।

अपने स्वभावसे च्युत होकर पाँच महाव्रतके परिणाम आयें वह निश्चय से हिंसा है; किन्तु जिसे आत्मा का भान हो उसके अहिंसा के शुभभाव को व्यवहारसे अहिंसा कहते हैं। हमारे मुनि वस्त्र, धन आदि नहीं रखते, सकल मूलगुणोंका पालन करते, अपने लिये पुस्तक नहीं खरीदते,—ऐसे ऐसे शुभ परिणाम भी आश्रव हैं। उनके द्वारा मुनि की परीक्षा करे तो वह परीक्षा सच्ची नहीं है।

पुनश्च, उपवास, अथवा वृत्तिपरिसंख्यानादि नियमसे मुनि की परीक्षा करे तो वह भी यथार्थ नहीं है। जीवने अनेकों बार ऐसे उपवासादि किये हैं। शीत-ताप सहन करना वह मुनिपना नहीं है; अन्तर का अनुभव मुनिपना है। उसकी परीक्षा अज्ञानी नहीं करता। और कोई मुनि तीव्र क्रोधादि करे तो वह व्यवहाराभासमें भी नहीं आता; किन्तु कोई मुनि बाह्य क्षमाभाव रखता हो और उसके द्वारा परीक्षा करे तो वह भी सच्ची परीक्षा नहीं है। दूसरों को उपदेश देना मुनि का लक्षण नहीं है; उपदेश तो जड़की क्रिया है, आत्मा उसे नहीं कर सकता। ऐसे बाह्य लक्षणों से मुनिकी परीक्षा करता है वह यथार्थ नहीं है; ऐसे गुण तो परमहंस आदिमें भी होते हैं। दया पाले, उपवासादि करे-यह लक्षण तो मिथ्यादृष्टिमें भी होते हैं; ऐसे पुण्यपरिणाम तो जैन मिथ्यादृष्टि मुनियों तथा अन्य मतियोंमें भी दिखाई देते हैं; इसलिये उसमें अतिव्याप्ति दोष आता है। अति-व्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव दोष रहित परीक्षा न करे वह जीव मिथ्यादृष्टि है। शुभभावों द्वारा सच्ची परीक्षा नहीं होती।

क्रोधादि परिणामों को दूर करना आत्माश्रित है। शुद्धपरिणाम शुभपरिणाम और जड़के परिणाम—इन तीनों की स्वतंत्रताकी खबर

अज्ञानीको नहीं है। क्षुधा जड़की पर्याय है। अन्तर सहनशीलताके परिणाम होते हैं वे जीवाश्रित हैं। जठराग्निरूप क्षुधा जीवके नहीं है। अज्ञानी मानता है कि मुझे क्षुधा लगी है। इच्छा—विभावपरिणाम जीवके हैं। सम्यक्त्वीको भी विभावपरिणाम आते हैं। वह समझता है कि मेरी निर्बलताके कारण वे परिणाम आते हैं, परके कारण नहीं आते। कोई जीव परकी दया पालता है; उस कथनमें परके शरीरकी क्रिया जड़के आश्रित है, और अपने में अनुकम्पाके परिणाम हुए वे जीवाश्रित हैं। आहारादि बाह्य सामग्रीका न आना वह जड़के आश्रित है और रागकी मन्दता होना वह जीवाश्रित है—इसप्रकार जिसे जीवाश्रित और पुद्गलाश्रित भावोंकी खबर नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है।

उपवासमें रागकी मन्दता होना वह जीवाश्रित है और खाद्यपदार्थोंका न आना वह जड़ाश्रित है; क्रोधके परिणामोंका होना वह जीवाश्रित है और आँखें लाल हो जाना जड़ाश्रित है; उपदेश वाक्य जड़के आश्रित हैं और उपदेश देने का भाव जीवके आश्रित है।—इसप्रकार जिसे दोनों के भेदज्ञानकी खबर नहीं है वह सच्ची परीक्षा नहीं कर सकता। चैतन्य और जड़ असमानजातीय पर्यायें हैं। जड़की पर्याय मुझसे होती है—ऐसा अज्ञानी मानता है। वह असमान जाति मुनि पर्यायमें एकत्व बुद्धिसे मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

मुनि का सच्चा लक्षण

अब, मुनिकी सच्ची परीक्षा करते हैं। मुनिके व्यवहार होता अवश्य है, किन्तु उससे उनकी सच्ची परीक्षा नहीं होती। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग ही मुनिका सच्चा लक्षण है।

यहाँ एकताकी बात है, पूर्णताकी नहीं। चौथे, पाँचवें में सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। तत्पश्चात् आगे बढ़े तो प्रथम सातवाँ गुणस्थान आता है, फिर छट्ठा आता है। स्वरूपमें अकषाय परिणति होती है वह निश्चयव्रत है और जो शुभपरिणाम आते हैं वह व्यवहार व्रत है। चौथे गुणस्थानमें स्वरूपाचरण चारित्र है। देवादिकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन नहीं है, शास्त्रोंका अध्ययन सम्यग्ज्ञान नहीं है, और २८ मूल गुणोंका पालन वह सम्यक्चारित्र नहीं है, वह सब व्यवहार है।

अष्टसहस्रीमें कहा है कि परीक्षा करके देवादिकी आज्ञा माने वह सम्यक्त्वी है। जिसप्रकार व्यापारी कोई वस्तु खरीदते समय परीक्षा करता है, उसीप्रकार यहाँ उपादान–निमित्त, स्वभाव–विभाव, द्रव्य–गुण–पर्याय आदिका स्वरूप समझकर परीक्षा करना चाहिये। भान बिना मुनिपना लेकर, शुक्ल लेश्या करके जीव नववें ग्रैवेयक तक गया है, तथापि धर्म नहीं हुआ; और आत्माका भान करे तो मेंढ़क भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। ज्ञानी अपनी शक्तिके अनुसार व्रत–तप करता है; हठ करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। मोक्षमार्गकी पहिचान हो जाये तो मिथ्यादृष्टि रह ही नहीं सकता; किन्तु मुनिका सच्चा स्वरूप न जाने तो सच्ची भक्ति कहाँ से होगी ?—नहीं हो सकती।

जिसप्रकार सुवर्ण कसौटी करके लिया जाता है, उसीप्रकार धर्मकी कसौटी करना चाहिये। धर्मको कसौटी न करे तो नहीं चल सकता। अज्ञानी सच्चे मुनिके अन्तरकी परीक्षा नहीं करता और व्यवहार तथा शुभ क्रियासे परीक्षा करके उनकी सेवा से भलाई मानता है; किन्तु परकी सेवासे भला नहीं होता; परकी सेवा का

भाव पुण्य है, धर्म नहीं है। अज्ञानी जीव उसमें भला मानकर सेवा करता है। गुरु की भक्ति अनुरागी होकर करता है।—इसप्रकार उसकी भक्ति का स्वरूप कहा।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला १३ गुरुवार, ता० २६-२-५३]

अज्ञानी की शास्त्र भक्ति सम्बन्धी भूल

अब अज्ञानी की शास्त्र भक्तिका स्वरूप कहते हैं।

कोई जीव तो, यह केवली भगवानकी वाणी है, केवली भगवान के पूज्यपने से उनकी वाणी भी पूज्य है—ऐसा मानकर उनकी भक्ति करते हैं। आत्मा और जड़की भिन्नताका तथा सात तत्त्वोंके पृथक्त्व की खबर नहीं है, मात्र वाणी की भक्ति करते हैं तो वह पुण्यपरिणाम है, धर्म नहीं है।

पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीकामें श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निश्चयाभासी और व्यवहाराभासी का वर्णन किया है। पर्याय में रागद्वेष होने पर भी उसे प्रगट शुद्ध मानले वह निश्चयाभासी है। देवगुरु शास्त्रकी परीक्षा किये बिना शुभराग से धर्म माने वह व्यवहाराभासी है। जो जीव परीक्षा किये बिना वाणी को शुद्ध मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

और कोई इसप्रकार परीक्षा करता है कि—हमारे शास्त्रों में राग मन्द करने को कहा है; किन्तु शास्त्र ने तो राग रहित ज्ञान-स्वभाव की प्रतीति करने को कहा है। राग का अभाव करने को कहा है उसे वह नहीं समझता। कषाय मन्द करे वह पुण्य है, धर्म नहीं है।

पुनश्च, हमारे शास्त्रों में जैसी दया है वैसी दया अन्यत्र नहीं है–ऐसा वह कहता है; किन्तु परकी दया जीव नहीं पाल सकता। परकी दया पालने का भाव पुण्य है, धर्म नहीं है–ऐसा शास्त्र कहते हैं। अज्ञानी उसे नहीं समझता। अपनी पर्याय में राग की उत्पत्ति न होना सो अहिंसा है। परकी दया का भाव निश्चय से हिंसा है।

"जियो और जीने दो"–ऐसा अज्ञानी कहते हैं। किसी का जीवन किसी पर के आधीन नहीं है। शरीर या आयु से जीना वह आत्मा का जीवन नहीं है। अपनी पर्याय में पुण्य–पाप के भाव स्वभाव की दृष्टि पूर्वक न होने देना और ज्ञाता–दृष्टा रहना उसका नाम जीवन है।

जैन आत्मा का स्वरूप है। जैन शास्त्र पर की दया पालन करने को नहीं कहते। अज्ञानी कहते हैं कि निगोद में अनन्तानन्त जीव हैं, दो इन्द्रियादि भी अनेक जीव हैं, उनकी दया पालना चाहिये; किन्तु वह भूल है। जगत्कर्ता ईश्वर की मान्यतावाला जीव जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि है, उसी प्रकार पर जीवों की पर्यायको अपने शुभरागके आधीन माननेवाला परकी पर्याय का कर्ता होता है; वह भी ईश्वर को जगत् कर्ता माननेवालों की भाँति मिथ्यादृष्टि है।

कोई प्रश्न करे कि–देखकर चलने को तो कहा है न? तो कहते हैं कि शरीर की पर्याय मुझसे होती है–ऐसा मानना वह मिथ्यात्व शल्य है। जड़ की पर्याय जड़ से होती है, तथापि आत्मा के ध्यान पूर्वक शरीर की ऐसी क्रिया करूँ और शरीर को ऐसा रखूँ तो जीव बच जायें—ऐसा मानने वाला जैन नहीं है। यदि आत्मा की इच्छा से शरीर में कार्य होता हो तो रोग क्यों आता है? आत्माकी इच्छासे

शरीर की क्रिया होती हो तो वह पराधीन हो जाये। कोई पदार्थ दूसरे पदार्थ की क्रिया नहीं कर सकता। अपने ज्ञानानन्द स्वभावके भानपूर्वक राग न होने देना तथा राग रहित लीनता करना वह अहिंसा और दया है, और ऐसे भानपूर्वक दूसरे प्राणियों को दुःख न देने का भाव सो व्यवहार दया है, वह पुण्यास्रव है। आत्मा पर जीव की पर्याय का तथा शरीर, मन, वाणी की पर्याय का कर्ता नहीं है। यदि जड़ की क्रिया आत्मा से हो तो जड़ के द्रव्य और गुण ने क्या किया? जगत को अनेकान्त तत्त्व की खबर नहीं है। आत्मामें जड़ नहीं है और जड़ में आत्मा नहीं है;—इस प्रकार जिसे अनेकान्त की खबर नहीं है और बाह्य में दया मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

और वह कहता है कि हमारे शास्त्रों में क्षमा का कथन है; तो अन्य मत के शास्त्रों में भी क्षमा का कथन है। वैराग्य और क्षमा शास्त्रों को पहिचानने का लक्षण नहीं है। फिर कहता है कि हमारे शास्त्रों में शील पालने तथा सन्तोष रखने को कहा है, इसलिये हमारे शास्त्र ऊँचे हैं; तो वैसे शुभ परिणाम रखने को तो अन्य मत के शास्त्रों में भी कहा है; इसलिये वह लक्षण सच्चा नहीं है। पुनश्च, इन शास्त्रोंमें त्रिलोकादिका गम्भीर निरूपण है, ऐसी उत्कृष्टता जानकर उनकी भक्ति करता हैं। अब, जहाँ अनुमानादि का प्रवेश नहीं है वहाँ सत्य—असत्य का निर्णय कैसे हो सकता है? इसलिये इसप्रकार तो सच्ची परीक्षा नहीं हो सकती।

जैन शास्त्रों का सच्चा लक्षण

यहाँ जैन शास्त्रों में तो अनेकान्तरूप सच्चे जीवादि तत्त्वों का निरूपण है। शरीर में आत्मा का अभाव है, आत्मा में शरीर का

अभाव है; कर्म का आत्मा में अभाव है, आत्मा का कर्म में अभाव है; ऐसा कथन अनेकान्त स्वरूप शास्त्रों में होना चाहिये। शरीर जड़ है, वह आत्मा से नहीं चलता। शरीर आत्मा से पृथक् है तो उसकी क्रिया भी पृथक् है—इसप्रकार ज्ञानी अनेकान्त द्वारा शास्त्रों की पहिचान करता है। शरीर में रोग आये वह जड़ की पर्याय है, द्वेष होना वह आश्रव है; जड़ की पर्याय में आश्रव का अभाव और आश्रव में जड़ का अभाव है—ऐसा माने वह अनेकान्त है। मैं जीव हूँ और दूसरे अनन्त जीव तथा अनन्तानन्त पुद्गल मैं नहीं हूँ, अर्थात् पर की पर्याय मुझसे नहीं है और मेरी पर्याय पर से नहीं है;–ऐसा अनेकान्त है। अज्ञानी मानता है कि पर जीव के बचने से मुझे पुण्य होता है, और मुझे शुभ भाव हुआ इसलिये पर जीव बच गया; किन्तु ऐसा मानने से अनेकान्त नहीं रहता। परजीव की पर्याय पर में है और शुभ भाव स्वतंत्र तुझमें है; दोनों को स्वतंत्र समझना चाहिये। भगवान की प्रतिमा के कारण शुभ भाव माने तो एकान्त हो जाता है। शुभ भाव हुआ इसलिये मन्दिर बन गया, तो एकान्त हो जाता है। जैन शास्त्र सात तत्त्वों को पृथक रूप बतलाते हैं। जीव है इसलिये अजीव है—ऐसा नहीं है। शुभ परिणाम हैं इसलिये अजीव की पर्याय होती है–ऐसा नहीं है। पाप के परिणाम हुए इसलिए पर जीव मर गया–ऐसा नहीं है। पापपरिणाम जीवमें होते हैं, और पर जीव पृथक् तथा स्वतंत्र है। उमास्वामी महाराज सात तत्त्वों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं। जीव में अजीवादि छह तत्त्वों का अभाव है। अजीव में जीवादि छह तत्त्वों का अभाव है। पाप–परिणाम अपने में होते हैं और परजीव उसके अपने कारण मरता है। और अपने शुद्ध स्वभाव के आश्रय से प्रगट होने

वाली शुभा-शुभ-रहित संवर पर्याय शुद्ध है। पुण्य से संवर माने तो आस्रव और संवर एक हो जायें। ऐसी परीक्षा किये बिना शास्त्र की भक्ति करे तो पुण्य है; उससे जन्म-मरण का अन्त नहीं आता। एक में दूसरा तत्त्व नहीं है। मैं त्रिकाली ज्ञायक तत्त्व हूँ और संवर-निर्जरा पर्याय है। त्रिकाली द्रव्य में पर्याय नहीं है और पर्याय में त्रिकाली द्रव्य नहीं है ऐसा समझना चाहिये।

निमित्त के कारण नैमित्तिक नहीं है। शास्त्र के कारण ज्ञान हुआ-ऐसा नहीं है; और ज्ञान हुआ इसलिये शास्त्रको आना पड़ा-ऐसा भी नहीं है। दोनों पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं; एक में दूसरी का अभाव है।-ऐसी परीक्षा नहीं है और बिना समझे शास्त्रकी भक्ति करे तो धर्म नहीं है। शास्त्र का लक्षण दया, वैराग्यादि मानने से अतिव्याप्ति दोष आता है; क्योंकि वैसे परिणाम करना तो अन्य मत के शास्त्रों में भी कहा है। अनेकान्तरूप सच्चे जीवादि तत्त्वों का निरूपण-वह शास्त्र का लक्षण है।

और दिव्यध्वनि में तथा शास्त्रों में सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग कहा है। व्यवहार रत्नत्रय अपूर्ण दशा में आता है, किन्तु वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है। ज्ञान स्वभावी आत्मा की प्रतीति, स्वसंवेदन ज्ञान और राग रहित रमणता को मोक्षमार्ग कहते हैं। जिस प्रकार अरिहन्त का लक्षण वीतरागता और केवलज्ञान है किन्तु बाह्य समवशरणादि लक्षण नहीं है; उसी प्रकार मुनि का लक्षण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है, किन्तु शरीर की नग्न दशा सच्चा लक्षण नहीं है। उसी प्रकार शास्त्र का लक्षण नवतत्त्वों की भिन्नता और सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है, किन्तु दया-दानादिकी प्ररूपणा वह शास्त्र का लक्षण नहीं है।

लक्षण उसे कहते हैं कि जो उसी पदार्थ में हो और अन्यत्र न हो। हमारे भगवान के पास देव आते हैं वह सच्चा लक्षण नहीं है। अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए उस लक्षण से अरिहन्त की पहिचान होती है। कोई शास्त्र कहे कि पहले व्यवहार और फिर निश्चय आता है, तो उस शास्त्र का सच्चा लक्षण नहीं है। व्यवहार परिणाम राग है, और निश्चय अराग परिणाम है। राग से अराग परिणाम का होना माने तो एकान्त हो जाये। इसलिये धवला, समयसार, इष्टोपदेश आदि सच्चे शास्त्रों में एक ही बात है। मुनि के २८ मूलगुण हैं इसलिये आत्मा की शुद्धता बनी रहती है—ऐसा नहीं है। आश्रव और संवर निर्जरा पृथक्–पृथक् हैं।-इसप्रकार परीक्षा करना चाहिये।

अज्ञानी जीव परीक्षा किये बिना शास्त्रों को मानते हैं। आत्मा का मोक्षमार्ग पर से नहीं होता, और न दया–दानादि से होता है। शुद्ध चिदानन्द आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और लीनता से मोक्षमार्ग होता है। जो सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग बतलाये उस शास्त्र का सच्चा लक्षण है। चारों अनुयोग ऐसा बतलाते हैं कि एक तत्त्व के कारण दूसरा तत्त्व नहीं है। व्यवहार से निश्चय नहीं है और निश्चय से व्यवहार नहीं है—ऐसा जो नहीं मानता वह शास्त्र का भक्त नहीं है। कुम्हार आये तो घड़ा हो ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। कुम्हार जीव द्रव्य है, घड़ा पुद्गल की अवस्था है; एक के कारण दूसरे की पर्याय नहीं है। जो अनेकान्त रहस्य से जैन शास्त्रों की उत्कृष्टता को नहीं पहिचानता वह मिथ्यादृष्टि है।

मिट्टी में चूने का अंश हो तो उस मिट्टी के सारे बर्तन गर्म करने से टूट जायेंगे। जिसे मिट्टी और चूने की भिन्नता का ज्ञान नहीं है

उसके सब बर्तन टूट जाते हैं। उसी प्रकार अनेकान्त तत्त्वों में भूल रह जाये और एकान्त हो जाये तो सब भूल ही होती है। देव, गुरु और शास्त्र कहते हैं कि प्रत्येक तत्त्व पृथक् है, तथा शुद्ध आत्मा के आश्रय से वीतरागता होती है; इसमें कहीं भूल अथवा विपरीत अभिप्राय रह जाये तो मोक्षमार्ग नहीं होता।—इसप्रकार शास्त्र भक्तिका स्वरूप कहा।

—इसप्रकार उसे देव–गुरु–शास्त्र की प्रतीति हुई है इसलिये वह अपने को व्यवहार सम्यक्त्व मानता है, किन्तु निश्चय प्रगट हुए बिना व्यवहार कैसा? अरिहन्तादि का सच्चा स्वरूप भाषित नहीं हुआ है इसलिये प्रतीति भी सच्ची नहीं है और सच्ची प्रतीति के बिना सम्यक्त्व की भी प्राप्ति नहीं है; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।





तत्त्वार्थश्रद्धान की अयथार्थता

उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्रकी रचना की है; उसमें "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" सूत्र है। उसमें तत्त्व=भाव, और अर्थ=पदार्थ, (द्रव्य, गुण, पर्याय)। पदार्थके (अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय के) भावका यथार्थ भासन होना वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। वहाँ व्यवहार सम्यग्दर्शनकी बात नहीं है। इसलिये जो सात तत्त्वों की भिन्न-भिन्न यथार्थ रूपसे श्रद्धा करता है उसे सम्यग्दर्शन होता है। जीवका स्वभाव ज्ञायक शुद्ध चिदानन्द है, राग और शरीरसे भिन्न है। शरीर, कर्म आदि अजीव हैं और अजीवका स्वभाव जड़ है। पुण्य-पापके परिणाम आश्रव हैं, और उसका स्वभाव आकुलता है। मेरा स्वभाव अनाकुल आनन्द है। विकार में अटकना वह बन्ध है। आत्मा की शुद्धि अर्थात् यथार्थ रुचि, ज्ञान और रमणता वह संवर-तत्त्व है। शुद्धिकी वृद्धि होना वह निर्जरा तत्त्व है और सम्पूर्ण शुद्धि वह मोक्ष है। सात तत्त्वों में जीव और अजीव द्रव्य हैं; आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष-यह पर्याय हैं।—इसप्रकार सात तत्त्वोंके यथार्थ और पृथक्-पृथक् भावका श्रद्धान और भासन होना वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। अज्ञानीको ऐसा श्रद्धान और भासन नहीं होता।

मुनिका शुभराग निमित्तमात्र है, मुनि वास्तवमें शास्त्रके कर्ता नहीं हैं। शुभराग आता है वह आश्रव है, उसे मुनि जानते हैं। मुनि द्वारा शास्त्रकी रचना हुई—ऐसा कहना वह निमित्तका कथन है।

शास्त्रोंमें जैसे जीवादि तत्त्व लिखे हैं उसीप्रकार अज्ञानी स्वयं सीख लेता है; वहीं उपयोग लगाता है और दूसरों को उपदेश देता है; किन्तु स्वयंको तत्त्वोंका भाव भासन नहीं है, इसलिये सम्यक्त्व नहीं होता।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला १४ शुक्रवार ता० २७–२–५३]

अब कदाचित् कोई शास्त्रानुसार सात तत्त्वोंकी श्रद्धा करके शास्त्र में लिखे अनुसार सीख ले, शास्त्र क्या कहते हैं उसमें उपयोग लगाये, दूसरों को उपदेश दे किन्तु जीव–अजीवादिके भावकी उसे खबर नहीं है, तो भाव भासनके बिना तत्त्वार्थश्रद्धा कहाँ से होगी ? नहीं हो सकती। भाव भासन किसे कहते हैं वह यहाँ कहते हैं।

भावभासनका दृष्टान्तसहित निरूपण

जिसप्रकार कोई पुरुष चतुर होने के हेतु संगीत शास्त्र द्वारा स्वर, ग्राम, मूर्च्छना और तालके भेद तो सीखता है, किन्तु स्वरादि का स्वरूप नहीं जानता, और स्वरूपकी पहिचानके बिना अन्य स्वरादिको अन्य स्वरादिरूप मानता है; अथवा सत्य भी माने तो निर्णय पूर्वक नहीं मानता; इसलिये उसमें चतुरता नहीं होती। उसीप्रकार कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये शास्त्रमें से जीव–अजीवका स्वरूप सीख लेता है; किन्तु आत्मा ज्ञानस्वभावी है, पुण्य-पाप आश्रव हैं; उन सबका निर्णय अपने अन्तरसे नहीं करता। शास्त्र से सीखता है, किन्तु मैं ज्ञायक स्वरूप हूँ, पुण्य–पाप विकार है, शरीर अजीव है, आत्माके आश्रयसे शुद्धता प्रगट हो वह संवर–निर्जरा है; इसप्रकार निर्णयपूर्वक नहीं समझता वह व्यवहाराभासी है। वह अन्य तत्त्वोंको अन्य तत्त्वरूप मान लेता है, अथवा सत्य माने तो वहाँ

निर्णय नहीं करता; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। जो सत्य न माने उसकी बात तो ऊपर कही जा चुकी है, किन्तु सत्यको जो निर्णय किये बिना माने उसे भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शनके बिना चारित्र, तप या व्रत नहीं होते। यहाँ तीन बातें कही हैं:—

(१) देव–गुरु-शास्त्रको बिना समझे रूढीसे माने तो वह भूल है।

(२) तत्त्वोंका ज्ञान नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है।

(३) तत्त्वोंको रूढीसे या शास्त्रसे माने किन्तु अन्तरमें भावभासन नहीं है—निश्चय नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ, जिसे भावभासन नहीं है उसकी बात चलती है। मदिरा पिया हुआ व्यक्ति जिसप्रकार कभी माताको माता कहे तथापि वह पागल है, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव नव तत्त्वोंके नाम बोले, किन्तु मैं जीव हूँ, विकारादि अधर्म है, मैं उससे रहित शुद्ध हूँ–ऐसा निश्चय नहीं है इसलिये उसे धर्म नहीं होता। पुनश्च, जिसप्रकार किसी ने संगीत शास्त्रादिका अध्ययन न किया हो, किन्तु यदि वह स्वरादिके स्वरूपको जानता है तो वह चतुर ही है। उसीप्रकार किसी ने शास्त्र पढ़े हों अथवा न पढ़े हों, किन्तु यदि उसे जीवादिका भावभासन है तो वह सम्यग्दृष्टि ही है। पुण्य–पाप दुःखदायक हैं, अधर्म हैं; रागरहित स्वानुभवके परिणाम शांतिदायक हैं, मैं शुद्ध ज्ञायक हूँ और शरीर, कर्मादि अजीव हैं;—ऐसा भावभासन हो तो वह सम्यग्दृष्टि ही है। कदाचित् वर्तमान में शास्त्रोंका बहुत अध्ययन न हो, तथापि वह सम्यग्दृष्टि ही है।

जैसे—हिरन रागादिका नाम नहीं जानता, किन्तु रागका स्वरूप पहिचानता है; उसीप्रकार तुच्छ बुद्धि जीव जीवादिके नाम नहीं जानता, किन्तु उनके स्वरूपको पहिचानता है। किसी जङ्गलमें रहने

वाले व्यक्तिको भारी सम्पत्ति मिल गई हो; तो वह उसकी संख्या नहीं जानता किन्तु यह जानता है कि अपार सम्पत्ति है; उसीप्रकार तिर्यंच जीव आत्माका नाम, संख्या आदि न जाने, तथापि उसके अन्तर में भावभासन हो तो वह सम्यक्त्वी है। तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। उसे नवतत्त्वोंके नाम नहीं आते किन्तु उनका स्वरूप समझता है। मैं जीव ज्ञायक तत्त्व हूँ, शरीरादिक पर-अजीव हैं, वे मुझमें नहीं हैं। पुण्य-पाप तथा आश्रव-बन्धके भाव बुरे हैं और संवर-निर्जरा-मोक्षके भाव भले हैं। इसप्रकार चार बोलों में सात तत्त्वोंका भासन हुआ है; उसे पूर्वकालमें ज्ञानीका उपदेश मिला है। तिर्यंच आदि भाव भासनका वर्तमान पुरुषार्थ करते हैं, उसमें पूर्व संस्कारादि निमित्त हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भले भाव हैं आदि प्रकार से भाव भासन है, उसमें देव-गुरु-शास्त्रका स्वरूप और संवर निर्जराका स्वरूप आ जाता है।

कोई जीव मात्र नवतत्त्वोंके नाम रट ले किन्तु अन्तर्निर्णय न करे तो वह मिथ्यादृष्टि है। यत्नपूर्वक चलने को निश्चय समिति मान लेता है। चलना तो जड़की क्रिया है और अन्तर में शुभभाव होना वह व्यवहार समिति है; और अन्तरमें रागरहित शुद्ध परिणति होना वह निश्चय समिति है;—ऐसा जिसे भावभासन नहीं है, वह कदाचित् मात्र शब्द रट ले तो भी मिथ्यादृष्टि है।

अब, भावभासनमें शिवभूति मुनि का दृष्टान्त देते हैं। वे आत्मज्ञानी धर्मात्मा मुनि थे; छट्ठी-सातवीं भूमिकामें झूलते थे; जीवादिके नाम नहीं जानते थे। "तुषमाषभिन्न"—ऐसी घोषणा करने लगे। गुरु ने "मारुष मा तुष" अर्थात् राग-द्वेष मत करना,—स्वसन्मुख

ज्ञाता रहना ऐसा कहा था, लेकिन उसे वे भूल गये; तथापि उन्हें ऐसा भावभासन था। एकबार आहार लेने जा रहे थे। मार्गमें एक स्त्री उड़दकी दाल के छिलके निकाल रही थी। दूसरी स्त्रीने जब उससे पूछा कि क्या कर रही है ? तब उसने उत्तर दिया कि "तुषमाषभिन्न" करती हूँ। माष अर्थात् उड़द और तुष अर्थात् छिलका। उड़दकी दाल से छिलके अलग कर रही हूँ। मुनि को भान तो था ही कि मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ, किन्तु विशेष लीनता करके वे वीतराग दशाको प्राप्त हुए। मैं मन, वाणी, देहसे भिन्न हूँ, राग द्वेष छिलके हैं उनसे रहित हूँ, ज्ञान स्वभावी हूँ;—उसीमें विशेष लीनता करके वे केवलज्ञानको प्राप्त हुए। यह सम्यग्दर्शनके पश्चात्की बात है। शिवभूत मुनि जो शब्द बोले थे वे सैद्धान्तिक शब्द नहीं थे, किन्तु स्व–परके भानसहित ध्यान किया, इसलिये केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

ग्यारह अङ्गका पाठी हो अथवा उग्र तपश्चर्या करे, तथापि जिसे आत्माका भान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है। और ग्यारह अङ्गका पाठी तो जीवादि के विशेष जानता है, किन्तु उसे अन्तरंग भाव भासित नहीं होते इसलिये वह मिथ्यादृष्टि रहता है। अभव्यको नाम निक्षेपसे तत्त्वका श्रद्धान है, किन्तु भावनिक्षेपसे भावभासन नहीं है। जो जीव सांसारिक बातों में चतुराई बतलाता है, किन्तु धर्म में मूर्खता प्रगट करता है उसे धर्मकी प्रीति नहीं है; तथा यदि शास्त्रकी प्रीति हो, किन्तु भावभासन न हो तो वह भी मिथ्यादृष्टि है।

जीव–अजीवतत्त्व के श्रद्धानकी अयथार्थता

वीतराग शास्त्रों में जैसी जीवादि तत्त्वोंकी बात है वैसी अन्यत्र

कहीं नहीं है। भगवान की वाणी के अनुसार आचार्यों ने शास्त्रों की रचना की है। समयसार, नियमसार षट्खण्डागम आदि जैन शास्त्र हैं। उनमें कहे हुए त्रस-स्थावरादिरूप जीवके भेद सीखता है, गुणस्थान, मार्गणास्थान के भेदों को पहिचानता है, जीव-पुद्गलादिके भेदों को और उनके वर्णादि भेदों को जानता है, व्यवहार-शास्त्रों की बातें समझता है, किन्तु अध्यात्म शास्त्रोंमें भेदविज्ञानके कारणभूत तथा वीतरागदशा होने के कारणभूत जैसा निरूपण किया है वैसा नहीं जानता। आत्मा जड़ कर्मसे भिन्न है—ऐसा चैतन्यस्वरूप अध्यात्म शास्त्रमें कहा है; व्यवहारशास्त्रमें कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहा है। अध्यात्मशास्त्रमें ऐसा कहा है कि गुणस्थान-मार्गणास्थान जीवका मूलस्वरूप नहीं है। वीतरागदशाका सच्चा कारण जीव-द्रव्य है। अध्यात्मशास्त्रमें किस अपेक्षासे कथन है उसे नहीं समझता।

आगम शास्त्रमें जीवका स्वरूप मार्गणास्थान, गुणस्थान तथा वर्तमान पर्याय सहित कहा है, और अध्यात्म शास्त्रमें मुख्यतः मात्र शुद्ध कहा है। वर्तमान पर्यायको गौण करके त्रिकाली शुद्ध स्वभाव को जीव कहा है; उसके स्वरूपको अज्ञानी यथार्थ नहीं जानता; और किसी प्रसंग पर वैसा भी जानना पड़े तो शास्त्रानुसार जान लेता है। किन्तु अपने को अपने रूप जानकर उसमें परका अंश भी न मिलाना, तथा अपना अंश परमें न मिलाना—ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता। स्वयं अपने को नहीं जानता। मैं तो ज्ञायक चिदानन्द हूँ; कर्म-शरीर का अंश अपने में नहीं मानना चाहिये; शरीरकी क्रिया मुझसे होती है—ऐसा नहीं मानना चाहिये। आत्माकी इच्छा

कर्म और शरीरमें कार्यकारी नहीं है, और अपनी ज्ञानपर्याय शास्त्र में नहीं है—ऐसा भेदज्ञान नहीं करता। मैं इच्छा करता हूँ इसलिये परकी दयाका पालन होता है—ऐसा मानने से जीवका अंश अजीव में आ जाता है। कर्मके उदय अनुसार जीवको रागादि करना पड़ता है ऐसा मानने में अजीवका अंश जीवमें आ जाता है।

अब, कोई जीव तत्त्वों के नाम अध्यात्मशास्त्रानुसार जान ले, किन्तु ऐसा मान ले कि वाणीसे ज्ञान होता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। परसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, अपने आत्माकी श्रद्धासे होता है। मैं हूँ इसलिये कर्म बन्ध होता है यह बात मिथ्या है। एक तत्त्वको दूसरे में न मिलाये तो ठीक है, किन्तु वैसी भिन्नता उसे भासित नहीं होती इसलिये जीव-अजीवकी सच्ची श्रद्धा नहीं होती। जिस-प्रकार अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार बिना पर्याय बुद्धिसे ज्ञातृत्वमें तथा वर्णादिकमें अहंबुद्धि धारण करते हैं; ज्ञातृत्व हो वह भी मैं हूँ, शरीर वर्णादि भी मैं हूँ और रागादि भी मैं हूँ—इसप्रकार सबको एक मानता है; उसी प्रकार जैन कुलमें जन्म लेकर ऐसा माने कि "मैं उपदेश देता हूँ अथवा शरीरको चलाता हूँ" तो वह भी जीव-अजीवको एक करता है। उपदेश और शरीरकी क्रिया तो जड़की है, वह क्रिया आत्मा नहीं कर सकता; तथापि जो ऐसा मानता है कि वह मुझसे हुई है वह जीव-अजीवकी सच्ची श्रद्धा नहीं करता; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला १५ शनिवार, ता० २८-२-५३]

यहाँ व्यवहाराभासी का निरूपण हो रहा है। जीवकी क्रिया जीवमें है और अजीवकी अजीवमें;—उसका जिसे भान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है।

जिसप्रकार अन्यमती जीव बिना निर्णय किये वर्तमान अंश में दृष्टि करता है और ज्ञातृत्व तथा वर्णादिमें अहंबुद्धि धारण करता है; उसीप्रकार जैन में जन्म लेकर ऐसा माने कि मैं ज्ञानवान हूँ और उपदेश भी देता हूँ; वह जीव और अजीवको एक मानता है। ज्ञान आत्माश्रित है और उपदेश जड़ाश्रित—ऐसी उसे खबर नहीं है। पुनश्च, उपवासके समय शरीरका क्षीण होना अथवा भोजनका छूटना वह जड़की क्रिया है; तथापि उसे अपनी मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। दया–दानादिके तथा ज्ञानादिके परिणाम आत्माश्रित हैं और शरीरकी क्रिया जड़ाश्रित है; तथापि जो सब क्रियाओं को आत्माश्रित मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानपर्याय, रागपर्याय और देहादि जड़की पर्याय—सबको वह एक मानता है। उपदेश मैंने दिया और राग भी मैंने किया—ऐसा वह मानता है। भगवान के पास जाने का शुभराग आत्माश्रित है, और शरीरका हलन–चलन, हाथ जुड़ना आदि पुद्गलाश्रित है; तथापि दोनों को एक मानना वह भूल है।

और किसी समय शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाये, किन्तु वहाँ अन्तरंग निर्धाररूप श्रद्धान नहीं है। शरीर की और परजीवकी क्रिया मेरी नहीं है; ज्ञान और राग होता है वह जीव करता है—ऐसी खबर नहीं है; अन्तरंग में शास्त्रानुसार श्रद्धान नहीं है। जिस-प्रकार नशेबाज व्यक्ति माता को माता भी कहे तथापि वह सयाना नहीं है, उसी प्रकार इसे भी सम्यग्दृष्टि नहीं कहते। कोई शास्त्रोंकी बात कहे, किन्तु अन्तर में श्रद्धान नहीं हुआ तो उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहते। जीव ने इच्छा की इसलिये शुद्ध आहार आया–ऐसी मान्यता वाला जीव और अजीव को एक मानता है। सात तत्त्वों में

उसे जीव–अजीव की प्रतीति का भी ठिकाना नहीं है। जिसप्रकार कोई दूसरे की ही बात करता हो उसी प्रकार यह जीव आत्मा का कथन करता है; किन्तु मैं स्वयं ही आत्मा हूँ, पुण्यपरिणाम विकार है, और शरीरादि जड़ हैं—ऐसी भिन्नता उसे भासित नहीं होती। आत्मा से शरीर भिन्न है–ऐसा वह कहता है, किन्तु शरीर की क्रिया मैं नहीं कर सकता; शरीर से मेरा आत्मा बिलकुल पृथक् है–ऐसा भाव अपने में नहीं बिठाता। जड़ की पर्याय प्रतिक्षण जड़ से होती है; अपने परिणाम पृथक् हैं ऐसे भिन्नत्व का भास नहीं होता इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

नैमित्तिक क्रिया स्वतंत्र होती है, उसमें अन्य पदार्थ निमित्त मात्र हैं।

पर्याय में जीव–पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियाएँ होती हैं; उन सबको दो द्रव्यों के मेल से उत्पन्न हुई मानता है; मैं जीव हूँ इससे शरीर चलता है, इन्द्रियाँ हैं इसलिये मुझे ज्ञान होता है–ऐसा मानता है, किन्तु इन्द्रियाँ तो निमित्त मात्र हैं—ऐसा नहीं जानता। निमित्त है इसलिये कार्य होता है—ऐसा मानता है। भाषा निकलती है वह नैमित्तिक है और उसमें रागी का राग निमित्त मात्र है। राग हुआ इसलिये भाषा निकलती है—ऐसा नहीं है। आँख, कान आदि इन्द्रियों के कारण ज्ञान हुआ माने वह एकत्वबुद्धि है। इच्छाके कारण हाथ चला और रोटी आदि के टुकड़े हुए—ऐसा वह मानता है; रसोई बनाते समय रोटी जल जाती है वह उसके अपने कारण जलती है; तथापि रसोइन स्त्री ने ध्यान नहीं रक्खा इसलिये जल गई—इत्यादि मानना वह भ्रमणा है। स्त्री तो निमित्त मात्र है,

तथापि स्त्री का ध्यान न होना और रोटी का जल जाना—इन दो क्रियाओं का होना एक जीव से मानना मूढ़ता है। पुद्गल की पर्याय अपने कारण होती है तब दूसरे पदार्थ को निमित्त कहा जाता है।

बालक के हाथ से काँचका गिलास गिरकर फूट जाये, वहाँ पुद्गल की पर्याय नैमित्तिक है और बालक का बेध्यानपना निमित्त है। ज्ञानी धर्मात्मा को अल्प रागद्वेष होता है, तथापि समझते हैं कि भाषा तो भाषा के कारण निकलती है; निर्बलता से द्वेष आता है, किन्तु वे पर के स्वामी नहीं बनते। आत्मा में रागद्वेष अथवा ज्ञान अपने से होता है, उसमें पर पदार्थ निमित्त मात्र हैं। निमित्त है इसलिये क्रोध आता है—ऐसा नहीं है। डॉक्टर अपने कारण आता है, जीवकी इच्छा के कारण नहीं आता। पैसे की क्रिया पैसे के कारण है, जीवकी इच्छा के आधीन नहीं है।

अज्ञानी जीव मानता है कि दो पदार्थ साथ मिलकर एक कार्य करते हैं। रसोइन ने ध्यान नहीं दिया इसलिये कढ़ी उफनकर नीचे गिरती है ? नहीं। जड़की क्रिया जड़से होती है। मूर्ख रसोइन स्त्री मानती है कि मैं उपस्थित होती तो चूल्हे में से लकड़ी निकाल लेती, और कढ़ी को उफनने से बचा लेती; किन्तु यह मान्यता मूढ़ की है। अज्ञानी मानता है कि मैं विचारक हूँ, इसलिये संसारकी व्यवस्था कर सकता हूँ; मैं देशका, कुटुम्बका व्यवस्थापक हूँ—ऐसा मानता है वह मूढ़ है। मूर्खसे जड़की अवस्था बिगड़ती है और चतुरसे सुधरती है—वह ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। जीवकी चतुराई पैसे में भी काम नहीं आती। व्यापारी मूर्ख है इसलिये व्यापार में लाभ नहीं होता और चतुर है इसलिये लाभ होता है—ऐसा मानना वह

मूढ़ता है। तिजोरी में ताला लगाता है; वहाँ ताले की पर्याय तो अजीव की है, जीव के कारण वह नहीं होती। चोर तो चोरी का भाव करता है और हाथ में पिस्तौल रखता है वह जड़ की क्रिया है चोर की इच्छानुसार पिस्तौल नहीं चलती। पितौल की क्रिया जड़ के कारण है, उसमें चोर का द्वेषभाव निमित्त मात्र है।

इसप्रकार नैमित्तिकदशा और निमित्त की स्वतन्त्रता की जिसे खबर नहीं है अर्थात् उसका सच्चा भावभासन नहीं हुआ है उसे जीव-अजीव का सच्चा श्रद्धानी नहीं कहा जा सकता। अज्ञानी कदाचित् कहे कि जीव–अजीव पृथक् हैं, किन्तु उसे भावभासन नहीं है। जीव–अजीव को जानने का यही प्रयोजन है कि जीव की पर्याय जीव से होती है, उसमें अजीव निमित्त मात्र है—ऐसा भावभासन होना चाहिये वह अज्ञानी को नहीं होता। इसप्रकार मिथ्यादृष्टिके जीव-अजीव तत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता बतलाई। पुद्गल जाति अपेक्षा से एक हैं किन्तु सख्या से अनन्तानन्त हैं। एक पुद्गल से दूसरे पुद्गल में कार्य हो तो अनन्तानन्त पुद्गल नहीं रहते।—इसप्रकार सात तत्त्वों का भान नहीं है और माने कि मैंने पर की दया की तो वह भ्रान्ति है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि पुद्गल-पुद्गल तो सजातीय हैं, तो फिर एक पुद्गल दूसरे का कुछ कर सकता है न? नहीं, एक उँगलीके स्कन्ध में अनन्त परमाणु हैं, उन प्रत्येक की क्रिया भिन्न–भिन्न है।

एक परिनाम के न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूं न करैं,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है॥

"समयसार नाटक" में यह बात कही है। दो द्रव्य एक परिणाम को नहीं करते, एक द्रव्य दो परिणाम नहीं रखता; दो द्रव्य एकत्रित होकर एक परिणाम करें -- ऐसा कभी नहीं होता और एक द्रव्य कर्ता होकर दो परिणाम करे—ऐसा नहीं होता।—इसप्रकार जिसे यथार्थ श्रद्धान नहीं है उसे जीव-अजीव की स्वतंत्रता की खबर नहीं है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

× × ×

[चैत्र कृष्णा २, सोमवार, ता० २-३-५३]

आस्रवतत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता

और आस्रवतत्त्वमें जो हिंसादिरूप पापास्रव है उसे तो हेय जानता है तथा अहिंसादिरूप पुण्यास्रव है उसे उपादेय मानता है। दया, ब्रह्मचर्यादि के परिणाम जीवसे स्वयं होते हैं; उन परिणामों रूप क्रिया जीव से हुई है, कर्म के कारण नहीं हुई। जो जीव कर्म के कारण दया-दानादि के परिणाम माने तो जीव-अजीव तत्त्वमें भूल है। शुभ-अशुभ परिणाम कर्म से होते हैं, वह जीव-अजीव तत्त्वकी भूल है, आस्रवतत्त्व की भूल नहीं है; किन्तु जिस जीवके वैसी भूल है उसकी तो सभी तत्त्वों में भूल है दया-दानादि के परिणाम जीव के अस्तित्वमें हैं, कर्म निमित्तमात्र है। स्वयं से केवलज्ञान हो उसमें केवलज्ञानावरणीय का अभाव निमित्तमात्र है;—ऐसा यथार्थ न समझे और माने कि निमित्त है इसलिये कार्य हुआ; वह जीव-अजीव तत्त्व की भूल है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पृथक् स्वतंत्र न माने तो दो के अस्तित्व का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। जीव में भावबन्ध होता है वह स्वतन्त्र है और द्रव्यबन्ध भी स्वतन्त्र है। भावबन्ध के

कारण द्रव्य कर्मोंका बन्ध माने तो अजीव परतन्त्र हो जाता है। कर्मबन्ध कर्मके कारण होता है उसमें भाव आस्रव निमित्तमात्र है। ऐसा न माने तो जीव-अजीव दोनों में भूल है जब जीव स्वतंत्र विकार करता है तब कर्मबन्ध कर्म के कारण होता है; वह भी स्वतन्त्र है।

निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार से कथन आता है कि-जीवने विकार किया इसलिये कर्मबन्ध हुआ किन्तु उसका तात्पर्य में स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध समझना चाहिये। कर्मों का बन्धन कर्मके कारण होता है तब जीव का विकार निमित्तमात्र है- ऐसा समझना चाहिये। जिसे सच्ची प्रतीति हो उसे सच्चा ज्ञान होता ही है। श्री समयसार के बन्ध अधिकार में भी यही कहा है कि:—

सर्व जीवों के जीवन-मरण होना, वह उनके अपने आश्रित है। अपने जीवन-मरण दूसरे के आश्रित नहीं हैं। परजीवों को मारना या बचाना क्या जीवके हाथ की बात है ? नहीं; शरीर की क्रिया शरीर के कारण होती है, उसमें जीव निमित्तमात्र है। सर्व जीवोंके जीवन-मरण, सुख-दुःख अपने-अपने कर्मोदयके निमित्तसे हैं। जीव अपने आयुकर्मके निमित्त से जीता है—यह भी व्यवहार का कथन है। जीव अपनी स्वतंत्र योग्यतासे रहता है, उसमें आयुकर्म निमित्त-मात्र है; किन्तु दूसरा जीव निमित्त नहीं है ऐसा यहाँ बतलाना है। अज्ञानी जीव मानता है कि मैं हूँ इसलिये परके जीवन-मरण, सुख-दुःख होते हैं; तो वह जीव-अजीव तत्त्वकी भूल है; और दया दानादि के परिणामोंको उपादेय मानना वह आस्रव तत्त्वकी भूल है। पुनश्च, सुख-दुःख के संयोग प्राप्त होने में वेदनीय कर्म निमित्त है, उसमें

दूसरा जीव सीधा निमित्त नहीं है। सामग्री आती है वह अपने कारण आती है, उसमें वेदनीय निमित्त है; और जीव सुख-दुःखकी कल्पना करता है वह स्वतंत्र करता है; उसमें दर्शन मोहनीय निमित्त है। दूसरा जीव सुख-दुःख नहीं दे सकता। मैं दूसरों को निभा रहा हूँ—ऐसा मानकर परपदार्थों का कर्ता होता है वह मिथ्या-दृष्टि है।

मैं दूसरे को जिलाता हूँ, मैंने दूसरों को सुखी किया, उनकी क्षुधा-तृषा मिटाई,-ऐसा अभिमान करता है वह भ्रांति है पर जीव को सुखी करनेका अथवा जिलानेका अध्यवसाय हो वह तो पुण्य बन्धका कारण है, इसलिये संतुष्ट होने जैसा नहीं है। अज्ञानी जीव पुण्य होने से प्रसन्न होता है कि "पुण्य बन्ध तो हुआ न! वह मिथ्यादृष्टि है। और मारने तथा दुःखी करने का अध्यवसाय हो वह पापबन्ध के कारणरूप है।

सत्य बोलना, बिना पूछे वस्तु न लेना, शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करना आदिमें शुभ भाव है और उससे पुण्य बन्ध होता है। उसमें सन्तुष्ट हो तो वह महान भूल है। तत्त्वार्थ-श्रद्धानसे विरुद्ध श्रद्धा करे वह निगोदका आराधक है। मुनि नाम धारण करके वस्त्रादि परिग्रह रखे तो महान पापी है। मुनिपना न होने पर भी मुनित्व माने वह निगोदका आराधक है—ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं।

यहाँ अज्ञानी, "मैंने शरीर से ब्रह्मचर्यका पालन किया है;"—ऐसा मानकर शरीरकी क्रियाका स्वामी होता है; यह जीव-अजीव में भूल है, और उसमें होने वाले शुभ-परिणामसे धर्म माने वह आश्रव में भूल है। अज्ञानी मानता है कि जीवका विकल्प आता है इसलिये वस्त्र छूट जाते हैं, तो ऐसा नहीं है। वस्त्र छूटने का कार्य

तो वस्त्रसे होता है। यदि विकल्पके कारण वस्त्रोंका छूटना माने तो जीव–अजीव में भूल है। परिग्रह न रखने का भाव शुभ है—पुण्य बन्धका कारण है; उसे उपादेय मानना वह आश्रवमें भूल है। पैसा रहना, असत्य वचन बोलना आदि तो जड़की क्रिया है, और पैसा रखूं आदि परिणाम पाप अध्यवसान है। उसमें पापको हेय और पुण्य को उपादेय मानना वह आश्रवतत्त्वमें भूल है। हिंसादिक की भाँति असत्यादिक पापबन्ध के कारण हैं;—यह सब मिथ्या अध्यवसाय हैं और त्याज्य हैं।

हिंसा में मारने की बुद्धि होती है, किन्तु सामनेवाला जीव आयु पूर्ण हुए बिना कभी नहीं मरता। मारने का द्वेष स्वयं किया वह पाप है। स्वयं अहिंसाका भाव किया, इसलिये जीव नहीं बचा है; अपनी आयुके बिना वह नहीं जीता। अपने शुभ परिणामों से जो पुण्य बन्ध करता है, वह धर्म नहीं है। पुण्यको आदरणीय माने वह आश्रवमें भूल है। मैं ज्ञाता–दृष्टा हूँ, परका कर्ता नहीं हूँ, मैं रागका भी कर्ता नहीं हूँ;—ऐसा माने वहाँ निबंधता है और निर्बंधभाव उपादेय है।

अब, पूर्ण वीतरागदशा न हो तबतक प्रशस्त रागरूप प्रवर्तन करो;—यह उपदेशका वाक्य है। वीतरागी दशा न हो, तब–तक शुभराग उसके अपने कालक्रमसे आता है–ऐसा जानो; किन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि दया, दान, भक्ति आदि बन्धके कारण हैं, हेय हैं। यदि श्रद्धानमें पुण्यको मोक्षमार्ग जाने तो वह मिथ्यादृष्टि है। जो निश्चय मोक्षमार्गकी साधना करता है उसके शुभरागको व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं, किन्तु निश्चयसे वह बन्ध मार्ग है,—ऐसा जानना चाहिये।

× × ×

[चैत्र कृष्णा ३ मंगलवार, ता० ३-३-५३]

विपरीत अभिप्रायरहित तत्त्वार्थश्रद्धान वह सम्यग्दर्शन है; उसे जो नहीं जानता और बाह्यसे धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ यह बतलाते हैं कि आश्रवतत्त्वमें किस प्रकार भूल करता है। पापको हेय माने किन्तु पुण्य को उपादेय माने वह आश्रवकी भूल है। और मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—यह आश्रवके भेद हैं। उन्हें बाह्यरूपसे तो मानता है किन्तु उन भावोंकी जाति नहीं पहिचानता। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की बाह्य लक्षणोंसे परीक्षा करे, वह गृहीत मिथ्यात्वका त्याग है; किन्तु अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्वको न पहिचाने और ज्ञायकस्वरूप आत्माकी दृष्टि नहीं है, किन्तु पुण्य-पाप पर दृष्टि है वह अनादिकालीन मिथ्यात्व है, उसे नहीं जानता। स्व की दृष्टि करके आश्रव छोड़ना चाहिये, किन्तु उस भूलको दूर नहीं करता। दया दानादिके परिणाम आश्रव हैं,उनके ऊपर की दृष्टि वह पर्यायदृष्टि है। अंतरमें रागको हितकर मानता है वह मिथ्यात्वको नहीं पहिचानता।

पुनश्च, बाह्य त्रस-स्थावर की हिंसाको अविरति मानता है। इन्द्रियविषयोंकी प्रवृत्तिको अविरति मानता है, किन्तु वह अविरति का स्वरूप नहीं है। जड़की क्रिया कम हुई तो मानता है कि विषय कम होगये। स्त्री, लक्ष्मी के संसर्गको अविरति मानता है; किंतु हिंसा में प्रमादपरिणति मूल है। उग्रप्रमाद होना वह अविरति है। नग्न होने से मानता है कि अव्रत छूट गये, वह भूल है। विषयोंमें आसक्ति का होना वह अव्रत है। अंतरंग आसक्ति छूटती नहीं है और मानता है कि मैं व्रतधारी हूँ। शरीर द्वारा बाह्य इन्द्रियविषयोंमें लीन न हों तो मानता है कि अव्रत छूट गया, वह अविरतिमें भूल है। पर्यायमें

तीव्र प्रमाद भावका और विषयासक्तिका स्वभावके भानपूर्वक त्याग नहीं हुआ और बाह्यसे आसक्तिका त्याग माने वह अविरतिरूप आश्रव तत्त्वमें भूल है। ऐसी भूलवाले को सम्यग्दर्शन नहीं होता।

आत्माके भानपूर्वक विशेष स्थिरता होना वह व्रत है, उसे नहीं पहिचानता; प्रमादभावको नहीं जानता, किन्तु बाह्य निमित्तोंके छूटने से अव्रत छूट गये—ऐसा मानता है। मैं शुद्ध चिदानंद हूँ—ऐसे भान-पूर्वक अंशतः लीनता होने से अव्रत परिणाम छूट जाते हैं और निमित्त भी निमित्तके कारण छूट जाते हैं,—उसे जो नहीं जानता वह आश्रवतत्त्वमें भूल करता है।

और बाह्य क्रोधादि करने को कषाय जानता है, किंतु अभिप्राय की खबर नहीं है। अनुकूल पदार्थोंके संयोगसे राग और प्रतिकूल पदार्थोंके संयोगसे द्वेष करना पड़ता है यह कषायका अभिप्राय है। अज्ञानी मानता है कि मैं विकल्प करता हूँ इसलिये बाह्य पदार्थ आते हैं। अभिप्रायमें कषाय विद्यमान है इसलिये आश्रवतत्त्वकी भूल है। और आत्मामें योग (—प्रदेश कम्पन) की क्रिया है उसे अज्ञानी नहीं मानता। जड़की क्रिया मैंने रोकी इसलिये योग रुका—ऐसा मानता है। मन, वचन कायाकी क्रिया जड़की है, उसकी खबर नहीं है और ऐसा मानता है कि शरीरादि की क्रिया रुकने से धर्म हुआ; किन्तु अंतरमें शक्तिभूत योगों को वह नहीं जानता।—इसप्रकार वह आ-श्रवोंका स्वरूप अन्यथा जानता है।

पुनश्च, राग—द्वेष—मोहरूप जो आश्रवभाव है उसे नष्ट करने की चिन्ता नहीं है और बाह्य क्रिया सुधारूँ—ऐसा वह मानता है। अनुकूल निमित्त प्राप्त करने और प्रतिकूल निमित्त दूर करने का प्रयत्न

रखता है। बाह्य क्रिया छोड़ो, भोजन छोड़ो, स्त्री छोड़ो, लक्ष्मी छोड़ो, बाह्य परिग्रहका परिणाम करो तो धर्म होगा—ऐसा अज्ञानी मानता है। बाह्यमें क्रिया छूट जाने से प्रतिमा होगई—ऐसा वह मानता है, किंतु प्रतिमा बाहरसे नहीं आती। अंतरपरिणाम सुधरे नहीं हैं, जीव-जजीवका भेदज्ञान नहीं है; जीवकी स्वतंत्र क्रियामें अजीव निमित्त मात्र है और अजीवकी स्वतंत्र क्रियामें जीव निमित्त मात्र है। ऐसी स्वतंत्रताकी जिसे खबर नहीं है उसे प्रतिमा कहाँ से होगी?

कंचन, कामिनी और कुटुम्ब—इन तीन को छोड़ दो तो धर्म होगा—ऐसा अज्ञानी कहते हैं, किन्तु वे तो पृथक ही हैं; मैं उन्हें छोड़ता हूँ—यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। आत्मा उनसे पर है और राग-द्वेष रहित है।—ऐसा आत्माके भानपूर्वक राग छूटे तो कंचन, कामिनी और कुटुम्ब के निमित्त छूटे ऐसा कहे जाते हैं, नहीं तो निमित्त भी छूटे नहीं कहलाते। स्वरूप में लीनता करना वह चारित्र है, बाह्य त्याग चारित्र नहीं है। अज्ञानी कहते हैं कि बाह्य वस्तुओं का त्याग करो तो अंतरमें राग दूर होगा, किंतु वह बात मिथ्या है।

द्रव्यलिंगी मुनि अन्य देवादिक की सेवा नहीं करता, २८ मूल गुणोंका पालन करता है, और प्राण जायें तथापि व्यवहार धर्म नहीं छोड़ता; तो वहाँ गृहीत मिथ्यात्वका त्याग है, किन्तु अगृहीतका त्याग नहीं है। वह बाह्यहिंसा बिलकुल नहीं करता, अपने लिये बनाया हुआ आहार नहीं लेता, तब तो शुभ परिणाम होते हैं, किन्तु धर्म नहीं होता। झूठ नहीं बोलता, दया पालन करता है, विषय सेवन नहीं करता, क्रोधादि नहीं करता, कोई शरीरके टुकड़े-टुकड़े करदे तथापि क्रोध न करे ऐसा व्यवहार है, किन्तु अंतरमें भान नहीं है इसलिये अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटा है। उसके मिथ्यात्व, अव्रत,

कषाय और योग—ऐसे चारों आश्रव होते हैं। मैं निमित्त हूँ इसलिये जड़ की क्रिया होती है—ऐसा वह मानता है; उसे यथार्थ बात की खबर नहीं है। दूसरे, यह कार्य वह कपटसे नहीं करता। यदि कपट से करे तो ग्रैवेयक तक कैसे पहुँच सकता है ? नहीं पहुँच सकता। अंतरंग मिथ्या अभिप्राय, अव्रत, रागद्वेषकी इष्टता आदि रागादि-भाव आते हैं वही आश्रव है; उसे नहीं पहिचानता, इसलिये उसे आश्रवतत्वकी सच्ची श्रद्धा नहीं है।

बंधतत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता

हिंसा, झूंठ, चोरी आदि अशुभभावों द्वारा नरकादिरूप पाप-बंधको बुरा और दया-दानादि के बंधको भला जाने वह मिथ्यादृष्टि है। दोनों बंध हैं, आत्माका हित नहीं करते। दया-दानादिसे मुझे पुण्य बंध तो हुआ है !—इसप्रकार हर्षित होता है, दोनों बंध हैं तथापि पुण्यबन्धको भला जानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

पुण्य बन्धसे अनुकूल और पाप बन्धसे प्रतिकूल सामग्री प्राप्त होती है, तिन्तु उसके द्वारा स्वभावकी प्राप्ति नहीं होती। पाप बंधको बुरा जानकर द्वेष करता है नरकादि की सामग्री पर द्वेष करता है और पुण्य बन्धसे अच्छी सामग्री प्राप्त होगी—ऐसा मानकर उसमें राग करता है, किन्तु वह भ्रांति है। समवशरण देखने को मिला उसमें आत्मा को क्या लाभ ? परवस्तुसे लाभ—अलाभ नहीं है। स्वर्ग में जायेंगे और फिर भगवान के पास पहुँचेंगे—तो उसमें क्या मिला ? समवशरण तो जड़ है, पर है; वहाँ जीव अनन्त बार गया है। सामग्रीके स्वभावकी प्राप्ति नहीं होती। अज्ञानी जीव प्रतिकूल सामग्रीमें द्वेष करता है और अनुकूल सामग्रीमें राग

करता है, वह मिथ्यात्व है। रागका अभिप्राय रहा वह बन्धतत्त्व की भूल है; उसकी तत्त्वार्थश्रद्धा मिथ्या है। तत्त्वार्थ श्रद्धान बिना सम्यग्दर्शन नहीं है और सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता। जैन दर्शनमें गड़बड़ी नहीं चल सकती; तत्त्वमें अन्याय नहीं चल सकता। अबन्ध स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रसे धर्म होता है। अज्ञानी जीव सोलहकारण भावनामें राग करता है; उसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता। ज्ञानी जीव रागको हेय मानता है और तीर्थंकर प्रकृति को भी हेय मानता है। किसी ज्ञानी जीव को निर्बलता से शुभराग आये तो तीर्थंकर पुण्य–प्रकृतिका बन्ध हो जाता है।

भक्तिमें आता है कि हे भगवान! अपने पाससे एक देव भेजो! —आदि निमित्त का कथन है। अज्ञानी जीव संयोग की भावना करता है; पापके बन्धको बुरा मानता है, क्योंकि उससे प्रतिकूल सामग्री प्राप्त होगी और पुण्य बन्धसे अनुकूल। उसमें किसी सामग्री को अनुकूल और किसी को प्रतिकूल मानना वह मिथ्यादर्शन शल्य है। यहाँ, व्रत–तप करो तो स्वर्ग प्राप्त होगा, और वहाँ से भगवानके निकट पहुँचेंगे, फिर सम्यग्दर्शन प्राप्त होगा—ऐसा अज्ञानी मानते हैं। उनकी दृष्टि संयोग पर है किन्तु स्वभाव पर नहीं है; उन्हें अपने आत्मा के पास नहीं आना है। बन्धन अहितकर है, पुण्य–पाप हेय है, संवर–निर्जरा हितकर है और मोक्ष परम हितकर है—ऐसी पहिचान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है। बन्ध तत्त्वमें पुण्यसे शुभ बन्ध हुआ—ऐसा मानकर हर्षित हो वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ पं० टोडरमलजी कहते हैं कि पुण्य–पापसे सामग्री प्राप्त होती है। आजकल कोई वर्तमान पण्डित कहते हैं कि सामग्री पुण्य-

पापसे नहीं मिलती, किन्तु वह भूल है। जिसप्रकार—अच्छी जल-वायु आदि अनुकूल सामग्री प्राप्त होने पर जीव राग करता है और सर्प, विष आदि प्रतिकूल सामग्री मिले उस समय द्वेष करता है; उसी प्रकार यह जीव पुण्यसे भविष्यमें अनुकूल पदार्थ मिलेंगे—ऐसा मान कर राग करता है और पापसे प्रतिकूल पदार्थ प्राप्त होंगे—ऐसा मानकर द्वेष करता है;—उसे इसप्रकार राग-द्वेष करनेका श्रद्धान हुआ। इसलिये उसके अभिप्रायमें मिथ्यात्व है। जिसप्रकार इस शरीर सम्बन्धी सुख–दुःख सामग्री में राग–द्वेष करना हुआ, उसीप्रकार भविष्यमें अनुकूल–प्रतिकूल सामग्री में रागद्वेष करना हुआ।

और दया–दानादि शुभपरिणामों से तथा हिंसादि अशुभ–परिणामों से अघाति कर्मोंमें फेर पड़ता है। शुभसे साताकर्म का बन्ध होता है और अशुभसे असाता कर्मका। शुभसे वेदनीय, आयु, नाम, गोत्रमें फेर पड़ता है, किन्तु अघाति कर्म कहीं आत्म गुणोंके घातक नहीं हैं। शुभाशुभभावोंसे घाति कर्मोंका बन्ध तो निरन्तर होता है कि जो सर्व पापरूप ही हैं। यहाँ कम–अधिक बन्धका प्रश्न नहीं है। पुण्य से घातिकर्मोंमें कम रस गिरता है, किन्तु बन्ध तो निरंतर है ही। शुभ हो या अशुभ हो, तथापि मिथ्यादृष्टिको ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का बन्ध निरन्तर होता है। सम्यग्दृष्टिको भी शुभभावके समय उसका बन्ध होता है। वे सब पापरूप ही हैं और वे ही आत्मगुणोंके घातक हैं।

शुभ के समय भी बन्ध होता है—ऐसा यहाँ बतलाते हैं। बन्ध हानिकारक है और अबन्ध स्वभाव हितकारक है;—ऐसी समझ

बिना पुण्यबन्धको हितकारी माने, वह बन्धतत्त्वमें भूल करता है।

× × ×

[चैत्र कृष्णा ४ बुधवार, ता० ४-३-५३]

तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। वह लक्षण चौथे गुणस्थान से लेकर सिद्धमें भी रहता है। तत्त्वार्थ श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। यदि तत्त्वार्थ श्रद्धान व्यवहार हो तो सिद्ध में वैसा व्यवहार नहीं होता, और वहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान तो सम्भवित है; इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३२३ में कहा है कि केवली सिद्ध भगवानको भी तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण होता ही है; इसलिये वहाँ अव्याप्तिपना नहीं है।

तत्त्व अर्थात् भाव। जीव का भाव ज्ञायक है। व्यवहार-रत्नत्रय का भाव राग होने से आत्मा के आनन्द लूटने वाला है; इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा भाव का भासन होना वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। जीव का ज्ञायक स्वभाव है, अजीव का स्वभाव जड़ है; पुण्य-पाप दोनों आस्रव हैं—हेय हैं, बन्ध अहितकारी है, संवर-निर्जरा हितरूप है और मोक्ष परम हितरूप है—ऐसा भाव भासन होना वह तत्त्वार्थ श्रद्धान है। और मोक्षशास्त्र के प्रथम अध्याय के चौथे सूत्रमें "जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्" कहा है। वहाँ तत्त्वम् एकवचन कहा है; इसलिये वहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन की बात है। रागरहित भाव की बात है। एक स्व-पर प्रकाशक ज्ञान स्वभाव में सात का राग रहित भावभासन होना वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। और तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन के निसर्गज तथा अधिगमज ऐसे दो

भेद बतलाये हैं, वे व्यवहार के नहीं हो सकते; इसलिये तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता। जिस परिणाम से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बन्ध हुआ वह परिणाम जीव को अपने लिये हेय है और प्रकृति अहितकर है; तो फिर दूसरों को हितकर कैसे हो सकती है? अज्ञानी जीव तीर्थंकर पुण्य प्रकृति से लाभ मानता है और उससे अनेक जीव तरते हैं ऐसा मानता है वह भूल है। स्वयं अपने कारण तरता है तब तीर्थंकर की वाणी को निमित्त कहा जाता है;—ऐसा वह नहीं समझता। इसप्रकार शुभाशुभ भावों द्वारा कर्म बन्ध होता है, उसे भला–बुरा जानना ही मिथ्याश्रद्धान है और ऐसे श्रद्धान से बन्ध तत्त्व का भी उसे सत्य श्रद्धान नहीं है।

संवरतत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता

पर जीवको न मारने के भाव, ब्रह्मचर्य पालनके भाव, तथा सत्य बोलने के भाव–आदि भाव आश्रव हैं। उन्हें अज्ञानी संवर अथवा संवरका कारण मानते हैं। संवर अविकार है और आश्रव विकार है। अविकारका कारण विकार कहाँ से होगा? इसलिये ऐसा माननेवाले की मूलमें भूल है। यहाँ तत्त्वार्थ श्रद्धानकी भूल बतलाते हैं। तत्त्वार्थ अर्थात् तत्त्व+अर्थ। अर्थ में द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों आ जाते हैं और तत्त्व अर्थात् भाव। द्रव्यका भाव, गुणका भाव और पर्यायका भाव–इसप्रकार तीनोंके भावका भासन होना वह सम्यग्दर्शन है। सात तत्त्वोंमें जीव और अजीव द्रव्य हैं; आश्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष—यह पर्यायें हैं। उनके भावका भासन

होना चाहिये। और द्रव्य आश्रव, द्रव्यबन्ध, द्रव्य संवर, द्रव्यनिर्जरा तथा द्रव्यमोक्ष—यह अजीवकी पर्यायें हैं; उनका भी भाव भासन होना चाहिये। इसप्रकार द्रव्य, गुण और पर्यायके भावका भासन होना वह सम्यग्दर्शन है।

अहिंसा परम धर्म है। रागरहित शुद्धदशा—महाव्रतादिके परिणामसे भी रहितदशा—वह अहिंसा है, वह संवर है; और महाव्रतादि के परिणाम आश्रव हैं, वह संवर नहीं है।

पुनश्च, तत्त्वार्थसूत्रके दूसरे अध्यायके पहले सूत्रमें औपशमिक-भावको पहले लिया है, इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनमें निश्चय सम्यग्दर्शनकी बात है। पारिणामिकभाव द्रव्य है और औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा क्षायिक—चारों पर्याय हैं; वह जीवका स्वतत्त्व है। उस सूत्रमें प्रथम औपशमिकभाव लिया है, क्योंकि जिसे पहले औपशमिकभाव प्रगट होता है वह दूसरे भावों को यथार्थ जान सकता है। जिसके औपशमिकभाव प्रगट नहीं हुआ वह औदयिकभाव को भी यथार्थ नहीं जानता।

अज्ञानी जीव संवरतत्त्वमें भूल करता है। व्रत, प्रतिमादिके परिणाम आश्रव हैं, संवर नहीं हैं। आत्मा ज्ञायक चिदानन्द है, उसके आश्रयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। आश्रवसे संवर प्रगट नहीं होता। और जीवके आश्रयसे संवर प्रगट होता है—ऐसा कहना भी सापेक्ष है। पहले निरपेक्ष निर्णय करना चाहिये। सातों के भाव स्वतंत्र हैं। जीव जीवसे है, संवर संवरसे है—इसप्रकार सातों स्वतंत्र हैं। ऐसा निर्णय करने के पश्चात् जीवके आश्रयसे संवर प्रगट होता है—ऐसा सापेक्ष कहा जाता है।

शुभ-अशुभ परिणाम दोनों अशुद्ध हैं। जो परिणाम आत्माके आश्रयसे होते हैं वे शुद्ध हैं। अज्ञानी अहिंसादिरूप शुभाश्रवको संवर मानते हैं, वह संवर तत्त्वमें भूल है।

प्रश्न:—मुनिको एक ही कालमें यह भाव होते हैं, वहाँ उनके बन्ध भी होता है तथा संवर-निर्जरा भी होते हैं वह किसप्रकार ?

उत्तर:—वह भाव मिश्ररूप हैं। चिदानन्द आत्माके आश्रयसे जो वीतरागी दशा होती है वह संवर है, और जितना राग शेष रहता है वह आश्रव है। अकषाय परिणति हो वह वीतरागीभाव है और वह यथार्थ मुनिपना है। जितना राग शेष है वह व्यवहार है, बन्धका कारण है। यदि व्यवहार सर्वथा न हो तो केवलदशा होना चाहिये, और यदि व्यवहारसे लाभ माने तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। साधक जीवके अंशत: शुद्धता है और अंशत: अशुद्धता है। वह शुभरागको भी हेय मानता है।

कोई प्रश्न करे कि ऐसा शुभराग लाना चाहिये या नहीं ?

समाधान:—किस रागको बदल सकेगा ? चारित्र गुणकी जो क्रमवद्ध पर्याय होना है वही होगी; उसे किसप्रकार बदला जा-सकता है ? ज्ञानीको शुभराग बदलनेकी दृष्टि नहीं है, अपने स्वभावमें एकाग्र होने की भावना है।

श्री उमास्वामी तत्वार्थश्रद्धान कहते हैं; उन सातके भावभासन विना कर्मका उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय नहीं होता। पंचास्तिकाय गाथा १७३ की टीकामें जयसेनाचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्रको द्रव्यानुयोग के शास्त्ररूप माना है, और द्रव्यानुयोगमें द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंकी

व्याख्या आती है। यहाँ तो, जिसे तत्वार्थका यथार्थ भासन नहीं है उसकी बात चलती है। मिथ्यादृष्टिको भावभासन नहीं है। उसे नाम निक्षेपसे अथवा आगम द्रव्य निक्षेपसे तत्त्वश्रद्धा कही जाती है। आगमसे धारणा कर ले, किन्तु स्वयंको भावका भासन नहीं है, इसलिये उसे सच्ची श्रद्धा नहीं है। यह बात यहाँ नहीं है, यहाँ तो निश्चय सम्यग्दर्शनकी बात है।

यहाँ संवरकी भूल बतलाते हैं। एक क्षणमें जो मिश्रभाव होता है उसमें दो कार्य तो बनते हैं, किन्तु महाव्रतादिके परिणाम आश्रव हैं; उन्हें संवर–निर्जरा मानना वह भ्रम है। अंतरसे निर्विकल्प शांति और आनन्दकी उत्पत्ति हो वह संवर है; तथापि जिस प्रशस्त रागकेभावसे आश्रव होता है उसी भावसे संवर–निर्जरा भी होती है—ऐसा मानना वह संवरतत्त्वमें भूल है।

× × ×

[चैत्र कृष्णा ५, गुरुवार, ता० ५–३–५३]

शुभराग संवर नहीं किन्तु आश्रव है।

आत्मामें पंचमहाव्रत, भक्ति आदिके परिणाम हों वह शुभराग है; वह आश्रव है। उस रागको आश्रव भी मानना और उसीको संवर भी मानना वह भ्रम है। एक ही भावसे—शुभरागसे आश्रव तथा संवर दोनों कैसे हो सकते हैं? मिश्रभावका ज्ञान सम्यग्दृष्टिको ही होता है। सम्यग्दृष्टिको भी जो शुभ राग है वह धर्म नहीं है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र राग रहित हैं वही धर्म है। मैं ज्ञायक हूँ—ऐसे स्वभावके श्रद्धा-ज्ञानसे जितना वीतरागभाव हुआ वह संवर धर्म है,

और उसी समय जो राग शेष है वह आश्रव है। एक ही समय में ऐसा मिश्ररूपभाव है; उसमें वीतराग अंश और सराग अंश—दोनोंको धर्मी जीव भिन्न-भिन्न जानता है। पहले व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा नहीं है। व्यवहारका शुभराग तो आश्रव है; आश्रव संवरका कारण कैसे हो सकता है? पहला व्यवहार, और वह व्यवहार करते-करते निश्चय होता है—ऐसी दृष्टि से तो सनातन जैन परम्परामें से पृथक् होकर श्वेताम्बर निकले; और कोई दिगम्बर सम्प्रदायमें रहकर भी ऐसा माने कि राग करते-करते धर्म होगा, व्यवहार करते-करते निश्चय होगा, तो ऐसा माननेवाला भी श्वेताम्बर जैसे ही अभिप्रायवाला है, उसे दिगम्बर जैन धर्मकी खबर नहीं है।

जिसने रागका आदर किया कि राग करते-करते सम्यग्दर्शन हो जायेगा, पहले व्यवहारकी क्रिया सुधारो फिर धर्म होगा।'—ऐसा माननेवाले ने दिगम्बर जैन शासनको अथवा मुनियोंको नहीं माना है। अपने को दिगम्बर जैन कहलवाता है, किन्तु जैनधर्म क्या है उसकी उसे खबर नहीं है। वह जीव व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। वस्तु एकसमय में सामान्य शक्तिका भण्डार है; और उसमें विशेषरूप पर्याय है वस्तुमें अभेदरूप सामान्यकी दृष्टि करे तो पर्यायमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो। उस अभेदका आश्रय तो करता नहीं है और व्यवहार करते-करते उसके आश्रयसे कल्याण मानता है वह अनादिरूढ़ व्यवहार-विमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। द्रव्य स्वभावकी दृष्टि प्रगट करके निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ वहाँ जो राग शेष

रहा उसे उपचारसे व्यवहार कहा है, किन्तु धर्मीकी दृष्टिमें उसका आदर नहीं है।

पर्याय दृष्टिसे आत्मा रागसे अभिन्न है और त्रिकाली द्रव्यकी दृष्टिसे वह रागसे भिन्न ज्ञायक स्वरूप है। वहाँ त्रिकाली की दृष्टि करके रागको हेय जाना, तब रागको व्यवहार कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि जीव शुभमें वर्तता है और उसे धर्म मानता है किन्तु वह व्यवहाराभासी है। निश्चयधर्मकी प्रतीति बिना रागमें व्यवहार धर्मका आरोप भी कहाँ से आयेगा ? निश्चय के बिना व्यवहार कैसा ? वह तो व्यवहाराभास है। और समिति–गुप्ति–परिषहजय–अनुप्रेक्षा–चारित्रको संवर कहता है किन्तु अज्ञानी उसके स्वरूपको नहीं समझता। निश्चय स्वरूपके अवलम्बन बिना समिति–गुप्ति आदि सच्चे नहीं होते। मनमें पापका चिंतवन न करे और शुभराग रखे, वचनसे मौन धारण करे और कायासे हलन–चलनादि न करे,—ऐसी मन–वचन–कायाकी क्रियाको अज्ञानी जीव गुप्ति मानता है और उसे संवर मानता है; किन्तु मौन तो जड़की क्रिया है, शरीर स्थिर रहे वह भी जड़की क्रिया है; तथा अंतरंगमें पापका चिंतवन नहीं किया वह शुभराग है, उसमें सचमुच संवर नहीं है। स्वभावदृष्टि होने के पश्चात् शुभाशुभ विकल्प–रहित वीतरागभाव प्रगट हुआ वह सच्ची गुप्ति और संवर है। वहाँ शरीर स्थिर हो और वाणीकी क्रियामें मौन आदि हो, उसे उपचारसे कायगुप्ति और वचनगुप्ति कही है। एकेन्द्रियके तो सदैव मौन ही है; किंतु उसे कहीं गुप्ति नहीं कहा जाता। अंतरमें वीतरागभाव प्रगट हुए बिना शुभराग रखे तो वह भी गुप्ति नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों वीतरागभाव हैं; वहाँ मन–वचन–कायाका अवलम्बन नहीं है, स्वाध्यायादिका विकल्प भी नहीं

है;—ऐसा जो वीतरागभाव ही गुप्ति है और वही संवर–निर्जराका कारण है। कषायका एक कण भी मेरे स्वभावकी वस्तु नहीं है;—ऐसी दृष्टि होने के पश्चात् वीतरागभाव हुआ वह निश्चयगुप्ति है, और जहाँ ऐसी निश्चयगुप्ति प्रगट हुई हो वहाँ शुभभावको व्यवहार-गुप्ति कहा जाता है। किन्तु व्यवहार गुप्ति वास्तवमें संवर नहीं है, वह तो आश्रव है। निश्चयगुप्ति वीतरागभाव है, वही संवर है।

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् संवर–निर्जरा होते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना संवर–निर्जरा नहीं होते। सम्यग्दर्शनके पश्चात् समिति–गुप्ति आदि धर्म मुनियोंके होते हैं, वह संवर–निर्जरा हैं। समिति-गुप्ति आदि जितने मुनियोंके धर्म हैं वे सब धर्म सम्यग्दृष्टि श्रावकके भी होते हैं और श्रावकको भी उतने अंशमें संवर–निर्जरा हैं।

परजीवोंकी रक्षा मैं करता हूँ—ऐसी बुद्धिसे वर्ते और उस रक्षा के शुभ परिणामको ही संवर माने वह भी अज्ञानी है। पर जीवकी हिंसाके परिणाम को तू पाप कहता है, और रक्षाके परिणामको संवर कहता है, तो फिर पुण्य बंध किससे होगा? इसलिये परकी रक्षाके शुभपरिणाम संवर नहीं है किन्तु शुभास्रव है। परकी रक्षा तो कर ही नहीं सकता और रक्षाका जो शुभ विकल्प होता है वह भी आस्रव है; वह संवर नहीं है। वीतरागभावसे अपने चैतन्य प्राणकी रक्षा करना सो निश्चयसंवर-निर्जरा है; और वहाँपर प्राणी की रक्षाका भाव व्यवहार संयम कहलाता है।

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥ २०० ॥

[—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय]

श्रावकोंके भी अंशतः समिति-गुप्ति आदि होते हैं। जितने मुनि धर्म हैं, वे सब श्रावकों को भी एकदेश उपासना योग्य हैं, किन्तु श्रावक किसे कहा जाये ? जिसे पहले आत्माके स्वभाव का भान है और स्वभावके अवलम्बन से अंशतः राग दूर होकर वीतरागी अकषायी शांति प्रकट हुई है उतने अंशमें संवर-निर्जरा आदि धर्म हैं, वह श्रावक है। सम्यग्दर्शन और पांचवें गुणस्थानके बिना श्रावक नहीं कहलाता।

ग्यारह प्रतिमाएँ तो स्थूलरूप भेद हैं। उनमें एक-एक प्रतिमामें भी अनेक प्रकारके सूक्ष्म परिणाम होते हैं। मुनिको छट्ठे गुणस्थान में शुभभाव आते हैं वहाँ समिति में परकी रक्षाका अभिप्राय नहीं है, किन्तु उस प्रकार का हिंसाका प्रमादभाव ही नहीं होता—इतना वीतरागभाव होगया है। उसका नाम समिति है। गमनादिका शुभ राग होने पर उसमें मुनिको अति आसक्तिभाव नहीं है इसलिये प्रमाद की परिणति नहीं है, इससे वह समिति है। उसमें स्वभावके अवलंबन से वीतरागभाव हुआ वह निश्चय समिति है, और उसे तत्त्वार्थसूत्रमें संवर कहा है; और २८ मूलगुणमें समिति कही है वह व्यवहार समिति है, तथा वह पुण्यास्रव है, वह संवर नहीं है। अज्ञानी तो व्यवहार समिति को ही धर्म मानता है; इसलिये वह व्यवहाराभासी है।

२८ मूलगुणोंमें आनेवाली समितिको निश्चय संवर कहे तो वह अज्ञानी है। तत्त्वार्थसूत्रमें समितिको संवरका कारण कहा है, वह समिति भिन्न है और २८ मूलगुणवाली समिति भिन्न है। तत्त्वार्थ-

सूत्रमें २८ मूल गुणवाली समितिको संवर नहीं कहा, किन्तु स्वभाव के आश्रयसे प्रगट हुई मुनियों की वीतराग परिणतिरूप निश्चय समितिको ही संवरका कारण कहा है। दोनों प्रकार पृथक् हैं; उन्हें न समझे और व्यवहार समिति को ही संवर माने तो उसे संवर तत्त्वकी खबर नहीं है। शुभराग मुनिपना नहीं है। अंतरमें जो वीतरागभाव हुआ है वह मुनिपना है। वहाँ शुभ राग रहा वह व्यवहार समिति है—आश्रव है। यथार्थ समझके बिना मात्र सम्प्रदाय के नाम से कहीं तर नहीं जाते; समझकर यथार्थ निर्णय करना चाहिये।

छठ्ठे-सातवें गुणस्थान वाले मुनि चलते हों, प्रमादभाव न हो और नीम का सूक्ष्म बौर पैरोंके नीचे आजाये, वृक्ष परसे जीव जन्तु शरीर पर गिरकर गर्मीसे मर जाये, तो वहाँ मुनिका कोई दोष नहीं है, क्योंकि उनकी परिणतिमें प्रमाद नहीं है। अपनी परिणति में प्रमाद हो तो दोष है। यहाँ तो कहते हैं कि देखकर चलनेका शुभभाव भी वास्तवमें संवर नहीं है। देखकर चले, प्रमाद न करे, और कोई ज़ीव भी न मरे, तथापि उस शुभरागसे धर्म माने तो उस जीव को संवरतत्वकी खबर नहीं है।

स्वर्ग-मोक्षकी इच्छासे या नरकादिके भयसे क्रोधादि न करे और मंदराग रखे, किन्तु उससे कहीं धर्म नहीं होता; क्योंकि कषाय क्या है और स्वभाव क्या है?—उसका भान नहीं है। लोकमें प्रतिष्ठा आदि के कारण परस्त्री सेवन न करे, राजा के भयसे चोरी न करे, तो उससे कहीं व्रतधारी नहीं कहलाता; क्योंकि कषाय करने का अभिप्राय तो छूटा नहीं है। जिसे पुण्य की

प्रीति है उसे कषाय का ही अभिप्राय विद्यमान है। जिसको ज्ञायक स्वभाव का अनादर और राग का आदर है, उस जीव के अभिप्राय में अनन्तानुबंधी क्रोध विद्यमान है, वह धर्मी नहीं है। जिसे ज्ञायक-स्वभावका भान नहीं है और परपदार्थों को इष्ट–अनिष्ट मानता है, उस जीव के रागद्वेष का अभिप्राय दूर नहीं हुआ है। पंचपरमेष्ठी भगवान इष्ट और कर्म अनिष्ट—ऐसी जिसकी बुद्धि है वह भी अज्ञानी है। मैं तो ज्ञान हूँ और समस्त पर द्रव्य मेरे ज्ञेय हैं, उनमें कोई मुझे इष्ट–अनिष्ट नहीं है;—ऐसा भान होने के पश्चात् धर्मी को शुभ राग होने पर भगवान का बहुमान आता है। वहाँ पर में इष्ट बुद्धि नहीं है और राग का आदर नहीं है; राग पर के कारण नहीं हुआ। तत्वज्ञान के अभ्यास से जब कोई भी परपदार्थ इष्ट–अनिष्ट भासित न हो, तब रागके कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं रहता।

× × ×

[वीर सं० २४७९ चैत्र कृष्णा ६ शुक्रवार ता० ६–३–५३]

मात्र आत्मज्ञान से इष्ट–अनिष्ट बुद्धि दूर होती है—ऐसा न मानकर, साथमें सात तत्वों को यथार्थ रूपसे जाने तो अपने शुद्ध स्वरूप को उपादेय माने और परसे उदासीन हो जाये, इसप्रकार उन अनित्यादि भावनाओं की गणना मोक्षमार्ग में की है। शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, धनादि अजीव हैं; उनमें कोई इष्ट–अनिष्ट नहीं है। सात तत्त्वों की सम्यक् श्रद्धा होने से, शुद्धात्माका प्रतिभास होने पर परपदार्थों में इष्ट–अनिष्टता भासित नहीं होती और न रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है; वह धर्म है।

पुनश्च, शरीरादि में अशुचि, अनित्यादि चिंतवन से उसे बुरा जानकर—अहितरूप जानकर उससे उदास होने को वह अनुप्रेक्षा कहता है; किन्तु वह तो द्वेष बुद्धि है। स्त्री, पुत्रादि स्वार्थके सगे हैं, लक्ष्मी पाप उत्पन्न करती है—ऐसा मानकर उनपर द्वेष करता है; तो क्या पर द्रव्य तेरा बुरा करते हैं ? नहीं करते। वह तो उनके प्रति द्वेषभाव हुआ। जैसे—पहले कोई मित्र से राग करता था; फिर उसके दोष देखकर द्वेषरूप-उदास होगया; उसी प्रकार पहले शरीरादि पर राग था, फिर उन्हें अनित्यादि जानकर उनसे उदास हो गया और द्वेष करने लगा;-यह कोई सच्ची अनुप्रेक्षा नहीं है।

एक उपदेशक कहते थे कि—रागके कारणरूप स्त्री, धनादि पर ऐसा द्वेष करो कि उनके प्रति किंचित् राग न रहे। तो क्या पर वस्तु से राग, द्वेष, मोह होते हैं ? क्या पर वस्तु का ग्रहण-त्याग किया जा सकता है ? तत्त्वज्ञान पूर्वक स्वसन्मुख ज्ञातामात्र स्वभाव में स्थिर दशा होने से सहज ही पर वस्तु के राग का त्याग हो जाता है और पर वस्तु उसके अपने कारण छूट जाती है। अज्ञानी को कर्ता-बुद्धि का मोह है।

प्रति समय भूमिकानुसार राग होता है, उसे भी छोड़ा नहीं जा सकता; आत्मा तो मात्र ज्ञाता रह सकता है—उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। इसलिये वह ऐसा मानता है कि पर वस्तुका त्याग करूँ और पर संयोगोंसे दूर रहूँ तो शांति होगी—धर्म होगा; किन्तु अपने ज्ञानानन्द स्वरूप को तथा शरीरादिके स्वभाव को जानकर, भ्रम छोड़कर, किन्हीं पर को भला-बुरा न मानकर मात्र ज्ञाता—द्रष्टा

रहने का नाम सच्ची उदासीनता है। निश्चय तत्त्वश्रद्धानपूर्वक स्वसन्मुख होकर, यथार्थ ज्ञातापने में जितनी एकाग्रता बढ़ती है उसका नाम संवर-निर्जरा का कारण सच्ची अनुप्रेक्षा है। जो शुभराग रहा वह व्यवहारअनुप्रेक्षा है, वह तो आश्रव है।

और क्षुधादि लगने पर उनके शमनका उपाय न करने, आहारादि न लेने को वह परिषह सहन करना कहता है। चूँकि संयोगी दृष्टि तो है, और अंतरमें क्षुधादिको अनिष्ट मानकर दुःखी हुआ है; वह तो अशुभभाव है; किन्तु कभी शुभ भाव हो, तो भी धर्म नहीं है। कोई कहे कि—प्रथम परिषह सम्बन्धी प्रतिकूलता का विकल्प आये और फिर दूसरे समय राग को जीत ले वह परिषहजय है, तो वह बात मिथ्या है; क्योंकि विकल्प तो राग है, आश्रव है; वह परिषहजयरूप संवर नहीं है। क्षुधा, तृषा, रोगादि को मिटाने का उपाय न करना वह परिषहजय नहीं है; क्योंकि उसमें तो शुभ राग की उत्पत्ति है। मुनि नग्न रहते हैं, वह भी परिषहजय नहीं है; किन्तु तत्वज्ञान पूर्वक स्वाश्रय के बल से राग की उत्पत्ति का न होना वह परिषहजय है। ज्ञातामात्र रूपसे स्वरूपमें स्थिर रहने का नाम संवर है—परिषहजय रूप धर्म है।

आत्मानुशासन ग्रन्थ में लिखते हैं कि अज्ञानी त्यागी हो, और उसके बाह्य सामग्री का अभाव वर्त रहा हो, वह तो अंतराय के कारण है। अंतरंग ज्ञान, वैराग्य के बिना उपचार से भी धर्म नहीं है। जिसे अनुकूल संयोगों की रुचि है, उसे उसी समय प्रतिकूल संयोगों का द्वेष है। उपवासादि में दुःख मानता है, इसलिये उसे रति

के कारण मिलने से उनमें सुखबुद्धि है ही। यह पराश्रय सुख-दुःख रूप परिणाम हैं और यही आर्त–रौद्र ध्यान है; इससे संवर निर्जरा-रूप धर्म नहीं है। पर की अपेक्षा रहित मात्र ज्ञाता स्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान और लीनता द्वारा स्वसन्मुख ज्ञाता रहे और किसी को अनुकूल-प्रतिकूल न मानो वही सच्चा परिषहजय है। अनुकूल-प्रतिकूल संयोग प्राप्त हों, तथापि अपने सहज ज्ञान स्वभाव के आश्रयसे सर्वत्र ज्ञाता-दृष्टा रहने से जितनी अपनी वीतरागदशा हुई उतने अंश में धर्म है। और वह तो हिंसादिक सावद्ययोग के त्याग को चारित्र मानता है; किन्तु हिंसा, आरंभ, समारम्भ बाह्य में नहीं हैं, जीवके अरूपी विकार भाव में आरम्भ–हिंसादि रूप भाव होते हैं। बाह्य त्याग दिखाई दे, तो हिंसारूप आरम्भ से छूट गया—ऐसा नहीं है।

२८ मूलगुण तथा महाव्रतादिके पालनरूप शुभोपयोग शुभाश्रव है, वह धर्म नहीं है। अज्ञानी उस व्रत–तपादिके शुभरागको उपादेय मानता है, हितकारी–सहायक मानता है, किन्तु वह चारित्र नहीं है। चरणानुयोग की अपेक्षा से भी अज्ञानीके व्यवहार-त्याग नहीं कहा जा सकता। आत्माके तत्वज्ञान पूर्वक अकषाय शांति हो वह संवर-रूप धर्म है और वहाँ अवृतादि के रागका त्याग होने पर व्यवहार से बाह्यत्याग कहलाता है; किन्तु मात्र बाह्यवस्तुका त्याग वह धर्म नहीं है। रागका त्याग किया—ऐसा कहना भी नाममात्र है–उपचार से है; क्योंकि ज्ञाता तो रागके भी अभावस्वरूप है। आत्मा आत्मा में स्थिर हो वही सच्चा प्रत्याख्यान है। वृतादिका शुभ राग है वह आश्रव है; वह आश्रव तो बंध का साधक है और चारित्र तो वीतराग भाव मात्र होने से मोक्षका साधक है; इसलिये उस महावृतादिरूप

शुभ भाव को चारित्रपना सम्भव नहीं है। अज्ञानी के व्रत उपचार से (—व्यवहार से) भी व्रत नहीं कहलाते।

निश्चय सम्यग्दर्शन पूर्वक स्वसन्मुख वीतरागभाव हो उतना चारित्र है, और महाव्रतादि शुभराग मुनिदशामें होता है वह चारित्र नहीं है, किन्तु चारित्रका मल है—दोष है। उसे छूटता न जानकर उसका त्याग नहीं करते और अव्रतादि अशुभरागका त्याग करते हैं; किन्तु उस शुभाश्रवको धर्म नहीं मानते। जिसप्रकार कोई कंदमूलादि अत्यन्त दोष वाली हरियालीका त्याग करे और दूसरी लौंकी आदि हरियाली खाये, किन्तु उसे धर्म न माने; उसीप्रकार मुनि हिंसादि तीव्र कषाय भावरूप अव्रतका त्याग करते हैं और अकषाय दृष्टि तथा स्थिरतापूर्वक मन्द कषायरूप महाव्रतादिका पालन करते हैं, किन्तु व्रतादि आश्रवको मोक्षमार्ग नहीं मानते।

× × ×

[वीर सं० २४७९ चैत्र कृष्णा ७ शनिवार ता० ७–३–५३]

व्यवहाराभासीका वर्णन चल रहा है सात तत्त्वोंका भाव भासित हुए बिना अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। वैसा जीव संवर तत्त्व में क्या भूल करता है वह बतलाते हैं।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो चारित्रके तेरह भेदों में उन महाव्रतादिकका क्यों वर्णन किया है ?

उत्तरः—वहाँ उसे व्यवहारचारित्र कहा है। चारित्र जैसा है वैसा न माने वह संवर तत्त्वमें भूल है। व्यवहार उपचारका नाम है। मुनिदशामें अकषाय आनन्द होता है और विकल्पके समय पाँच

महाव्रतके परिणाम आते हैं। ऐसा सम्बन्ध जानकर, महाव्रतमें चारित्रका उपचार करते हैं। चारित्र साक्षात् मोक्षमार्ग है और सम्यग्दर्शन परम्परा मोक्षमार्ग है। तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्मामें अकषाय शांति प्रगट हो वह चारित्र है। जिनके वैसा चारित्र प्रगट हुआ है उन मुनिके पंच महाव्रतों को उपचार से चारित्र कहा है। निश्चयसे निष्कषायभाव ही सच्चा चारित्र है। इसप्रकार संवरके कारणोंको अन्यथा जानता है, इसलिये अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटता। महाव्रतादिके परिणामों को संवर माने वह सच्चा श्रद्धानी नहीं है।

निर्जरातत्त्व के श्रद्धानकी अयथार्थता

अज्ञानीको निर्जरातत्त्वमें भूल होती है वह बतलाते हैं। उपवास, वृत्ति संक्षेप आदिको वह निर्जरा मानता है; वे सब बाह्य तप हैं। उनमें कषाय मन्दता करे तो पुण्य है। शुद्ध आत्माका भान होने के पश्चात् अन्तर्लीनता करे वह निर्जरा है। बाह्य तप तो शुद्धोपयोग बढ़ाने के हेतु किया जाता है। इसका यह अर्थ है कि स्वयं ज्ञान स्वभावी है;—ऐसी दृष्टि पूर्वक लीनता करने से पूर्व उपवासादिका शुभभाव निमित्तरूप होता है; इसलिये बाह्यतप शुद्धोपयोग बढ़ाने के हेतु से किया जाता है—ऐसा कहते हैं। जिसे उपवासादि में अरुचि हो उसकी बात नहीं है। स्वभाव में लीन होने पर बाह्य तपरूपी निमित्त पर से लक्ष हट गया, इसलिये बाह्यतप पर उपचार आता है। स्वभाव में लीनता करने से सहज ही इच्छा टूट जाती है। स्वयं ज्ञानस्वभावी है; इसप्रकार निश्चयपूर्वक लीनता करने से शुभ उपयोग छूट जाता है। शुद्धता में अपना स्वभावभाव कारण होता है;

तो शुभका अभाव कारण है—ऐसा उपचार किया जाता है। सम्यग्दर्शनके समय अंशत: शुद्ध उपयोग हुआ है; विशेष लीनता होने पर शुद्ध–उपयोगमें वृद्धि होती है। जिसे सम्यग्दर्शन, सम्यक्-अनुभूति तथा अंशत: आनंद प्रगट नहीं हुआ है उसके शुभमें तो उपचार भी नहीं किया जाता।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि प्रथम निश्चय सम्यक्दर्शनका पता नहीं लग सकता है, प्रथम उपवास करो, प्रतिमा आदि धारण करो, किन्तु भाई! सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् विशेष शुद्धताके लिये प्र-योग वह प्रतिमा है। प्रतिमा बाह्यवस्तु नहीं है। अंतरमें शुद्ध उपयोग होने से इच्छा टूट जाती है तब बाह्य तप पर आरोप आता है। आ-त्माके भान बिना अज्ञानी अनेक तप करता है किन्तु उसके निर्जरा नहीं होती। मैं यह करूं और यह छोड़ूं—ऐसा जो भाव है वह मिथ्या है। ऐसा विकल्प वस्तुस्वभावमें नहीं है। समयसारके ६२ वें कलशमें कहा है, कि:—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
पर भावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥

आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानके अतिरिक्त वह दूसरा क्या कर सकता है? राग करे या छोड़े—यह भी ज्ञानका स्वरूप नहीं है। ज्ञान आहारका ग्रहण या त्याग कर सकता है? नहीं; आत्मामें तो जानने की क्रिया है। निर्णय होनेके पश्चात् लीनता होना वह निर्जरा का कारण है।

ज्ञानी जीवके बाह्य तपको उपचारसे निर्जराका कारण कहते हैं। यदि बाह्य दु:खोंको सहन करना निर्जराका कारण हो, तो पशु आदि

बहुत भूख-प्यास सहन करते हैं, इसलिये उनके खूब निर्जरा होना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये बाह्य दुःख सहन करना निर्जराका कारण नहीं है।

प्रश्नः—वे तो पराधीनरूपसे सहन करते हैं; किन्तु स्वाधीनता पूर्वक धर्म बुद्धिसे उपवासादिरूप तप करे तो निर्जरा होती है या नहीं ? हमें अन्न-जल अच्छी तरह मिलता है, तथापि हम उसका त्याग करदें तो हमें निर्जरा होगी न ?

उत्तरः—धर्म बुद्धिसे अर्थात् शुभभावसे बाह्य उपवासादिक तो करे, किंतु वहाँ उपयोग तो अशुभ, शुभ अथवा शुद्धरूप जैसा चाहे परिणमित होता है। वहाँ अशुभ परिणाम हों तो पाप होता है, शुभ परिणाम हों तो पुण्य होता है और शुद्ध परिणाम हों तो धर्म होता है। अज्ञानी जीवोंको परिणामकी खबर नहीं है। २४ या ४८ घंटे तक अहार नहीं लिया इसलिये शुभ परिणाम हुए—ऐसा नहीं है। अपनी प्रशंसा, मानादिके लिये उपवासादि करे तो परिणाम अशुभ हैं, उसे कषाय मंदता नहीं है, इसलिये पाप होता है। स्वयं व्रत-तपादि करे और उनके उद्यापनके समय सगे-सम्बन्धी न आवें तो मनमें दुःख होता है—वह सब अशुभभाव है। साधु नाम धारण करके प्रशंसा के लिये उपवासादि करे तो वह पाप है। बाह्य उपवाससे निर्जरा नहीं है। शुभभाव करे तो पुण्यबंध है। अपने परिणामोंसें लाभ-अलाभ है; बाह्यसे नहीं है। आठ उपवास किये हों और अंतरमें मान के परिणाम हों तो उसे पाप लगता है। हमने इतने उपवास किये, फिर भी हमारी ओर कोई देखता तक नहीं!—आदि परिणामोंसे पापबंध होता है। अधिक उपवासों से बहुत निर्जरा होती है और

कम उपवासोंसे थोड़ी;—ऐसा नियम सिद्ध हो जावे तो निर्जराका मुख्य कारण उपवासादि होजायें; किंतु ऐसा तो हो नहीं सकता; क्योंकि दुष्ट परिणामोंसे उपवासादि करने पर निर्जरा कैसे संभव हो सकती है ? इसलिये जैसा अशुभ, शुभ या शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो, तदनुसार बंध–निर्जरा है।

अशुभ–शुभ से बंध है और शुद्ध से अबंध दशा होती है इसलिये उपवासादि तप–निर्जरा के कारण नहीं रहे, किन्तु अशुभ-शुभ राग बन्ध के ही कारण सिद्ध हुए, और शुद्ध परिणाम निर्जरा का कारण सिद्ध हुआ।

प्रश्न:—तो फिर तत्वार्थसूत्र में "तपसा निर्जरा च" —ऐसा किसलिये कहा है ?

उत्तर:—शास्त्र में "इच्छानिरोधस्तप:" कहा है। शुभ–अशुभ दोनों इच्छाओं का नाश करना वह तप है। इच्छा को रोकने का नाम तप है, वह भी उपदेश का कथन है। जो इच्छा उत्पन्न होती है उसे रोका जा सकता है ? अपने ज्ञान स्वभावमें लीन होनेपर इच्छा उत्पन्न ही नहीं हुई—उसे इच्छा को रोकना कहा जाता है। पहली पर्याय में इच्छा थी वह दूसरी पर्याय में स्वभाव में लीनता होने से उत्पन्न ही नहीं हुई वह निर्जरा है। इसलिये तप द्वारा निर्जरा कही है।

प्रश्न:—आहारादि रूप अशुभ की इच्छा तो दूर होते ही तप होता है; किन्तु ज्ञानी को उपवासादि या प्रायश्चित करने की इच्छा तो रहती है न ?

उत्तर:—धर्मी जीव के उपवासादि की इच्छा नहीं है; एक शुद्ध उपयोग की भावना है। उपवास होता है वहाँ आहार आना ही नहीं

था; इच्छा टूटी इसलिये आहार रुक गया—ऐसा नहीं है। स्वभाव में लीन होने पर इच्छा टूट जाती है, उसे तोड़ना नहीं पड़ता। कोई पूछे कि—इच्छा को होती, तब तो आहार आता न ?—यह प्रश्न ही नहीं है। अपने ज्ञान स्वभाव में लीनता होने से इच्छा उत्पन्न न हुई, और आहार उसके अपने कारण न आया वह उपवास है।

ज्ञानी को उपवासादि की इच्छा नहीं है; मैं ज्ञायक चिदानन्द-स्वरूप हूँ—ऐसा भान है; और एक शुद्ध उपयोग की भावना है, किंतु आश्रव की इच्छा नहीं है। सोलहकारण भावना राग है; उसकी भी भावना ज्ञानी के नहीं है। उपवासादि करने से शुद्धोपयोग में वृद्धि होती है; इसलिये वे उपवासादि करते हैं; अर्थात् अपने स्वभाव के लक्ष से शांति बढ़ती है—तब ऐसा कहा जाता है कि उपवास से निर्जरा हुई। वस्तु का स्वभाव है वह धर्म है; धर्म स्वद्रव्य के आलंबन से होता है इसलिये द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप का प्रथम निर्णय करना चाहिये।

यदि धर्मी जीव अथवा मुनि को ऐसा लगे कि उपवास के परिणाम सहज नहीं आते और शरीर में शिथिलता मालूम होती है, तथा शुद्धोपयोग शिथिल हो रहा है, तो वहाँ वे आहारादि ग्रहण करते हैं। धर्मात्मा ज्ञानी देखें कि अपने परिणामों में शहज शांति नहीं रहती तो वे आहारादि लेते हैं। ज्ञानी हठ पूर्वक उपवास नहीं करते; परिणामों की शक्ति को देखकर तप करते हैं। जहाँ हठ है वहाँ लाभ नहीं है। मुनित्व या प्रतिमा को हठ पूर्वक निभाना उचित नहीं है।

ज्ञानी तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव देखकर

प्रतिज्ञा, प्रतिमा या मुनित्व ग्रहण करते हैं देखा देखी प्रतिमा नहीं लेते। वह सब दशा विपरीतता रहित सहज ही होती है।

नियत का निर्णय पुरुषार्थ से होता है।

"एक में अनेक खोजै"—यह बनारसीदासजी का कथन गंभीर है। "समयसार नाटक" पृष्ठ ३३८ में वे कहते हैं कि—

"टेक डारि एक में अनेक खोजै सो सुबुद्धि,
खोजी जीवै वादी मरै सांची कहवति है।"

प्रतिसमय जो परिणति होना है वह होगी; यह निर्णय किसने किया? वस्तु स्वभाव ज्ञान हो है; वह स्वयं ही निर्णय करता है। नियतका निर्णय पुरुषार्थसे होता है। जिस समय जो होना है वह होगा ही;—ऐसा निर्णय पुरुषार्थसे होता है। पुरुषार्थ स्वभावमें है और नित्य स्वभाव ज्ञानस्वरूप है, उसके आश्रय से ही ज्ञातापनेका सच्चा पुरुषार्थ होता है।

जो खोजता है वह जीता है, और वादी मरता है।

वस्तु स्वरूप समझे बिना सब व्यर्थ है। मुनि अपने में शिथिलता देखें तो आहार लेते हैं। अजितनाथ आदि तीर्थंकरों ने दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों किये? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी; किन्तु जैसे परिणाम हुए वैसे बाह्य साधन द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया। यह बात भी निमित्त नैमित्तिक—सम्बन्धसे की है।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो, आहार न लेने, ऊनोदर करने को तप क्यों कहा है?

उत्तर:—उसे बाह्य तप कहा है। बाह्यका अर्थ यह है कि—दूसरों को दिखाई देता है कि यह व्यक्ति तप करता है; किंतु स्वयंको तो जैसे परिणाम होंगे वैसा ही फल मिलेगा; क्योंकि परिणामों के बिना शरीर की क्रिया फलदाता नहीं है।

प्रश्न:—शास्त्रमें तो अकाम निर्जरा कही है। वहाँ इच्छा के बिना भी भूख तृषादि सहन करने से निर्जरा होती है, तो उपवास करे, कष्ट सहन करे, उसे निर्जरा क्यों नहीं होगी ?

उत्तर:—अकाम निर्जरामें भी बाह्य निमित्त तो इच्छारहित भूख-तृषा सहन करना है। वहाँ भी अंतरंग कषायमन्दता हो तो अकाम निर्जरा है। कषायमन्दता न हो तो अकाम निर्जरा नहीं है। बाह्यमें अन्न-जल न मिले, और उस काल कषायमन्दता हो तो अकाम निर्जरा है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र कृष्णा ८, रविवार, ता० ७—३—५३]

प्रश्न:—उपवास करे, बाह्य संयम पाले, कन्दमूलादिका त्याग करे, उसे धर्म क्यों नहीं होता ?

उत्तर:—पशु आदि को भूख-प्यास सहन करते समय कषाय-मंदता होती है वह अकाम निर्जरा है। उस अकाम-निर्जरा में भी बाह्य निमित्त तो इच्छारहित भूख, प्यासादि सहन करना हुआ है। वहाँ मंद कषाय न हो तो पाप बंध होता है। कषायमंदता करे तो पुण्य होता है देवादि गतिका बंध होता है; किन्तु वहाँ मिथ्यात्वका पाप तो है ही। अंतर स्वभावका भान नहीं है उसे धर्म नहीं होता।

निर्जराके चार प्रकार

निर्जरा चार प्रकार की है। (१) बाह्यसे प्रतिकूल संयोग हों और उस समय कषायमंदता करे तो अकाम निर्जरा होती है। गरीब लोगों को अन्नादि न मिले, उस समय कषायमंदता करें तो पुण्य होता है। कोई युवती विधवा हो जाये, वहाँ कषायमंदता करके ब्रह्मचर्यका पालन करे वह पुण्य है। उसे अकाम निर्जरा होती है। मंदकषायकी हालतमें ज्ञानी या अज्ञानी दोनोंके यह निर्जरा होती है।

(२) आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है,—वैसे अकषायभाव का लक्ष हो; देहादिकी क्रिया जड़से होती है, आत्मासे नहीं और देहकी क्रियासे आत्माका भला-बुरा नहीं हो सकता, पुण्य-पापके भाव दोनों बंध हैं; बंधरहित शुद्धस्वभावका भान हो उसे सकामनिर्जरा होती है।

(३) और लोभादिके परिणाम प्रतिसमय करता है, तब जो कर्मके परमाणु खिर जाते हैं उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। अज्ञानीको नवीन बंधसहित यह निर्जरा होती है। यह सविपाक निर्जरा चारों गतिके जीवों के होती है।

(४) मैं ज्ञाता हूँ, देहकी क्रिया मेरी नहीं है, परवस्तुका त्याग मैं नहीं कर सकता;—ऐसी सच्ची दृष्टि होने के पश्चात् कर्म खिरते हैं वह अविपाक निर्जरा है।

सकाम शब्दका अर्थ होता है "आत्माकी सम्यक् भावनासहित" मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, राग मेरा स्वरूप नहीं है—अहितकर है शुभ-राग भी करने लायक नहीं है और शरीरकी क्रिया मैं कर ही नहीं

सकता; राग करना मेरे स्वभावमें नहीं है;—ऐसे ज्ञानीको अकाम, सकाम, सविपाक और अविपाक—ऐसी चारों प्रकारकी निर्जरा होती है। कर्म पके बिना खिर गये इसलिये अविपाक कहा है। आत्माका पुरुषार्थ बतलाने के लिये उसीको सकाम निर्जरा कहते हैं। सकाम और अविपाक निर्जरा ज्ञानीके ही होती है। तदुपरान्त ज्ञानी के अकाम और सविपाक-निर्जरा भी होती है। अज्ञानीके अकाम और सविपाक-दोनों प्रकार की निर्जरा होती है।

जैन कौन और अजैन कौन?

मैं त्रिकाल ज्ञायक हूँ शुभाशुभभावका नाशक हूँ—ऐसा भान होनेसे भ्रान्ति दूर हो जाती है; और शुभाशुभका रक्षक हूँ—ऐसा माने वह भ्रान्ति है। मैं कुटुम्ब, देश आदि का रक्षक नहीं हूँ, तथा शुभाशुभ-भावका भी रक्षक नहीं हूँ, किन्तु नाशक हूँ—ऐसा भान होने पर सम्यग्दर्शन होता है। उस समय शुभाशुभभाव सर्वथा दूर नहीं हो जाते। भ्रान्ति दूर होती है, किन्तु पुण्य-पाप दूर नहीं होते। फिर स्वरूपमें विशेष लीनता करे तो पुण्य-पाप दूर होते हैं।—ऐसा करे वह सच्चा जैन है। अपनी पर्यायमें पुण्य-पापके भाव होते हैं, उनका स्वभाव के लक्षसे नाश करनेवाला जैन है। वैसे जीवको शुद्धिकी वृद्धि करने वाली निर्जरा होती है। मैं आत्मा हूँ; शरीर, मन, वाणी आदि मेरे नहीं हैं; मैं उन सबका ज्ञाता हूँ। मैं विभावका भक्षक और स्वभावका रक्षक हूँ—ऐसा माननेवाला जैन है। जो विभावका रक्षक और स्वभावका नाशक है वह अजैन है। शुद्ध चिदानन्दका भान करनेवाला जैन है।

अब यहाँ मूल प्रश्न की बात लेते हैं।

बाह्य प्रतिकूल निमित्तके समय पशु आदि कषायमंदता करें तो पुण्यबंध होता है और देवगतिमें जाते हैं। प्रतिकूलताके समय कषाय मंदता न करे तो पुण्य भी नहीं होता। मात्र दुःख सहन करने से स्वर्ग प्राप्त नहीं होता। आलू आदिके जीवों को महान प्रतिकूलता होती है, अग्निमें सिक जाते हैं। वहाँ दुःखका निमित्त तो है, किन्तु कहीं सबको पुण्यबंध नहीं होता, जो कषायमंदता करे उसीको पुण्य होता है। कष्ट सहन करते समय यदि तीव्र कषाय होने पर भी पुण्य-बंध होता हो, तो सर्व तिर्यंचादिक देव ही हो जायेंगे, किन्तु ऐसा नहीं होता। उसीप्रकार इच्छा करके उपवासादिक करने में भूख-प्यास सहन करता है वह बाह्य निमित्त है; किन्तु वहाँ रागकी मंदता करे तो पुण्यबंध होगा, किन्तु धर्म नहीं हो सकता। उपवासके समय भी जैसे परिणाम करे वैसा फल है। यहाँ निर्जरा तत्त्वकी भूल बत-लाते हैं। स्वरूप शुद्धिकी वृद्धि और रागका अभाव होना वह भाव निर्जरा है और कर्मोंका खिरना द्रव्य निर्जरा है।

जीव जैसे परिणाम करे वैसा ही बंध होता है। बाह्य प्रति-कूलता सहने में कष्ट करने से पुण्य नहीं होता। जैसे—अन्नको प्राण कहा है वह उपचार मात्र है, आयु प्राणके बिना जीव जीवित नहीं रह सकता; यदि आयुप्राण हो तो अन्नको निमित्त कहा जाता है; उसीप्रकार उपवासादि बाह्य साधन होने से अंतरंग तपकी वृद्धि होती है, अर्थात् शुद्ध चिदानन्दके भानपूर्वक अन्तर्लीनता करे तो उपवास को बाह्य साधन कहा जाता है। चिदानन्द आत्मा विभावरहित है—ऐसे भान बिना धर्म नहीं होता। कुदेवादिकी श्रद्धा छोड़ी हो, सच्चे देवादिकी श्रद्धा हुई हो, और उस विकल्पका भी आदर न हो

तथा आत्माका भान वर्त रहा हो—ऐसे जीवको अंतर्लीनतासे तप होता है ।

हजारों रानियोंका त्याग कर दिया हो, उपवासादि किये हों किन्तु आत्माके भान बिना सब व्यर्थ है । जो रागमें रुका है और उसे धर्म मान रहा है वह मिथ्यादृष्टि है । कोई बाह्य तप तो करे किंतु अंतरंग तप न हो तो उसको उपचारसे भी तप नहीं कहा जाता । स्वभावकी भावना हो तो ब्राह्यतपको निमित्त कहा जाता है । निश्चय का भान हो तो व्यवहार कहा जाता है । अज्ञानी कहते हैं कि— जिसप्रकार दूकानमें माल भरा हो तो भाव बढ़ते हैं; उसीप्रकार शुभ-रागादिरूप माल हो तो आगे बढ़ा जाता है; किन्तु वह बात मिथ्या है । शुभराग कोई माल ही नहीं है । वास्तवमें आत्माका भान हो तो भाव बढ़ता है । मेरा ज्ञान स्वभाव वीतरागी है—ऐसी दृष्टि हो तो लीनता होती है; किन्तु जिसे द्रव्यदृष्टि नहीं है उसके तप संज्ञा नहीं है ।

आत्मा के भान बिना उपवास लंघन है

फिर कहा है कि:—

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः ॥

जहाँ कषाय, विषय और आहार का त्याग किया जाता है उसे उपवास जानना । शेष को श्री गुरु लङ्घन कहते हैं । जिसे आहारादि के ग्रहण त्याग की इच्छा नहीं है, पुण्य-पाप की इच्छा नहीं है और

पर-पदार्थों की वृत्ति का त्याग है, उसे उपवास कहते हैं। शुद्ध चिदानन्द आत्मा के निकट वास करने को उपवास कहते हैं। अज्ञानी को कुछ भान नहीं है, इसलिये पुण्य-पाप की वृत्ति कैसे रुके ? नहीं रुक सकती। अकषाय स्वभावके भान बिना कभी उपवास नहीं हो सकता।

आहार-जल आत्मा नहीं ले सकता, वह तो जड़ की क्रिया है। राग के कारण आहार नहीं आता। आहार की इच्छा होने पर भी आहार नहीं लिया जाता; भोजन करने बैठा हो और उसी समय अशुभ समाचार आजायें तो आहार नहीं होता। वहाँ वास्तव में तो आहार आना ही नहीं था, इसलिये नहीं आया; तथापि आहार लेने और छोड़ने की क्रिया मुझ से होती है—ऐसा मानने वाला मिथ्या-दृष्टि है।

आत्मा के भान बिना उपवास करे उसे लंघन कहते हैं। उपवास करे तो शरीर अच्छा होता है—ऐसा भी नहीं है। शरीर की अवस्था का स्वामी आत्मा नहीं है। अजीव की क्रिया का स्वामी हो वह मूढ़ है। शरीर को रखने में जीव समर्थ नहीं है। जिस समय, जिस क्षेत्रमें शरीर छूटना हो उस समय उस क्षेत्र में छूटता है। भले ही लाखों उपाय करे, डॉक्टर आयें, किन्तु वे उसे बचाने में समर्थ नहीं हैं। उसमें फेरफार करने की जीव की सत्ता नहीं है। अज्ञानी जीव अपनी पर्याय में घोटाला करता है। आत्मा के भान बिना उपवास करे तो लङ्घन है। अज्ञानी जीव के पुण्य का ठिकाना नहीं है, और पुण्य मान बैठे तो मिथ्यात्व होता है।

अज्ञानी जीव अज्ञान-तप का उद्यापन करके अभिमान करता है। स्वयं लोभ कम करे तो पुण्य होता है, किन्तु आत्माके भान बिना

धर्म नहीं होता। यहाँ कोई कहे कि यदि ऐसा है तो हम उपवासादिक नहीं करेंगे तो उससे कहते हैं कि—हम तो उपवास और निर्जराका सच्चा स्वरूप कहते हैं। उपदेश ऊपर चढ़ने के लिये है। आहार के प्रति राग कम करे तो पुण्य होता है, तीव्र कषाय घटे तो पुण्य होता है; आहार न ले तो पुण्य हो ऐसा नहीं होता। धर्म तो पुण्य से अलग है जो आत्मा के भान से होता है। तू उल्टा नीचे गिरे तो हम क्या करें?

यदि तू मानादि से उपवासादि करता है तो कर अथवा न कर; कीर्ति के लिये, दिखावा के लिये, बड़प्पन के लिये करता हो तो कर या न कर;—सब समान है; किंतु व्यवहार धर्म बुद्धि से अर्थात् शुभ भाव से आहारादि का राग छोड़े तो जितना राग छूटा उतना छूटा। तीव्र तृष्णा छोड़कर मंद तृष्णा की उसे पुण्य समझ; उसे तप मानेगा तो मिथ्यादृष्टि रहेगा। वस्तुओं के प्रति राग कम हो उसे पुण्य मानो, निर्जरा न मानो। उसे जो धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

अंतरंग तपों में भी प्रायश्चित लेने में शुभ विकल्प होने से पुण्य है, निर्जरा नहीं है। सच्चे देव-गुरु शास्त्र की विनय करना वह पुण्य परिणाम है। वैयावृत्य करने से पुण्य होता है, धर्म नहीं होता। अज्ञानी लोग कहते हैं कि साधु की वैयावृत्य करने से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है। तीर्थंकर नामकर्म जड़ प्रकृति है; वह बांधने की भगवान की आज्ञा नहीं है; और जिस भाव से वह प्रकृति बँधती है वह शुभास्रव करने की भी भगवान की आज्ञा नहीं है। भगवान तो शुद्ध आत्मा की भावना करने को कहते हैं। स्वाध्याय का शुभ भाव

वह पुण्य है। व्युत्सर्ग में शुभ भाव पुण्य है। बाह्य ध्यानमें शुभ-भाव है। कषाय मंदता करे तो पुण्य होता है और कषाय स्वभावका भान करे तो धर्म होता है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र कृष्णा १० मंगलवार ता० १०-३-५३]

प्रायश्चित, विनय आदि अंतरंग तपों में बाह्य प्रवर्तन है उसे तो बाह्यतपवत् ही जानना। प्रायश्चित और विनय निमित्तरूप से प्रवर्तित होने पर "मैं ज्ञानानन्द हूँ" इसप्रकार अनुभवद्वारा शुद्धि की वृद्धि होना वह निर्जरा है। सम्यग्दर्शन के बिना सच्चा तप नहीं है। मैं ज्ञायक हूँ, एक रजकण की क्रिया मेरी नहीं है, मैं दयादि का स्वामी नहीं हूँ;—ऐसे भान पूर्वक अकषाय परिणाम हों वह निर्जरा है।

मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ—ऐसी दृष्टि करके स्वसन्मुखज्ञाता रहे; जगत् का साक्षी रहे उतने अंश में शुद्धि है वह भाव निर्जरा है और उनके निमित्त से कर्म खिरते हैं वह द्रव्य निर्जरा है। बारह प्रकारके तप में जितना विकल्प उठता है वह बंध है। जितने अंशमें परि-णामोंकी निर्मलता हुई वही वीतरागता है। ऐसे मिश्र भाव ज्ञानीके युगपत् होते हैं। अज्ञानी बाह्य में धर्म मानता है, उसके निर्जरा नहीं होती।

प्रश्नः—शुभ भावों से पाप की निर्जरा और पुण्यका बंध होता है, और आत्मा शुभाशुभ रहित दृष्टि करे तो दोनों की निर्जरा होती है—पुण्य पाप दोनों खिर जाते हैं—ऐसा क्यों नहीं कहते ? लोग भी कहते हैं कि पुण्य से पाप धुलते हैं।

उत्तरः—आत्मा ज्ञायक है; उसकी निर्विकल्प प्रतीति तथा लीनता से समस्त कर्म प्रकृतियों की स्थिति घटती है, तथा शुभ आयु के सिवा पुण्य प्रकृति की स्थिति भी कम हो जाती है। मिथ्यादृष्टि निर्जरा तत्त्व को नहीं समझता, इसलिये वह बाह्य तप से निर्जरा मानता है। और वह मानता है कि आत्मा का भान होने के पश्चात् स्थिति और रस दोनों घटते हैं किंतु वह बात मिथ्या है। शुद्धोपयोग होने के पश्चात् पुण्यप्रकृति का अनुभाग कम नहीं होता। मोक्षमार्ग में पुण्य और पाप दोनों की स्थिति घटती है; वहाँ पुण्य-पाप की विशेषता है ही नहीं, तथा पुण्यप्रकृतियों में अनुभाग का घटना शुद्धोपयोग से भी नहीं होता। शुभ भावों से पापकी निर्जरा नहीं होती क्योंकि उस से घातिकर्म (पापकर्म) भी बँधते हैं।

केवली भगवान के असाता सातारूप में परिणमित होती है।

गोम्मटसार गाथा २७४ में कहा है कि केवली भगवान को सातावेदनीय का बन्ध एक समय के लिये है, इसलिये वह उदय स्वरूप है। और केवली को असाता वेदनीय सातारूप में परिणमित होता है। केवली के कषाय नहीं है, मात्र शुद्धोपयोग है; इसलिये असाता वेदनीय की अनुभाग शक्ति अनन्तगुनी हीन हो जाती है। जो साता का बंध हुआ है उसका अनुभाग अनन्तगुना है। पहले नहीं था, उसकी अपेक्षा अनन्तगुना रस है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप में रमणता करे तब पाप का रस घट जाता है और पुण्य का बढ़ जाता है। अकषाय परिणाम से स्थिति घट जाती है और सातादि कर्मों का रस अनन्तगुना बढ़ जाता है।

आत्मा स्वयं शुद्ध चिदानन्द है;—ऐसी दृष्टि पूर्वक शुद्ध उपयोग करे तो पुण्यका अनुभाग बढ़ता है और स्थिति घटती है। पुण्यपाप दोनों की स्थिति घट जाती है। पापका अनुभाग घट जाता है और पुण्यका बढ़ जाता है। तीर्थंकर भगवान के पुण्यका रस बढ़ जाता है। जितनी विशुद्धता है उतना अनुभाग बढ़ जाता है। जो पुण्यका त्याग करता है उसके पुण्यका रस बढ़ जाता है और जो उसकी इच्छा करता है उसके पुण्यका रस घट जाता है।

गुरुकी वैयावृत्य आदि करने से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करेंगे—ऐसा अज्ञानी मानता है, उसे तत्त्वकी खबर नहीं है। शुद्ध उपयोगसे ऊपर–ऊपरकी पुण्य प्रकृतियों के अनुभागका तीव्र उदय होता है। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ—ऐसी दृष्टि होने के पश्चात् शुभभाव हो तो पापप्रकृति पलटकर पुण्यरूप होती है और शुद्धभावसे पुण्यका अनुभाग बढ़ जाता है तथा पापप्रकृति पलटकर पुण्यप्रकृति हो जाती है। जो दाना बड़ा होगा उसका छिलका भी बड़ा होता है उसीप्रकार शुद्धोपयोगकी जितनी पुष्टि होती है उतनी पुण्यमें होती है; इसलिये शुद्धभावसे पुण्यके अनुभागकी निर्जरा नहीं होती। परन्तु पुण्यका अनुभाग बढ़ जाता है, इसलिये पूर्वोक्त नियम सम्भवित नहीं होता किन्तु विशुद्धताके अनुसार ही नियम सम्भव होता है।

विशुद्धता के अनुसार निर्जरा होती है बाह्य प्रवर्तन के अनुसार नहीं।

देखो, चौथे गुणस्थानवाला सम्यग्दृष्टि शास्त्राभ्यास करे और आत्माका चिन्तवनादि कार्य करे, वहाँ विशेष गुणश्रेणी निर्जरा नहीं

है। निर्जरा अल्प है और बन्ध अधिक है। अन्तर आनन्दका अनुभव करता हो उस समय भी उसके निर्जरा कम है। यहाँ पाँचवें—छट्ठे गुणस्थानवाले के साथ तुलना करते हैं। चौथे गुणस्थानवाला धर्मी जीव निर्विकल्प अनुभव में हो, तो उसके निर्जरा कम है; पंचम गुणस्थानवाला श्रावक उपवास और विनयादि करता हो उस कालमें भी छट्ठेवालेकी अपेक्षा उसके कम निर्जरा है; क्योंकि अन्तर अकषाय परिणमनके आधारसे निर्जरा है। शुभकी अपेक्षा अथवा बाह्यक्रिया की अपेक्षासे निर्जरा नहीं है। पंचम गुणस्थानवाला उपवास करता हो तो कम और छट्ठे गुणस्थानवाले मुनि आहार करते हों तथापि उनके अधिक निर्जरा है। उस समय जो राग वर्तता है उससे निर्जरा नहीं है। शुभरागसे पुण्य है किन्तु उसकाल निर्जरा अधिक है; क्योंकि मुनि को स्वरूपके आश्रयसे तीन कषायोंका नाश हो गया है। अकषाय स्वभावके अवलम्बनसे निर्जरा होती है। गुरुकी सेवा तो पुण्यभाव है, उससे निर्जरा नहीं है। जिस भावसे कर्म खिरते हैं उसे निर्जरा कहते हैं। आत्मामें शुद्धभावसे निर्जरा होती है और उससे कर्म खिरते हैं, किन्तु पुण्यका अनुभाग बढ़ता है।

बाह्य क्रियासे निर्जरा नहीं है। पंचम गुणस्थानवाला श्रावक एक महीने के उपवास करे, उस समय उसके जो निर्जरा होती है उसकी अपेक्षा मुनिको निद्राके समय अथवा आहारके समय विशेष निर्जरा है। इसलिये अकषाय परिणामोंके अनुसार निर्जरा होती है। बाह्य प्रवृत्ति पर आधार नहीं है।

अज्ञानी लोग बाह्यसे धर्म मानते हैं। एकबार भोजन लें, पाठशाला चलायें—इत्यादि कार्योंमें धर्म मानते हैं। शुद्ध चिदानन्दकी

दृष्टिपूर्वक आत्मामें लीनता हो उसके निर्जरा है। वस्त्र पात्र सहित मुनिपना मनाये वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है। नग्न दशापूर्वक अकषाय दशा हो उसे भावलिंगी मुनि कहते हैं। मात्र बाह्यसे नग्नतामें मुनिपना नहीं है। जीवकी क्रिया जीवसे होती है, उसमें अजीव निमित्त मात्र है;—आदि नवतत्त्वोंका जिसे भान नहीं है, वह बाह्यमें उपवासादि करे, नमक न खाये तो उससे क्या हुआ ? सादा आहार लेने में निर्जरा मानता है; अमुक पदार्थ न खाये उससे धर्म मानता है। बाह्य वस्तुओं के खाने या न खाने पर धर्मका आधार नहीं है। किन्तु अपने शुद्धोपयोगसे निर्जरा होती है। किसी ने अन्न–जल छोड़ दिया हो, तो उससे उसे त्यागी मान लेते हैं, वह भ्रान्ति है।

पंचम गुणस्थान वाला बैल हरा घास खाता हो, उस समय भी उसे चौथे गुणस्थान वाले ध्यानी की अपेक्षा विशेष निर्जरा है। अन्तर में दो कषायों का नाश है, उसके प्रतिक्षण शुद्धि की वृद्धि होती जाती है। हरियाली खाने का पाप नहीं है। निर्बलता के कारण जो अशुभ भाव होता है उससे अल्प बन्ध है। अशुभ भाव से निर्जरा नहीं है; किन्तु अशुभ भाव के समय दो कषायों का नाश है इसलिये निर्जरा है।

छट्ठे गुणस्थान वाले मुनि को आहारादि से शुभ बन्ध होता है, किन्तु अन्तर में तीन कषाय दूर हुए हैं इसलिये शुद्धता बढ़ती है। निर्जरा की अपेक्षा बन्ध कम है; इसलिये बाह्य प्रवृत्ति अनुसार निर्जरा नहीं है; अन्तरंग कषाय शक्ति घटने से और विशुद्धता होने पर निर्जरा होती है। यहाँ विशुद्धता अर्थात् शुद्धता की विशेषता समझना। अन्तर कषाय शक्ति कम होने से निर्जरा होती है।

पण्डित श्री टोडरमलजी के दृष्टि भी थी और ज्ञान का विकास भी था। हजारों शास्त्रों का निचोड़ मोक्षमार्ग प्रकाशक में भर दिया है।

—इसप्रकार अनशन, वृत्तिपरिसंख्यान, ध्यानादि को उपचार से तप संज्ञा है—ऐसा जानना; और इसीलिये उसे व्यवहारतप कहा है। आत्मा में शुद्धता हो जाये तो, पहले जो विकल्प हो उसे व्यवहार कहते हैं। निमित्त का आश्रय छोड़कर स्वाश्रय द्वारा शुद्धि में वृद्धि हो तो निमित्त को साधन कहते हैं। व्यवहार उपचार का एक अर्थ है। और ऐसे साधन से वीतराग भावरूप जो विशुद्धता होती है वही सच्चा तप–निर्जरा का कारण जानना।

दृष्टान्त:—धन और अन्न को प्राण कहा है। उसका कारण धन से अन्न लाकर भक्षण करने से प्राणों की पुष्टि हो सकती है; इसलिये धन और अन्न को प्राण कहा है; किन्तु आयुष्य न हो तो धन क्या काम करे? मुर्दे को आहार–जल दो तो क्या होगा? पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय, श्वास और आयु—यह प्राण जीव सहित हों तो धन को प्राण कहा जाये; किन्तु इन्द्रियादि प्राणों को न जाने और धनको ही प्राण जानकर संग्रह करे तो मरण ही हो।

जिसके अन्तर्दृष्टि और ज्ञान नहीं है उसके बाह्य तप को उपचार भी नहीं कहा जाता। उसी प्रकार अनशन, प्रायश्चित्त, विनय आदिक को तप कहा उसका कारण यह है कि अनशनादि साधन से प्रायश्चित रूप प्रवर्तित होने पर वीतरागभावरूप सत्यतप का पोषण हो सकता है। इसलिये उन अनशन, प्रायश्चित आदि को उपचार से तप

कहा है; किन्तु कोई वीतराग भावरूप तप को तो न जाने और बारह तपों को तप जानकर संग्रह करे तो संसार में भटकता है। लोग बाह्य तप में धर्म मानते हैं। कुदेवादि को माने, वहाँ गृहीत मिथ्यात्व का त्याग नहीं है, फिर उसे तपश्चर्या कैसी ? अज्ञानी की तपश्चर्या में सच्ची तपश्चर्या मानना और मनाना वह महान पाप है। दृष्टि की खबर नहीं है, सच्ची बात रुचती नहीं है और व्रत धारण करे, तो वह जैन नहीं है; उसे अपनी खबर नहीं है। व्यवहार सहित सात तत्त्वों की पृथकताकी खबर नहीं है उसे तत्त्वार्थश्रद्धान कहाँ से होगा ? नहीं हो सकता।

इसलिये इतना समझ लेना चाहिये कि निश्चय धर्म तो वीतरागता है। अपने में पुण्य-पाप रहित शुद्धता होती है वह वीतरागभाव है।

[वीर सं० २४७९ चैत्र कृष्णा ११ बुधवार ता० ११-३-५३]

यह व्यवहाराभासी का अधिकार चल रहा है। सात तत्त्वों का जैसा भाव है वैसे भाव का ख्याल नहीं है वह व्यवहाराभासी है। निर्जरातत्त्व क्या है उसका विचार करना चाहिये। कर्मों का छूटना वह द्रव्यनिर्जरा है। पर्याय में शुद्धता की वृद्धि होना अर्थात् पुण्य-पाप रहित स्वरूप में लीनता होना वह भावनिर्जरा है, धर्म है। रसपरित्याग, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय आदि धर्म नहीं हैं, उन्हें उपचार से तप कहा है। जानना देखना मेरा स्वभाव है, रागद्वेष मेरा स्वभाव नहीं है—ऐसी श्रद्धा करके स्वरूप में लीनता होना वह धर्म है। वीतराग भाव हो तो उपवास को निमित्त कहते हैं। दृष्टि-पूर्वक अविकारी परिणाम को निर्जरा कहते हैं। बाह्य तप को

उपचार से धर्म संज्ञा कहा है। द्रव्य–गुण–पर्याय का विचार करना वह राग है। वैसे राग से भी आत्मा पृथक् हो तो निर्जरा है। उपवास नाम धारण करे, किन्तु सात तत्त्वों के भाव का भासन नहीं है उसके उपवास नहीं किन्तु लंघन है; उससे धर्म नहीं है। उससे निर्जरा माने तो मिथ्यात्व का पाप लगता है। आहार न आना वह जड़ की क्रिया है; कषाय मन्दता पुण्य है; पुण्य रहित शुद्ध आत्मा के आश्रय से निर्जरा होती है। उसका रहस्य जो नहीं जानता उसे निर्जरा की सच्ची श्रद्धा नहीं है। इसलिये उसके बाह्य उपवास को व्यवहार नाम लागू नहीं होता।

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता वह मोक्षमार्ग है। उसमें निर्जरातत्त्व की भूल बतलाते हैं। अज्ञानी मानता है कि बाह्य पदार्थों का त्याग किया इसलिये निर्जरा होती है, किन्तु वह निर्जरा नहीं है। आत्मा में निर्विकल्प अनुभव हुआ हो उसे निर्जरा कहते हैं।

मोक्षतत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता

मोक्षतत्त्व अरिहन्त–सिद्ध का लक्षण है। पंचपरमेष्ठी में अरिहन्त–सिद्ध लक्ष्य हैं और मोक्षतत्त्व उनका लक्षण है। जिसे मोक्षतत्त्व का भान नहीं है उसे अरिहन्त सिद्ध की खबर नहीं है। अपने में पूर्ण निर्मल पर्याय होना वह मोक्ष है।

"मोक्ष कह्यो निज शुद्धता"

अज्ञानी जीव मुक्ति शिला पर जाने को सिद्धपना कहते हैं; किन्तु वह भूल है। अपनी शक्ति में शुद्धता भरी है; उसमें से परिपूर्ण व्यक्त शुद्ध दशा का होना वह मोक्ष है। जब यहाँ पर्याय में

मोक्ष होता है, उस समय ऊर्ध्वंगमन स्वभाव से आत्मा ऊपर जाता है। मोक्ष और ऊर्ध्वंगमन में समय भेद नहीं है। अपनी ज्ञान शक्ति में से केवलज्ञान प्रगट हुआ, दर्शन शक्तिमें से केवल दर्शन प्रगट हुआ, आनन्द शक्ति में से केवल आनन्द प्रगट हुआ—इत्यादि प्रकार से सर्व शुद्धता हुई वह मोक्ष है। केवलज्ञान लोकालोक को जानता है वह तो व्यवहार है। लोकालोक को जानता है इसलिये केवलज्ञान अथवा मोक्ष है—ऐसा नहीं है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य आदि पर्यायों की परि–पूर्णता है इसलिये मोक्ष है, मुक्तिशिला पर रहना वह सिद्धपना नहीं है। मुक्तिशिला पर तो एकेन्द्रिय–निगोद के जीव भी हैं। और सिद्ध के जन्म, जरा, मरण, रोग क्लेशादि दुःख दूर हुए हैं इसलिये मोक्ष मानता है, किन्तु अपना स्वभाव जन्म–जरा रहित है उसका उसे भान नहीं है। और वह ऐसा जानता है कि उन्हें अनन्त ज्ञान द्वारा लोकालोक का ज्ञान हुआ है। सिद्ध दशा में लोकालोक का ज्ञान हो जाता है—ऐसा जो नहीं जानता वह तो व्यवहाराभासियों में भी नहीं आता। यहाँ तो कहते हैं कि—लोकालोक का ज्ञातृत्व मानने पर भी, अपने में अनन्तज्ञान भरा है,–ऐसी जिसे खबर नहीं है वह व्यवहाराभासी है।

अनन्तता के स्वरूपको केवली अनन्तरूपसे जानते–देखते हैं।

कोई कहे कि केवली भगवान अनन्तको अनन्त जानते हैं, इसलिये वे अनन्तका अन्त नहीं जानते; इसलिये उनके सर्वज्ञतारूप केवलज्ञान नहीं है; वह भी भूल है। अनन्तताको अनन्तरूपसे न जाने और अन्तरूप जाने तो केवलज्ञान मिथ्या सिद्ध हो। पं० बनारसीदासजी ने "परमार्थ वचनिका" में कहा है कि उस अनन्तताके

स्वरूपको केवलज्ञानी पुरुष भी अनन्त ही देखते, जानते और कहते हैं। अनन्तका दूसरा अन्त है ही नहीं कि जो ज्ञानमें (अन्तरूप) भासित हो। इसलिये सर्वज्ञ परमात्माको अनन्तता अनन्तरूप ही प्रतिभासित होती है। चैतन्य अग्नि अपने ज्ञानस्वभावके सामर्थ्यसे अपने द्रव्य सहित लोकालोकको न जाने तो वह केवलज्ञान नहीं है। आत्मा प्रभुत्व शक्तिसे परिपूर्ण है वह पर्यायमें पूर्ण हो जाता है। लोकालोकको व्यवहारसे जानता है।—इसमें भी जो भूल करता है वह तो मिथ्यादृष्टि है; किन्तु जो ऐसा मानता है कि—मात्र लोकालोकको ही जानता है; वह भी मिथ्यादृष्टि है। अपने को जानते हुए भी सर्व परको सम्पूर्णतया जान लेता है।

और अज्ञानी, सिद्ध भगवानके त्रैलोक्यपूज्यता मानता है किन्तु वह तो व्यवहार है। अपना स्वभाव पूज्य है; उसकी शक्तिके विश्वास से त्रैलोक्य पूज्यता प्रगट हो सकती है—ऐसी उसे खबर नहीं है। —इसप्रकार वह सिद्धकी महिमा बाहर से करता है। अपना दुःख दूर करने की ज्ञेयको जानने की तथा पूज्य होने की इच्छा तो सर्व संसारी जीवोंमें है; इसलिये कोई अपूर्वता नहीं है। अपना स्वभाव परिपूर्ण है उसका उसे विश्वास नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी लिखते हैं कि—"यद्यपि कभी प्रगटरूपसे प्रवर्तमानमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हुई है, किन्तु जिसके वचनसे विचारयोगसे शक्तिरूपसे केवलज्ञान है,—ऐसा स्पष्ट जाना है;"—स्वसन्मुख होने से पर्यायमें ऐसा ख्याल आया है। शक्तिरूपसे है तो पर्यायमें केवलज्ञान होगा और श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ है। मेरा केवलज्ञान अल्पकालमें प्रगट होगा—ऐसा विश्वास आया है। विचारदशासे इतना निःशंक ज्ञान

हुआ है कि केवलज्ञान होगा ही और इच्छादशा से केवलज्ञान हुआ है। इच्छा वर्तती है कि अल्पकालमें केवलज्ञान प्रगट करूंगा। मेरा आत्मा केवलज्ञान शक्तिसे भरपूर है। पहले केवलज्ञान शक्ति नहीं मानी थी; अब माना कि केवलज्ञान बाहरसे नहीं आयेगा, किन्तु मुझमें से ही आयेगा—इसप्रकार श्रद्धासे केवलज्ञान वर्तता है; मुख्य (–निश्चय) नयके हेतुसे केवलज्ञान वर्तता है। वर्तमान पर्यायको गौण करके द्रव्यार्थिकनयसे शक्तिरूप केवलज्ञान सहित वर्तता है।

यह मोक्षतत्त्वकी यथार्थ प्रतीति है। जिसे मोक्षकी प्रतीति नहीं है उसे सम्यग्दर्शन नहीं है। और लोग दुःख दूर होने को सिद्धदशा हुई कहते हैं। किन्तु दुःख दूर होना वह तो नास्तिकी बात कही, किन्तु अस्ति क्या है ? लोकालोकका जानना वह व्यवहारसे बात की, किन्तु निश्चय क्या है ? मेरा ज्ञानस्वभाव मुझसे है, अपने ही आश्रयसे केवलज्ञान प्रगट होता है ऐसी प्रतीति नहीं है; वह भीतर ही भीतर कुछ भेद विकार या रागके आश्रयसे धर्म मानता है। रागसे संवर निर्जरा और मोक्षतत्त्व नहीं है; नवतत्त्वों को स्वतंत्र न माने तो सच्ची श्रद्धा नहीं है।

पुनश्च, उसका ऐसा भी अभिप्राय है कि स्वर्गमें जो सुख है उससे अनन्तागुना मोक्षमें है। किन्तु स्वर्गका सुख तो रागयुक्त है और वीतरागी सुख अनाकुल है; दोनों की जाति भिन्न है—ऐसा उसे भान नहीं है। स्वर्ग और मोक्षके सुखको एक जाने तो भूल है। आत्मा सहजानन्द मूर्ति है, उसकी प्रतीति और लीनतासे सुखदशा होती है। संसार सुखकी अपेक्षा मोक्षमें अनन्तागुना सुख माने वह मिथ्यादृष्टि है। स्वर्ग के सुख तो विषयादि सामग्री जनित होते हैं;

वे आत्मजनित सुख नहीं हैं। वहाँ बाग-बगीचे, हाथी-घोड़े, हीरे-जवाहिरात आदि अनुकूल संयोगों को सुख मानता है, किन्तु उसे आत्माके सुखका आभास नहीं है। अज्ञानी जीव कहता है कि मोक्षमें शरीर इन्द्रियें लाड़ी, वाड़ी, पैसा, गाड़ी आदि कुछ भी नहीं है तो वहाँ कैसा सुख ?—ऐसी 'उसकी' मान्यता है। और कोई-कोई कहते हैं कि भगवान तीनकाल तीनलोकके नाटक देखते हैं, इसलिये उन्हें महान आनन्द है।—ऐसे जीवों को मोक्षके स्वरूपकी खबर नहीं है। अपनी पर्यायमें पूर्ण आनन्द प्रगट हो वह मोक्ष है। जैसी परिपूर्ण शक्ति है वैसी परिपूर्णता पर्यायमें प्रगट होना वह मोक्ष है;—ऐसी उसे खबर नहीं है। किन्तु महापुरुष मोक्षको स्वर्गसे उत्तम कहते हैं; इसलिये अज्ञानी मोक्षको उत्तम मानता है। जैसे—कोई संगीतके स्वरूपको न जाने, किन्तु सारी सभाको प्रशंसा करते देख स्वयं भी प्रशंसा करने लगे; उसीप्रकार अज्ञानी मोक्षको उत्तम मानता है।

प्रश्नः—शास्त्रोंमें भी ऐसी प्ररूपणा है कि—इन्द्रोंकी अपेक्षा सिद्धोंको अनन्तागुना सुख है, उसका क्या कारण ?

उत्तरः—यहाँ तो जिसे मोक्षतत्त्वकी पहिचान नहीं है उसकी बात चल रही है। जिसप्रकार तीर्थंकरके शरीरकी प्रभा सूर्यके तेजसे करोड़गुनी कही है; किन्तु वहाँ उसकी एक जाति नहीं है। भगवान के उत्कृष्ट पुण्यप्रकृति और परमोदारिक शरीर है; सूर्यका जो विमान दिखाई देता है वह पृथ्वीकाय है। तीर्थंकरके पंचेन्द्रिय शरीर हैं; इसलिये पुण्यप्रकृति महान है। किन्तु लोकमें सूर्यप्रभाका माहात्म्य है; उससे भी अधिक माहात्म्य बतलाने के हेतु उपमा दी है। तीर्थंकर के केवलज्ञान की क्या बात ! उनकी पुण्यप्रकृति भी लोकमें

अद्वितीय है। पूर्वकालमें तीर्थंकर नाम कर्मका बन्ध किया है, उसके निमित्तसे अद्भुत शरीर है। भक्तामर स्तोत्रमें आता है कि—हे नाथ! जगतमें जितने भी शांत परमाणु हैं; वे सब आपके शरीरमें आकर परिणमित हुए हैं।—ऐसा सुन्दर और शांत है उनका शरीर। गौतमस्वामी ने ज्यों ही समवशरणमें प्रविष्ट किया कि भगवानको देखकर उनका मान गल गया; वहाँ भगवान निमित्त कहलाते हैं। इस दृष्टान्तके अनुसार सिद्धके सुखको इन्द्रादिके सुखकी अपेक्षा अनन्तागुना कहा है। वहाँ उसकी एक जाति नहीं है; किन्तु लोग मानते हैं, इसलिये उपमालंकारसे ऐसा कहा है। महिमा बतलाने के लिये ऐसा कहा है। जिनके अन्तरसे आत्माका सुख प्रगट हुआ है, ऐसी जाति अन्यत्र नहीं हो सकती।

प्रश्नः—सिद्धके और इन्द्रादिके सुखको वह एक ही जातिका मानता है;—ऐसा निश्चय आपने कैसे किया?

उत्तरः—धर्मके जिस साधनसे वह स्वर्ग मानता है उसी साधन से मोक्ष मानता है; इसलिये उसके अभिप्रायमें स्वर्ग और मोक्षकी एक ही जाति है। लोग कहते हैं कि व्यवहार करोगे तो एक दिन बेड़ा पार हो जायेगा। तो क्या राग करते–करते धर्म होता है? नहीं; बाह्य लक्ष छोड़े बिना कभी निश्चय प्रगट नहीं होता। तुम शुभराग की क्रिया से स्वर्ग मानते हो और उसी क्रियासे मोक्ष भी मानते हो; इसलिये तुम्हें मोक्षकी खबर नहीं है। जो व्यवहारसे मोक्ष मानता है वह मूढ़ है; उसे मोक्ष–जातिकी खबर नहीं है। अनशनादिक करने, णमोकार गिनने आदि से धर्म होगा ऐसा मानता है। अन्जन चोरने अपने आत्माके आश्रयसे सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था, तब पूर्वमें किये गये णमोकार मंत्रके शुभराग पर उपचार दिया

है। जिस भावसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है उससे मोक्ष माने वह मिथ्यादृष्टि है। जो जीव निश्चयदशा प्राप्त करता है, उसके पूर्व-कालीन शुभरागको व्यवहार कहा है। अंजन चोरने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, उसका आरोप णमोकार मंत्र पर दिया है। नवमें ग्रैवेयक जानेवाले मिथ्यादृष्टि मुनिने अनेकोंबार नमस्कार मंत्र गिना है; उसपर क्यों आरोप नहीं आता ?—तो कहते हैं कि उसे निश्चय प्रगट नहीं हुआ। इसलिये अभेद दृष्टि करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, तब अंजन चोरके व्यवहारके एक अंश पर आरोप करके कहते हैं कि अंजनचोरने नमस्कार मंत्रसे धर्म प्राप्त किया; किन्तु अज्ञानी जीव तो मानता है कि बाह्यक्रिया और शुभरागसे मोक्ष होता है, वह मोक्षतत्त्वको नहीं जानता इसलिये अरिहन्तको भी नहीं जानता।

× × ×

[वीर सं० २४७९ चैत्र कृष्णा १२ गुरुवार ता० १२-३-५३]

सिद्धचक्र विधान होता है उसमें जड़की क्रिया स्वतंत्र होती है, वह आत्मासे नहीं हुई है। नैमित्तिक क्रिया हो, तब आत्माकी इच्छा और योगको निमित्त कहते हैं। जड़ और चेतन दोनों भिन्न होने पर भी ऐसा मानना कि दोनों एकत्रित होकर कार्य करते हैं वह भ्रान्ति है। उपादान-निमित्त दोनों निश्चित हैं, और दोनों अपने-अपने निश्चय हैं। उपादानकी पर्याय निश्चय है और निमित्तकी पर्याय भी निश्चय है। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपेक्षासे निश्चय है। दूसरे पदार्थ के साथके सम्बन्धको व्यवहार कहा जाता है।

प्रश्नः—हम स्वर्गसुख और मोक्षसुखको एक मानते हैं—ऐसा आप क्यों कहते हैं ?

उत्तरः—जिस परिणामसे स्वर्ग मिलता है उसी परिणाम से मोक्षकी प्राप्ति होती है—ऐसा तू मानता है, इसलिये तेरे अभिप्राय में स्वर्ग और मोक्षकी एक ही जाति है। व्यवहार करने से बेड़ा पार हो जायेगा—ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु कारणमें विपरीतता है इसलिये कार्यमें भी विपरीतता है। अज्ञानी जीव यथार्थ कारणको नहीं मानता। अधिक पुण्य करोगे तो वह बढ़ते-बढ़ते मोक्षकी प्राप्ति हो जायेगी—ऐसा माननेवाला मूढ़ है, वह मोक्षको नहीं मानता। जिस कारणसे बन्ध होता है उसे मोक्षका कारण मानना वह भूल है।

पुनश्च, जड़ कर्मका उदय है इसलिये जीवको संसारमें रुलना पड़ता है ऐसा नहीं है। कर्मके निमित्त जुड़ने से अपनी पर्यायमें जो औदयिकभाव है वह असिद्धभाव जीवका स्वतत्त्व है।—उसका भेदज्ञानरूप भाव अज्ञानीको भासित नहीं होता। भावमोक्ष अपनी पर्यायमें होता है। कर्मोंका दूर होना वह अपना भाव नहीं है। कर्मोदयमें जुड़ने से औदयिकभाव होता है वह स्वतंत्र स्वतत्त्व है। केवली भगवानको भी अपनी पर्यायमें कुछ गुणोंमें—कर्ता, कर्म, करण आदि तथा वैभाविक क्रियावती, योगादि में—विभावरूप परिणमन है; इतना उदयभाव है—वह मलिनता स्वतत्त्व है इसलिये सिद्धदशा को प्राप्त नहीं होते। असिद्धत्व अपनी पर्यायका दोष है। तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धाके बिना दर्शन, ज्ञान, चारित्र सब विपरीत होता है।

चौदहवें गुणस्थान तक अपने कारण औपाधिकभाव है। अपनी नैमित्तिक पर्यायमें मलिनता है; उसका अभाव होकर सिद्धदशा होती है। वहाँ भी कर्म तो निमित्तमात्र है और अपनी पर्यायमें नैमित्तिकता अपने कारण है। वहाँ जीव स्वयं रुका है, इसलिये द्रव्य मोक्ष नहीं

होता। उपाधिभावका सर्वथा अभाव पूर्वक प्रगट दशामें पूर्ण शुद्ध-स्वभावरूप आत्मा होने से द्रव्यमोक्ष होता है। इसप्रकार मोक्षतत्त्व का भास होना चाहिये। जिसप्रकार स्कन्ध में से छूटने के समय परमाणु शुद्ध होते हैं उसीप्रकार आत्मा कर्म विपाकसे भिन्न होने पर शुद्ध होता है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्त-वीर्यादिरूप आत्मा होता है। मोक्ष लक्षण है और अरिहन्त–सिद्ध लक्ष्य हैं। जिसे मोक्षके भावका भास नहीं है उसे अरिहन्त–सिद्धकी श्रद्धा विपरीत है। यथार्थ निर्णय करे तो सम्यग्दर्शन होता है।

दृष्टान्तः—स्कन्धसे परमाणु पृथक् हो जाये तो शुद्ध है, किन्तु विशेषता यह है कि परमाणु स्कन्धमें हो तो दुःखी नहीं है और पृथक् हो तो सुखी नहीं है। उसे सुख–दुःख नहीं है। आत्मा अशुद्ध-दशाके समय दुःखी और शुद्धदशाके समय सुखी है।—इतना परमाणु और आत्माके बीच अन्तर है। औपाधिकभाव संसार है और उसका अभाव होना मोक्ष है; वहाँ निराकुल लक्षणवाले अनंत सुखकी प्राप्ति होती है। और इन्द्रादिकको जो सुख है वह तो आकुलताजनित सुख है; परमार्थतः वे भी दुःखी हैं। अपने स्वभावसे च्युत होकर पैसादि में सुख माने वह दुःख है। रोगमें दुःख नहीं है और निरोगतामें सुख नहीं है। आकुलताजन्य परिणामोंका होना वह दुःख है; इसलिये देवादि परमार्थतः दुःखी हैं। यही कारण है कि उनके और सिद्धके सुखकी एक जाति नहीं है। पुनश्च, स्वर्गसुख का कारण तो प्रशस्त राग है और मोक्षसुखका कारण वीतरागभाव है—इसप्रकार कारणमें फेर है। अज्ञानीको सात तत्त्वोंकी श्रद्धाकी खबर नहीं है; श्रद्धाके बिना धर्म नहीं होता। दया, दान, यात्रा,

भक्ति आदि में धर्म है ? नहीं, चारित्र वह धर्म है और धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है। मूल के बिना वृक्ष या शाखाएँ हो सकती हैं ?—नहीं हो सकतीं।

अज्ञानी को तत्त्वार्थश्रद्धान नामनिक्षेप से है।

अज्ञानी जीवको नवतत्त्वोंकी विकल्प सहित श्रद्धा हुई किन्तु भावभासन नहीं हुआ, इसलिये मिथ्यादर्शन ही रहता है। अभव्यको तत्त्वार्थ श्रद्धान है वह नाम निक्षेपसे है, किन्तु उसे यथार्थ तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं समझना, क्योंकि उसके भावका भासन नहीं है। अभव्यको जीवादिका श्रद्धान है किन्तु भावभासन नहीं है, अथवा भाव निक्षेपसे नहीं है द्रव्य, गुण, पर्याय स्वतंत्र हैं—ऐसा भासन उसके नहीं है।

श्री प्रवचनसारमें कहा है कि—"आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थ श्रद्धान कार्यकारी नहीं है।" वहाँ जो तत्त्वश्रद्धान कहा है वह नाम निक्षेपसे है। रागरहित तत्त्वश्रद्धानकी वहाँ बात नहीं है तत्त्वार्थोंका जैसा भाव हो वैसा ही भासन होना वह तत्त्वार्थश्रद्धान है। रागका अवलम्बन छूटकर एक आत्मामें नवों तत्त्वोंके भावका भासन होना वह सम्यग्दर्शन है। ज्ञान भेद करके जानता है, तथापि उसमें रागका अवलम्बन नहीं है। अभेदके अवलम्बनसे सम्यग्दर्शन होता है।

सविकल्प और निर्विकल्प भेदज्ञान

भेदके अर्थ निम्नानुसार चार प्रकार से हैं:—

(१) आत्मामें दर्शन–ज्ञान–चारित्रके भेद करना भी भेद है–व्यवहार है। वह बंधका कारण है, धर्मका नहीं।

(२) आत्मा शरीर से भिन्न है, कर्मसे भिन्न है।—ऐसे

विकल्पसहित भेद करना सो भेदज्ञान है, किन्तु वह रागसहित है। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व ऐसा विकल्पमय भेदज्ञान होता है।

(३) रागका अभाव होकर स्वभावमें एकाग्र होना वह निर्विकल्प भेदज्ञान है उसमें परसे पृथक् होनेकी अपेक्षासे भेदज्ञान कहा है, तथापि वह निर्विकल्प है।

(४) तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन—यह चौथी बात है। ज्ञान सब को जान लेता है, तथापि वहाँ राग नहीं है। वह निर्विकल्प भेदज्ञानमें आजाता है, तथापि अपेक्षामें अंतर है। अपना भावभासन होने पर उसमें सात तत्त्वोंका भावभासन आजाता है। यहाँ, अपने स्व-पर प्रकाशक ज्ञानसामर्थ्यसे स्व को जानते हुए सातों तत्त्वोंको जान लेता है, तथापि वहाँ राग नहीं है; इस अपेक्षासे निर्विकल्प भेदज्ञान है। अपने ज्ञानका स्वभाव ऐसा है कि स्व-परको भेद करके जानता है, तथापि वह निर्विकल्प भेदज्ञान है। सातों तत्त्व भेदरूप हैं—ऐसे भावका भासन एक आत्मामें होना वह निर्विकल्प भेदज्ञान है।—ऐसा यहाँ और तत्त्वार्थसूत्र में कहा है।

श्री "समयसार नाटक" में सविकल्प भेदज्ञान और निर्विकल्प भेदज्ञान की बात आती है। वहाँ प्रथम सविकल्प भेदज्ञानको उपादेय कहा है। फिर तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। उसमें निर्विकल्प भेदज्ञान की बात है। नवतत्त्वों की परिपाटी नहीं है अर्थात् नव के विकल्प नहीं है। मोक्षशास्त्र में जो तत्त्वार्थ श्रद्धान कहा है वह एकरूप भाव है, वहाँ विकल्प नहीं है। समयसार में नवतत्त्वों की परिपाटी छोड़कर, एक आत्मा प्राप्त होओ—ऐसा जो कहा है, वहाँ रागसहित नवतत्त्वों की बात है।

एक रूप ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति सो सम्यग्दर्शन है। पर्याय में सात तत्त्वों के भाव का भासन होना वह सम्यग्ज्ञान है। वैसे सम्यग्ज्ञान सहित सम्यग्दर्शन की यहाँ मोक्षमार्ग प्रकाशक में तथा तत्त्वार्थ सूत्रमें बात है। सात तत्त्वोंका भासन होना वह ज्ञान प्रधान कथन है। ज्ञान सात को यथार्थ जानता है तथापि उसमें राग नहीं है। तीसरे बोल में विकल्प रहित भेदज्ञान कहा वह बात पर से भेद करने की अपेक्षा से है और चौथे बोल में अपने ज्ञान के सामर्थ्य से सातों तत्त्वों का भासन होता है वह एकरूप है। समयसार में सम्यग्दर्शन की व्याख्या दर्शन प्रधानसे है। मिथ्या रुचि वाला जीव व्यवहार से सम्यग्दर्शन के निःशंकित, निःकांक्षित आदि आठ अंग का पालन करता है, किन्तु वह तो शुभ राग है, धर्म नहीं है। आठ अंगों का पालन करे तथापि व्यवहाराभासी है।

× × ×

[वीर सं० २४७९ चैत्र कृष्णा १३ शुक्रवार, ता० १३-३-५३]

सम्यग्दर्शन के बिना अकेला व्यवहार व्यर्थ है।

जिसे कुदेवादि की श्रद्धा है और व्यवहार से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की खबर नहीं है वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है। जो सर्वज्ञदेव, निर्ग्रंथ गुरु, और अनेकान्त बतलानेवाले शास्त्र की श्रद्धा करे तथा कुदेवादि की श्रद्धा छोड़े, उन्हें माननेवाले की श्रद्धा छोड़े, आठ मद न करे, आठ आचार पाले और देव-गुरु-लोकमूढ़ता—ऐसे पच्चीस मलों का त्याग करे, तो भी उसके वह राग है, राग है वह पुण्य है धर्म नहीं है। जिसके पच्चीस दोषों का त्याग नहीं है वह तो गृहीत

२०

मिथ्यादृष्टि है यहाँ तो कहते हैं कि जिसके गृहीत मिथ्यादर्शन दूर हुआ है, किन्तु अंतर्स्वभाव का भाव नहीं है वह शुभोपयोगयुक्त होने पर भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। व्यवहारसे पच्चीस दोष दूर करनेपर भी उसे यथार्थ तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं है। तत्त्वार्थश्रद्धान में भावभासन होना चाहिये। पुनश्च, सवेगादि धारण करे, अप्सराओं के आने पर भी चलित न हो, भगवान की भक्तिके लिये सिर भी दे दे,—तथापि वह शुभ राग है। किन्तु जिस प्रकार बीज बोये बिना, खेत की सावधानी पूर्वक सँभाल करने पर भी अनाज नहीं होता; (—खेत की सफाई करे किन्तु बीज न बोये तो फसल नहीं हो सकती) उसी प्रकार पच्चीस दोषों का त्याग करे, संवेगादि का पालन करे, वह क्षेत्र शुद्धि है; तथापि आत्मभानरूपी बीज के बिना मात्र क्षेत्रशुद्धि व्यर्थ है। उस व्यवहार–आचार का फल संसार है, जो कुदेवादि को मानता है उसके तो क्षेत्रशुद्धि भी नहीं है। सर्वज्ञ कथित मार्ग ही सच्चा मार्ग है—ऐसा मानता है, किन्तु सम्यग्दर्शनरूपी बीज के बिना कोई लाभ नहीं हो सकता। जिसे केवलज्ञान में शंका है; महाविदेहक्षेत्र की शंका है, असंख्य द्वीप–समुद्र होंगे या नहीं?—ऐसी शंका है, उसे आगमकी श्रद्धा नहीं है; वह तो व्यवहाराभासियों में भी नहीं आता। मैं ज्ञायक हूँ—ऐसे भानपूर्वक राग हो, उसके राग को व्यवहार कहते हैं। जो वीतराग सर्वज्ञ कथित धर्म तथा वेदान्तादि को समान माने वह तो मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्नः—मध्यस्थ बुद्धि रखे तो?

समाधानः—विष्टा और हलुवामें मध्यस्थ बुद्धि रखे तो? सर्वमत में समान भाव अर्थात् उन्हें एक मानना वह मूर्खता है। मिथ्यामतोंका

सर्वज्ञ वीतराग कथित मार्ग के साथ समन्वय नहीं हो सकता किन्तु जो दोनों को यथावत् जानता है वह मध्यस्थ है। दर्पणके समक्ष जैसे २ पदार्थ होंगे उन्हें वैसा ही वह बतलाता है; उसी प्रकार जैसे २ पदार्थ हैं वैसा ही ज्ञान उन्हें जानता है। दर्पण की स्वच्छ अवस्था अपने कारण होती है, उसी प्रकार चैतन्य दर्पणमें विरुद्ध वस्तुयें ज्यों की त्यों दिखाई देती हैं। किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति द्वेष नहीं है। और जिसे व्यवहार सुधारने पर भी परमार्थका भान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है।—इसप्रकार सम्यग्दर्शन में क्या भूल करता है वह बतलाई है। अब बतलाते हैं कि—ज्ञान में क्या भूल करता है।



७

सम्यग्ज्ञानके हेतु होने वाली प्रवृत्तिमें अयथार्थता

शास्त्रोंमें शास्त्राभ्यास करने से सम्यग्ज्ञानका होना कहा है, इसलिये शास्त्राभ्यासमें तत्पर रहता है। अपनी ज्ञानपर्याय शास्त्र में से आती है ऐसा मानता है। शास्त्र पुद्गल है, अजीव है, मूर्त है। शास्त्रके अभिप्रायकी अज्ञानीको खबर नहीं है। शास्त्र रट-रटकर मरा जाता है किन्तु शास्त्रोंके आशयकी खबर नहीं है, वह कोरा शास्त्र पाठी है। ज्ञानगुण में से ज्ञान पर्याय आती है उसकी उसे खबर नहीं है। मुझे देशनासे लाभ होगा—ऐसा मानता है। अज्ञानी जीव मात्र शास्त्राभ्यास में लीन—तत्पर रहता है। ज्ञानी शास्त्राभ्यास करते हैं किन्तु मात्र शास्त्राभ्यासमें लीन नहीं हैं, उनके आत्माभ्यासमें लीनता वर्तती है। अज्ञानी शास्त्राभ्यास करे, सीखे, दूसरेको सिखलादे, याद करले, किन्तु प्रयोजनकी खबर नहीं है। राग क्या है? वीतरागभाव क्या है? जड़की क्रिया क्या है? उसकी उसे खबर नहीं है। अज्ञानी कहता है कि—ऐसे निमित्त मिलाओ, ऐसी क्रिया करो, इत्यादि! किन्तु उसे खबर नहीं है कि—मैं तो ज्ञाता हूँ सब निश्चित् है। आत्मामें जानने का स्वभाव निश्चित है और ज्ञेय भी निश्चित है—ऐसा वह नहीं जानता। अज्ञानी जीव शास्त्र पढ़ने–जानने में ही लगा रहता है, किन्तु शास्त्रोंकी पर्याय उनके अपने कारण निश्चित है और

अपनी पर्याय अपने कारण निश्चित है—ऐसा उसे भान नहीं है। शास्त्र सीखने का उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। शास्त्र पढ़कर वाद-विवाद करे वह अंधा है। पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि—

"सद्गुरु कहै सहजका धंधा, वादविवाद करै सो अन्धा"
"खोजी जीवै वादी मरै।"

सत्यकी शोध करनेवाला धर्मजीवन प्राप्त करेगा और वाद-विवाद करनेवाला संसारमें भटकेगा। शास्त्रोंका प्रयोजन तो अपने ज्ञान स्वभावका निर्णय करना है, वह नहीं करता। "आदि पुराण" में कहा है कि तत्वज्ञानके बिना मात्र शास्त्र पढ़े वह अक्षरम्लेक्ष है।

शास्त्र कहते हैं कि प्रथम दृष्टि बदलना चाहिये। पर्यायज्ञान होना आवश्यक है। जो पर्याय मात्र परका ज्ञान करती वह बदलकर स्व का ज्ञान करे वह पर्यायज्ञान है। यह ज्ञान सामर्थ्यकी बात है। श्रुतज्ञानकी स्व-पर प्रकाशक पर्याय हो वह सच्ची है। जो पर्याय राग में अटके वह पर्यायज्ञान नहीं है ज्ञानपर्याय एक समय में स्व-परको जाननेकी शक्तिवाली है,—ऐसा न मानकर मात्र रागको अथवा पर को जाने वह पर्यायज्ञान नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने पर्यायज्ञान शब्दका उपयोग किया है। पर्यायमें स्व-पर प्रकाशक ज्ञान सम्यक् प्रगट न हो, तबतक पर्यायज्ञान सच्चा नहीं है। ज्ञान पर्यायका स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। "समयसार" गाथा १५ में कहा है कि—भावश्रुतज्ञान पर्याय स्वसहित परको जानती है,—ऐसा जो न जाने वह मिथ्यादृष्टि है।

शास्त्राभ्यास अपने ज्ञानलाभके लिये है, मात्र दूसरोंको सुनाने के लिये नहीं।

अज्ञानी शास्त्र पढ़ लेता है, किन्तु यह नहीं जानता कि उनका क्या प्रयोजन है। शास्त्राभ्यास करके अपने में स्थिर होना शास्त्रोंका प्रयोजन है; उसे सिद्ध न करे और दूसरों को सुनानेका अभिप्राय हो अथवा यह अभिप्राय रखे कि व्याख्यान-शैली सुधर जायगी, तो वह मिथ्यादृष्टि है। वहाँ दूसरों को उपदेश देने का अभिप्राय है।—जैसे किसी को बड़ी निधि-लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाये, तो उस बात की वह बाह्यमें घोषणा नहीं करता, तथापि उसका व्यय देखकर धनवान-पनेकी प्रतीति हो जाती है; उसीप्रकार जिसे आत्माका भान हो तो वह छिपा नहीं रहता। अज्ञानी तो दुनिया को समझाने जाते हैं और मानते हैं कि बहुत से लोग समझ जायें तो ठीक हो। करोड़ों लोग मानने लगें तो अपनी बात सच्ची है—ऐसा वे मानते हैं। बहुत से लोग उन्हें मानने लगें तो सन्तुष्ट होते हैं। क्या बहुत से लोग मानने लगें तो अपने को लाभ है? और कोई न माने तो हानि है? नहीं, ऐसा नहीं है। सामनेवाले जीव अपने कारण धर्म प्राप्त करते हैं और अपने में धर्म होता है वह अपने कारण होता है। अपने को राग होता है, किन्तु राग से पर को या अपने को लाभ नहीं है। अपनी पर्याय से अपने को लाभ-हानि है; पर की पर्याय से अपने को किंचित् लाभ-हानि नहीं है—ऐसी उसे खबर नहीं है।

उपदेश देने से अच्छा आहार आदि मिलेगा और अनेक सुविधाएँ प्राप्त होंगी—ऐसी दृष्टि मिथ्या है; उसकी दृष्टि आत्मा पर नहीं है।

दूसरे की पर्याय अपने से नहीं होती। ज्ञानाभ्यास तो अपने लिये किया जाता है; विकल्प के समय वाणी निकलना हो तो निकलती है और उसका निमित्त पाकर पर का भला होना हो तो होता है; किन्तु अपने उपदेशसे पर जीव धर्म प्राप्त करता है—ऐसी मान्यता मिथ्या है।

दूसरे लोग उपदेश सुनें उससे इस आत्मा को लाभ नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान की निर्मलता से अपने को लाभ है। कोई न सुने और न समझे तो विवाद किस लिये करता है ? अनन्त तीर्थंकर हो गये हैं किन्तु सब को मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ। सब अपनी २ योग्यता से समझते हैं; इसलिये पर की आवश्यकता नहीं है। शास्त्रों का भाव समझकर अपना भला तो करता नहीं है और मात्र शास्त्रोंमें ही तत्पर रहता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

× × ×

[वीर सं० २४७९ चैत्र कृष्णा १४ शनिवार ता० १४–३–५३]

शास्त्र पढ़ने का प्रयोजन

अनादिकालसे अज्ञानी जीव यथार्थ तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं करता। वह ज्ञान में क्या भूल करता है ?—वह बतलाते हैं। शास्त्र पढ़ जाता है, किंतु आत्मा परद्रव्य से भिन्न है—ऐसी प्रतीति करना शास्त्र पढ़ने का प्रयोजन है वह नहीं करता। दया पालन में धर्म मानने को शास्त्र नहीं कहते। शास्त्रों का प्रयोजन वीतरागता है उसे वह नहीं समझता।

अपना आत्मा जड़ की क्रिया और शुभाशुभ विकार से रहित शुद्ध है—ऐसी प्रतीति करना चाहिये, किन्तु उस प्रयोजन को वह सिद्ध नहीं करता। कुछ लोग न्यायशास्त्र और व्याकरणादि में बहुत-

सा समय व्यतीत कर देते हैं किंतु उसमें आत्महितका निरूपण नहीं है। इनका प्रयोजन तो अपने में अधिक बुद्धि हो और समय भी हो तो उसका अभ्यास करना चाहिये, किन्तु अल्प बुद्धि हो और मात्र व्याकरणादि में रुका रहे तो आत्म हित नहीं हो सकता। पुनश्च, कुछ लोग कहते हैं कि 'अष्टसहश्री' आदि में छायावाद भरा पड़ा है, अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर प्रभाव डालता है; किन्तु यह बात सच्ची नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर कभी प्रभाव नहीं डालता; किन्तु एक में कार्य,हो उस समय जिसपर अनुकूलता का आरोप आता है ऐसे दूसरे पदार्थ को निमित्त कहा जाता है।

यहाँ कहते हैं कि न्याय-व्याकरण, काव्यादि शास्त्रों में आत्म-हित का निरूपण नहीं है। उनका प्रयोजन इतना है कि अपनी बुद्धि बहुत हो तो उनका थोड़ा-बहुत अभ्यास करके फिर आत्महितसाधक शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये।

संस्कृत आदि जानता हो तभी न्यायको समझ सकता है—ऐसा नहीं है। यहाँ कहते हैं कि अपने में बुद्धि अधिक हो तो संस्कृत आदि सीखना चाहिये और फिर सत्समागम से द्रव्यानुयोग के शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये; बुद्धि अल्प हो तो आत्महित साधक सरल शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये। आत्मा स्वयं ज्ञायकस्वभावी है, पर्याय में दया–दानादि के परिणाम होते हैं वह विकार है; स्वयं विकार रहित है उसका निर्णय सुगम शास्त्र द्वारा करना चाहिये। मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि सुगम शास्त्र हैं, उनका अभ्यास करना चाहिये। संस्कृत व्याकरण आदि पढ़ते-पढ़ते आयु पूर्ण हो जाये ऐसा नहीं करना,—प्रयोजनभूत विषय का ही अभ्यास करना चाहिये।

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति न हो सके—ऐसा नहीं करना चाहिये। यहाँ तत्त्वज्ञान शब्द लिया है क्योंकि तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है। सातों-तत्त्व भिन्न भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये।

दया-दानादि के परिणाम चैतन्य के परिणाम हैं। पर्याय दृष्टि से जीव के साथ उनका अनित्यतादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्य दृष्टि से वे जीव के नहीं हैं, क्योंकि जीव में से निकल जाते हैं;—ऐसा समझना चाहिये। ऐसा न समझे तो व्याकरणादि का अभ्यास व्यर्थ है।

प्रश्नः—तो क्या व्याकरणादि का अभ्यास नहीं करना चाहिये ?

समाधानः—भाषामें भी प्राकृत, संस्कृतादि के ही शब्द हैं; वे अपभ्रंश सहित हैं; भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न भाषा है। महान पुरुष अपभ्रंश क्यों लिखते ? बालक तो तोतली बोली बोलता है, किन्तु बड़े तो नहीं बोलते। और कानड़ी भाषा वाले हिन्दी भाषा नहीं समझ सकते; एक-दूसरे की भाषा नहीं समझते, इसलिये आचार्यों ने प्राकृत संस्कृतादि शुद्ध शब्द रूप ग्रन्थों की रचना की; तथा व्याकरण बिना शब्दों का अर्थ यथावत् भासित नहीं होता और न्याय के बिना लक्षण परीक्षा नहीं हो सकती। व्याकरण के बिना अर्थ नहीं जाना जाता इसलिये अभ्यास करने को कहा है। भाषा में भी थोड़ी बहुत आम्नाय का ज्ञान होते ही उपदेश हो सकता है; किन्तु उनकी अधिक आम्नाय से बराबर निर्णय हो सकता है।

ज्ञानादि जीवका स्वभाव है रागादि पर्याय में होते हैं; किन्तु वे आत्मामें से निकल जाते हैं इसलिये जीव का स्वरूप नहीं है। प्रत्येक की परिणमन शक्ति स्व से है पर से नहीं है। पानी है, वह अपने

कारण उष्ण होता है तब अग्नि को निमित्त कहा जाता है।—ऐसे न्याय सादी भाषामें भी लिखे हों तो प्रयोजन समझ में आ जाता है। अग्नि और पानी के परमाणु में अन्योन्य अभाव है। अग्नि पानी का स्पर्श नहीं करती। अज्ञानी मानता है कि अग्नि आई इसलिये कपड़े जल गये—यह बात मिथ्या है। कपड़े उनके अपने कारण जलते हैं उसमें अग्नि निमित्त है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये व्यवहार कहा है। व्यवहार से कहा जाता है कि गुरु से ज्ञान हुआ, किन्तु एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय का स्पर्श नहीं करती। क्योंकि स्व–चतुष्टय में पर–चतुष्टय का त्रिकाल अभाव है प्रत्येक द्रव्य अपने अपने अनन्त गुणों का और अपनी पर्यायों का स्पर्श करता है, किन्तु परद्रव्य की पर्याय का कभी स्पर्श नहीं करता।—यह महान न्याय है; समयसार गाथा ३, की टीका में यह कहा है।

प्रत्येक आत्मा और परमाणु स्वतंत्र हैं; वे अपने धर्मों का स्पर्श करते हैं; किन्तु परस्पर एक-दूसरे का स्पर्श नहीं करते। वस्त्रका प्रत्येक परमाणु अपने अपने अस्तित्वादि गुणों का स्पर्श करता है, किन्तु अग्नि के परमाणु का स्पर्श नहीं करता। एक परमाणु दूसरे परमाणुका स्पर्श नहीं करता वही प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। संयोग आये तो परिणमन हो—इस दृष्टि में भूल है। प्रत्येक आत्मा और परमाणु अपनेमें स्व–शक्तिसे ही परिणमित होता है इसलिये लोकमें छहों द्रव्य सर्वत्र सुन्दर है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका स्पर्श नहीं करता। कर्म अनन्त परमाणुओंका स्कन्ध है; वह कभी आत्माका स्पर्श नहीं करता। कर्म का उदय जड़ है, वह आत्मा का स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य दूसरे का कुछ करता है ऐसा जो मानता है वह अपनी दृष्टि बिगाड़नेवाला है।

आत्मा पर जड़ कर्म का प्रभाव नहीं है।

प्रश्नः—कर्म का प्रभाव तो पड़ता है न ?

उत्तरः—प्रभाव का अर्थ क्या ? एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में प्रवेश होता है ? नहीं होता। एक-दूसरे में एक-दूसरे की छाया नहीं पड़ती। एक परमाणु दूसरे परमाणु में जाता है ? रूपी परमाणु अरूपी आत्मा का स्पर्श करता है ? नहीं; कर्म का प्रभाव आत्मा में मानना वह मूल में भूल है। अज्ञानी को सच्ची बात सुनने में भी प्रमाद आता है। बालक और अज्ञानी सब कहते हैं कि कुम्हारके कारण घड़ा बनता है। पण्डित कहते हैं कि निमित्त आये तो घड़ा बनता है और कुम्हार भी कहता है कि मैं आया इसलिये घड़ा बना; इस अपेक्षा से दोनों समान हैं। कुम्हार को घड़े का कर्ता कहना वह नयाभास है। पंचाध्यायी में वह बात लिखी है। कुम्हार घड़े का कुछ नहीं करता। जब मिट्टी अपने क्षणिक उपादान के कारण घट आदि रूप परिणमित हो, तब कुम्हार को निमित्त कहा जाता है। मिट्टी में प्रदेशत्व गुण है; उसीके कारण उसकी आकार रूप अवस्था हो जाती है। उसीप्रकार आत्मा का आकार शरीर के कारण नहीं है। शरीर स्थूल बना इसलिये आत्मा का आकार स्थूल हो गया—ऐसा नहीं है। आत्मा और शरीर का आकार स्वतंत्र है। शरीर दुबला होने पर आत्मा के प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं वहाँ आत्मा अपने कारण स्वयं संकुचित होता है। चालू देश भाषा में भी ऐसे सिद्धान्त समझे जा सकते हैं।

प्रश्नः—ऐसा है तो अब सादी भाषा में ग्रन्थ क्यों रचते हो ?

समाधान:—काल दोष से जीवों की मन्द बुद्धि है। जीवों की ऐसी अपनी योग्यता है उसमें काल को निमित्त कहा जाता है। पंचमकाल है इसलिये केवलज्ञान नहीं है—ऐसा नहीं है। अपने कारण केवलज्ञान नहीं होता तब काल को निमित्त कहा जाता है। अज्ञानी समझता नहीं है और काल को दोष देता है। वह कहता है कि ज्ञानावरणीय कर्म के कारण ज्ञान-हीन हो गया है; किन्तु ऐसा नहीं है; जब अपने कारण ज्ञान को हीन बनाता है तब ज्ञानावरणीय को निमित्त कहा जाता है। ज्ञानावरणीय कर्म की पर्याय कभी ज्ञानका स्पर्श नहीं करती। प्रत्येक पदार्थ अपने में प्रतिसमय कार्य करता है। काल अचेतन है; वह दूसरे को परिणमित नहीं करता। यदि काल पर को परिणमित करता हो तो, निगोद के जीव को सिद्ध दशारूप कर देना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। निगोदिया अपने कारण निगोद दशारूप परिणमित होता है, तब काल निमित्त है। सिद्ध विराजमान हैं उस क्षेत्र में निगोदिया भी हैं; उन प्रत्येक का परिणमन स्वतंत्र है। काल ने क्या किया ? जो जीव अपने कारण जैसी अवस्था धारण करता है उसका आरोप काल पर आता है। आजकल जीव मन्दबुद्धिवाले हैं, जितना ज्ञान होगा उतना तो होगा,—ऐसे अभिप्राय से मोक्षमार्ग प्रकाशक रूप भाषा ग्रन्थ की रचना करते हैं। जो व्याकरणादि का अभ्यास नहीं कर सकते उन्हें सरल शास्त्र पढ़ना चाहिये। जो मात्र शब्दों के अर्थ के लिये व्याकरणादि पढ़ते हैं उन्हें पाण्डित्य का अभिमान है, और जो मात्र वाद-विवाद के लिये पढ़ते हैं, उन्हें लौकिक प्रयोजन है। चतुराई बतलाने के लिये पढ़े तो उसमें आत्मा का हित नहीं है। व्याकरण, न्याय आदि का हो सके उतना थोड़ा-बहुत अभ्यास करके जो आत्मा हित के लिये

तत्त्वों का निर्णय करे उसीको धर्मात्मा पण्डित जानना। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है; कोई किसीको उपकारी नहीं है—ऐसा समझना चाहिये। तत्त्वार्थसूत्र के एक सूत्र में आता है कि पुद्गल आत्मा का सुख-दुःख में उपकार करता है; उसका यह अर्थ है कि–आत्मा अपने में सुख–दुःख उत्पन्न करता है तब पुद्गल को निमित्त कहा जाता है। और कहा है कि—पुद्गल मरण में उपकार करता है। आत्मा की शरीर के साथ रहने की स्थिति पूर्ण होने पर शरीर छूट जाता है। आत्मा की स्थिति स्वतंत्र है, आयु कर्म स्वतंत्र है और शरीर की पर्याय स्वतंत्र है। कोई किसी के आधीन नहीं है। आयु कर्म पूर्ण हुआ इसलिये शरीर छूट गया ? नहीं, सब स्वतंत्र हैं।

यहाँ कहते हैं कि—जो तत्त्वादि का निर्णय करता है उसीको धर्मात्मा पण्डित जानना। द्रव्य–गुण–पर्याय सब स्वतंत्र हैं—ऐसा समझना चाहिये। ऐसा निर्णय न करे तो मिथ्यादृष्टि है।

× × ×

[वीर सं० २४७९, चैत्र शुक्ला १ सोमवार ता० १६–३–५३]

चारों अनुयोगों के अभ्यास का प्रयोजन

प्रतिमा की स्थापना आदि करता है उसे पुण्य होता है;—ऐसा निमित्त का कथन करके शास्त्र में शुभ परिणाम का वर्णन किया है; किन्तु उससे धर्म होता है ऐसा नहीं है। निर्दोष आहार करने से संवर–निर्जरा होती है और सदोष आहार से पाप लगता है,—ऐसा कोई कहे तो वह बात मिथ्या है। कोई ऐसा कहे कि—अनुकम्पा-

बुद्धि से अविरति को आहार दे वह पापभाव है—यह बात भी मिथ्या है; क्योंकि अनुकम्पा से आहार देने में तो पुण्य बन्ध होता है—इसे भी वह नहीं समझता; और चरणानुयोग में ऐसे शुभ भाव का कथन किया हो उसे धर्म माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है; उसे पुण्य–पाप के स्वरूप की खबर नहीं है।

करणानुयोग में मार्गणास्थान आदि का वर्णन किया है। वहाँ भेद से कथन होता है। उस भेद को समझकर अभेद दृष्टि करना वह करणानुयोग का प्रयोजन है। उसे न समझे और मात्र भेद में अटक जाये तो वह मिथ्यादृष्टि है। द्रव्यसंग्रह की टीका में कहा है कि–हाथ पैर की क्रिया आत्मा व्यवहार से भी तीनकाल में नहीं कर सकता। ज्ञानावरणीय कर्म के कारण ज्ञान की पर्याय रुकती है–ऐसा नहीं है। समयसार में कहा है कि चौदह गुणस्थानों का भेद से कथन किया है वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं है।

द्रव्यानुयोग का अभ्यास करके, आत्मा एकान्त शुद्ध ही है और पर्याय में विकार है ही नहीं,—ऐसा माने तो वह द्रव्यानुयोग के यथार्थ अर्थ और प्रयोजन को नहीं समझता। प्रथम आत्माका यथार्थ स्वरूप समझा हो, फिर उसे स्वरूप में विशेष स्थिरता हो तो उसे चारित्र दशा कहा जाता है। पर्याय में जो निमित्त–नैमित्तिक संबंध है उसका ज्ञान गोम्मटसार में कराया है; और द्रव्यानुयोग शास्त्र में पर्याय आदि के भेद का आश्रय छोड़कर अभेद स्वरूप का अवलम्बन करो–ऐसा कहा है। शास्त्र में ऐसा कथन आये कि—ज्ञानावरणीय कर्म से आत्मा का ज्ञान रुकता है, तो वह निमित्त का कथन है।

मोहनीयकर्म के कारण रागद्वेष होता है—ऐसा है ही नहीं। रागद्वेष में वह निमित्त मात्र है—ऐसा बतलाने के लिये वह कथन किया है। चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। जिन शास्त्रों में तीन लोक का निरूपण हो, उनका अभ्यास करता है, किन्तु उनके प्रयोजन पर विचार नहीं करता; भेदज्ञान द्वारा स्वसन्मुख अभेद दृष्टि नहीं करता, शुद्धोपयोग नहीं करता, उसे कुछ भी लाभ नहीं होता। शास्त्रों का अभ्यास करे किन्तु उनके प्रयोजन का विचार न करे तो वह मिथ्यादृष्टि है।

सिद्धचक्र की पूजा करने से कुष्ठ रोग दूर हो जाता है—ऐसा कथन शास्त्र में निमित्त से आता है; उसे कोई यथार्थ ही मान ले तो वह मिथ्यादृष्टि है, पुराणों में पुण्य-पाप के फल का कथन है, उसमें ज़ो पुण्य के फल को हितरूप अच्छा माने वह कथानुयोग का प्रयोजन नहीं समझता। और चरणानुयोग में पुण्य-पाप के परिणामका वर्णन किया है, उसमें पुण्य परिणाम से धर्म होता है—ऐसा माने तो वह चरणानुयोग के प्रयोजन को नहीं समझता। पुनश्च, करणानुयोग के अभ्यास से आत्मा का हित होता है—ऐसा जो मानता है वह करणानुयोग के प्रयोजन को नहीं समझता। आत्महित के लिये अपने अभेद स्वरूप का आलम्बन करना चाहिये ऐसा ही तीनों अनुयोगों का प्रयोजन है;—उसे नहीं समझता इसलिये मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती।

अब, तत्त्वज्ञान का कारण द्रव्यानुयोग के अध्यात्म शास्त्र हैं, उनका अभ्यास नहीं करता, यदि अभ्यास करता है तो विपरीत

करता है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि रहता है कई लोग ऐसा कहते हैं कि—समयसार शास्त्र तो मुनियों के लिये है, उच्च दशा होने पर पढ़ने योग्य है—ऐसा कहकर द्रव्यानुयोग के अभ्यास का निषेध करते हैं। और द्रव्यानुयोग का अभ्यास करके भी जो स्वानुभव का अंतर्-पुरुषार्थ नहीं करता, अपना और पर का यथार्थ निर्णय नहीं करता, आश्रवादि को यथावत् नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ, सम्यग्ज्ञान के हेतु अज्ञानी की कैसी अयथार्थ प्रवृत्ति होती है उसका कथन है। उसमें ऐसा कहते हैं कि कदाचित् कभी शास्त्रपाठी अज्ञानी मुख से ऐसा भी कथन करे कि—पूर्वकाल में जिसने ज्ञानी के पास सत् श्रवण किया है वैसे योग्य जीव को सम्यग्दर्शन हो जाये। अध्यात्म शास्त्र पढ़कर भी यथार्थ निर्णय नहीं करता उसका यहाँ वर्णन है; किन्तु सम्यग्दर्शन किसके निमित्त से होता है—यह बात नहीं कहना है। नियमसार गाथा ५३ में कहा है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में प्रथम निमित्त यथार्थ ज्ञानी का ही उपदेश होता है। श्रीमद् ने भी कहा है कि:—

"बुझी चहत जो प्यास को, है बूझन की रीत,
पावे नहिं गुरुगम बिना, एही अनादि स्थित।"

× × ×

[वीर सं० २४७९ चैत्र शुक्ला २ मंगलवार ता० १७-३-५३]

देशनालब्धि में सम्यग्ज्ञानी ही निमित्त होते हैं

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि सात तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान न करे और स्वयं जैनी है ऐसा माने, तो वह जैनी नहीं है; मिथ्यादृष्टि अजैनी है। ऐसा जीव शास्त्राभ्यास करके मुख से कदाचित् ऐसा भी उपदेश

करता है कि जिसका उपदेश–दूसरे जीव को सम्यग्दृष्टि होने में परंपर निमित्त हो जाते हैं। उसे स्वयं तो सम्यग्ज्ञान नहीं है, किन्तु किसी समय शास्त्र की ऐसी बात भी करता है कि जिसे सुनकर दूसरे जीव सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। वहाँ ऐसा सिद्धान्त सिद्ध नहीं करना है कि मिथ्यादृष्टि के निमित्त से सम्यग्दर्शन होता है; किन्तु यह सिद्ध करना है कि मिथ्यादृष्टि शास्त्रों का खूब अभ्यास करता है तथापि उसे सम्यग्ज्ञान नहीं है। अज्ञानी के निमित्त से कभी कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता। देशनालब्धिमें साक्षात् ज्ञानी ही निमित्त होते हैं। जिसे पहले देशनालब्धि प्राप्त हुई हो वह जीव विचार करता है कि यह उपदेशक मिथ्यादृष्टि है, इसे तत्त्वों का सच्चा भाव भासित नहीं हुआ है।—ऐसा विचार कर स्वयं सम्यग्दृष्टि हो जाता है। जिसने पहले कभी निश्चय सम्यग्ज्ञानी के पास श्रवण न किया हो, देशनालब्धि प्राप्त न हुई हो, वह जीव मिथ्यादृष्टि का उपदेश सुनकर कदापि सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

नियमसार गाथा ५३ की संस्कृत टीका में कहा है कि सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में सम्यग्ज्ञानी ही निमित्त होते हैं। अनादि जैनदर्शन में ऐसी मर्यादा है कि सम्यग्ज्ञानीके निमित्त बिना तीन कालमें सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। जैसे–जब चिदानन्दके अनुभव से छट्ठा–सातवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है तब बाह्यमें सहज ही शरीरकी नग्नदशा हो जाती है; द्रव्यलिंग (–नग्नदशा) के आधीन भावलिंग (–मुनिदशा) नहीं है, किन्तु ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले जीव को सम्यग्ज्ञानी ही निमित्त होते हैं; किन्तु सम्यग्दर्शन निमित्ताधीन है—ऐसा नहीं है।

द्रव्यलिंग हो और भावलिंग न हो—ऐसा होता है, किन्तु भावलिंग हो वहाँ द्रव्यलिंग न हो—ऐसा कदापि नहीं होता। देशनालब्धि प्राप्त हुई हो और सम्यग्दर्शन न हो—ऐसा हो सकता है, किंतु जिसे सम्यग्दर्शन हो उसे पहले देशनालब्धि प्राप्त न हुई हो—ऐसा कदापि नहीं हो सकता; तथापि देशनालब्धिमें निमित्त तो सम्यग्ज्ञानी ही होते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। जैसे गमनरूप क्रियामें निमित्तरूप धर्मास्तिकाय ही होते हैं इसप्रकार देशनालब्धि में प्रथम निमित्त तो सम्यग्ज्ञानी ही है जिससे पहले देशनालब्धि प्राप्त की है और फिर चिरकालके बाद स्वयं ही विचार करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करे उसे निसर्ग सम्यग्दर्शन कहते हैं। अधिगम या निसर्ग किसी भी सम्यग्दर्शनमें पहले निमित्तरूपसे सम्यग्ज्ञानी न मिले हों, ऐसा कभी नहीं होता; तथापि वह दोनों प्रकारका सम्यग्दर्शन निमित्तके कारण होता है—ऐसा नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि—मिथ्यादृष्टि ऐसा उपदेश देता है कि उसके निमित्त से दूसरे जीव सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। यहाँ यह बात सिद्ध करते हैं कि–मिथ्यादृष्टि ने शास्त्राभ्यास करके इतनी धारणा की होती है कि–दूसरे जीवने स्वयं पूर्वकालमें सम्यग्ज्ञानी के निकट सुना हो तो, उसे याद करके (पूर्वकी देशनालब्धिवाला वह जीव) सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तब वह निमित्त है।—इतनी बड़ी शास्त्रोंकी धारणा उसके होती है। तथापि वह मिथ्यादृष्टि रहता है। मिथ्यादृष्टि के निमित्त से भी सम्यग्दर्शन होता है —ऐसा नहीं कहते।

अनंतबार शास्त्रपाठी हुआ, अनंतबार भगवानके समवशरण में गया, अनंतबार द्रव्यलिंग भी धारण किया; किन्तु स्वयं कौन है

और पर कौन है; उसका यथार्थ ज्ञान करके पराधीन दृष्टि नहीं छोड़ी। निश्चय आत्मस्वभावको नहीं जाना इसलिये व्यवहार भी सच्चा नहीं कहलाता। कार्यकी प्राप्ति नहीं हुई, तो कारणकी भी सच्ची प्राप्ति हुई नहीं कहलाती। कार्य हो तो कारण कहलाता है। प्रत्येक पदार्थका स्वतंत्र परिणमन हो रहा है। आत्मामें दर्शन नामका गुण है, उसमें से सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय प्रगट होती है; किन्तु निमित्त के कारण सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। आत्माके श्रद्धान गुणकी विपरीत पर्याय मिथ्यात्व है; सीधी पर्याय सम्यक्त्व है।

आत्मा स्वयं पुरुषार्थसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति करता है तब पाँचों समवाय होते हैं। पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत और कर्मका अभाव यह पाँचों समवाय एक समयमें होते हैं। जैसे—कोई बालक स्त्रीका स्वाँग धारण करके ऐसे गीत गाये कि जिसे सुनकर अन्य स्त्री-पुरुष कामरूप हो जायें; किन्तु बालक तो जैसा सीखा वैसा करता है; उसका भाव उसे भासित नहीं होता, इसलिये वह स्वयं कामासक्त नहीं होता। स्त्रीका वेश धारण करता है किंतु अंतरमें कुछ नहीं होता। उसीप्रकार अज्ञानी जैसा सीखा वैसा बोलता है, किन्तु उसे स्वयं मर्म भासित नहीं होता। यदि स्वयंको उसका श्रद्धान हुआ होता तो अन्य तत्त्वका अंश अन्य तत्त्वमें नहीं मिलाता; किन्तु उसे उसका कोई ठिकाना नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि—अज्ञानीके ज्ञान तो इतना होता है; किन्तु जिसप्रकार अभव्यसेनको श्रद्धान रहित ज्ञान था वैसा होता है ?

उत्तर—वह तो पापी था, उसे हिंसादि प्रवृत्तिका भय नहीं था। किन्तु किसी मिथ्यादृष्टिके शुक्ललेश्या होती है और उससे ग्रैवेयक भी जाता है; किन्तु उसे तत्त्वश्रद्धान सच्चा नहीं हुआ है। आत्माका यथार्थ भावभासन नहीं करता, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि रहता है।

× × ×

[वीर सं० २४७९ चैत्र शुक्ला ३ बुधवार ता० १८–३–५३]

आत्मामें इच्छा हुई इसलिये पैसा आता है—ऐसा माना जाये तो आश्रव तत्त्व और अजीव तत्त्व एक हो जाते हैं; दो तत्त्व भिन्न नहीं रहते। कर्मका उदय आया वह अजीव तत्त्व है; उसके कारण विकार का होना मानें तो दो तत्त्व भिन्न नहीं रहते। सम्यग्दृष्टि एक तत्त्वका अंश दूसरे तत्त्वके अंश में नहीं मिलाता। यह बात बड़ी शांतिपूर्वक सुनने जैसी है। प्रवचनसारमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने कहा है कि—जिसे आगमज्ञान ऐसा हुआ है कि जिसके द्वारा सर्व पदार्थोंको हस्तामलकवत् जानता है, तथा ऐसा भी जानता है कि इसका जाननेवाला मैं हूँ; किन्तु "मैं ज्ञानस्वरूप हूँ"—ऐसा अपने को परद्रव्यसे भिन्न मात्र चैतन्य द्रव्य अनुभव नहीं करता; इसलिये आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नहीं है।—इस-प्रकार सम्यग्ज्ञानके हेतु जैन शास्त्रोंका अभ्यास करता है तथापि उसे सम्यग्ज्ञान नहीं है।

अनन्तबार ऐसा आगमज्ञान हुआ कि बाह्यमें कोई भूल दिखाई न दे। अब तो आगमज्ञानका भी ठिकाना नहीं है। जो आगमसे विरुद्ध प्ररूपणा करता है वह तो मिथ्यादृष्टि है ही; किन्तु यहाँ तो

आगमज्ञान किया, पंचमहाव्रत अनन्तबार पाले, तथापि रागसे रहित आत्मा चैतन्यमूर्ति ज्ञाता है उसका अनुभव नहीं करता, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि रहा है। अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थों का अभ्यास करे, किन्तु यह न समझे कि उन शास्त्रोंका तात्पर्य क्या कहना, तो वह मिथ्यादृष्टि है।—इसप्रकार जो शास्त्राभ्यास करता है वह मिथ्यादृष्टि है। अब मिथ्याचारित्रकी बात करते हैं।





सम्यक्चारित्र के हेतु होनेवाली प्रवृत्ति में अयथार्थता

व्यवहाराभासी जीवको सम्यग्चारित्रके हेतु कैसी प्रवृत्ति है वह अब कहते हैं। शूद्रके हाथका पानी पीता है या नहीं? शुद्ध आहार लेता है या नहीं?—इसप्रकार बाह्य क्रिया पर ही जिसकी दृष्टि है, किन्तु अपने परिणाम सुधारने—बिगाड़ने का विचार नहीं है वह मिथ्याज्ञानी–मिथ्याचारित्री है। यदि परिणामोंका भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते देखे उन्हीं पर दृष्टि रहती है; किन्तु उन परिणामोंकी परम्परा विचारते हुए अभिप्रायमें जो वासना है उसका विचार नहीं करता; और फल तो अभिप्रायमें जो वासना है उसीका मिलता है।

कषायमन्दतासे धर्म होता है—ऐसी वासना मिथ्यादृष्टिको नहीं छूटती। कषाय मन्दता रही इसलिये शुद्ध आहार आया, और शुद्ध आहार आया इसलिये मेरा मन शुद्ध रहा—ऐसी वासना उसे नहीं छूटती। जिसप्रकार कस्तूरीकी सुगंधमें रहने से बही के पृष्ठ-पृष्ठ में गंध लग जाती है, उसीप्रकार बाह्य क्रियासे परिणाम सुधरते हैं और मंदकषाय होती है इसलिये धर्म होता है—ऐसी वासना अज्ञानी को नहीं छूटती। अशुभ परिणाम हुए इसलिये अशुद्ध आहार मिला और शुद्ध आहार लिये इसलिये परिणाम सुधर गये—ऐसा नहीं है।

[वीर सं० २४७६ चैत्र शुक्ला ५ गुरुवार, ता० १६-३-५३]

यहाँ, व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि की सम्यक्चारित्रके हेतु कैसी प्रवृत्ति होती है उसका वर्णन चलता है। कोई भी आत्मा पर जीवकी दया नहीं पाल सकता, क्योंकि परजीवकी पर्याय परसे होती है। निश्चय या व्यवहारसे किसी भी प्रकार आत्मा पर की दयाका पालन नहीं कर सकता। आत्मामें दयाके परिणाम होते हैं परन्तु उसके कारण परजीव नहीं बचता। दयाके शुभपरिणाम हुए वह पुण्य है धर्म नहीं है, तथापि अज्ञानी की दृष्टि बाह्यक्रिया पर है।

बाह्यक्रिया सुधरने से मेरे परिणाम सुधरते हैं और मंदकषाय के परिणामों से धर्म होता है—ऐसे अभिप्रायकी गंध बैठ जाने का नाम मिथ्यावासना है। ऐसी वासना रखकर बाह्यमें पंचमहाव्रतका पालन तथा दया-दानादि की चाहे जितनी क्रिया करे, और मंद कषाय करे, तथापि उसे धर्म नहीं होता। मैं तो ज्ञायक हूँ—ऐसी अंतर्दृष्टि करे तो धर्म हो।

सिद्धचक्र विधान किया इसलिए परिणाम सुधरे—ऐसा मिथ्यादृष्टि मानता है। देव-गुरु-शास्त्रकी मान्यतासे निश्चय सम्यग्दर्शन होता है वह मिथ्यावासना है। अनादिकालसे जीवने क्रियाकाण्ड में धर्म माना है। बाह्यमें शुद्ध क्रिया करूं तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो जायेगा—ऐसी जो मान्यता है वह मिथ्यावासना है।

कुम्हार के बिना घड़ा नहीं होता—यह बात मिथ्या है; वह तो निमित्तका कथन है। उसीप्रकार देव-गुरु-शास्त्र की मान्यता के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता,—ऐसी मान्यताकी गहराई में भी व्यव-

हारकी वासना है, वह पराश्रयकी रुचि है—मिथ्यात्व है। आत्मा में दया-दानादिका राग होता है उसका निश्चयसे आत्मा ज्ञाता है; अथवा स्व को निश्चय नहीं जान सकते ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। वास्तवमें आत्मा निश्चयसे अपनी ज्ञान पर्यायका ज्ञाता है। रागादि पर ज्ञेय हैं। उन्हें आत्मा व्यवहारसे जानता है—निश्चयसे नहीं। राग करूं तो धर्म होता है; व्यवहार रत्नत्रय हो तो निश्चय रत्नत्रय होता है—ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है।

अब, कोई जीव तो कुलक्रमसे अथवा देखा देखी या क्रोध, मान, माया, लोभादिसे आचरणका पालन करते हैं, उनके तो धर्म बुद्धि ही नहीं है। जो जीव समझे बिना कहे कि—हमें प्रतिमा तो लेना ही पड़ेगी, प्रतिमाके बिना प्रतिष्ठा नहीं है; तो ऐसा माननेवाले के धर्मबुद्धि ही नहीं है; उसके अंतर्स्वभावका उद्यम नहीं है।

त्यागी होकर पैसा मांगे, भोजनके लिये याचना करे, तो उसे धर्म बुद्धि ही नहीं है। आत्मा निवृत्तस्वरूप ही है;—ऐसी जिसे खबर नहीं है और बाह्यमें निवृत्त होकर आत्मामें शान्तिका होना मानता है; वह कदाचित् मंदकषायी हो तथापि उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। निमित्त आये तो आत्मा की परिणति सुधरे—ऐसी मान्यता जिसके अंतर में पड़ी है वह मिथ्यादृष्टि है, उसे सम्यग्चारित्र नहीं होता।

कोई जीव तो ऐसा मानते हैं कि जानने और मानने से क्या है, कुछ करेंगे तो फल प्राप्त होगा! अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि अकेले ज्ञान-श्रद्धानसे कुछ लाभ नहीं है, कोई क्रिया करें तो लाभ होगा,—

ऐसा मानकर वे व्रतादि पुण्याश्रवकी क्रियामें ही उद्यमी रहते हैं; किन्तु तत्त्वज्ञानका उद्यम नहीं करते। जैसे हलुवा बनाना हो तो पहले घी में आटा सेककर फिर शक्करका पानी डालकर बनाना चाहिये उसके बदले पहले शक्कर के पानी में आटा सेकने लगे तो हलुवा नहीं बनेगा। उसीप्रकार अज्ञानी जीव पहले बाह्य क्रियामें—शुद्ध आहारादि की क्रिया करने में उद्यमी रहते हैं, जानने और मानने से कोई लाभ नहीं होता—ऐसा मानते हैं, और कहते हैं कि जानने के पश्चात् भी क्रिया तो करना ही पड़ती है ? तो वह मान्यता मूढ़ जीवकी है, उसे खबर नहीं है कि सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शनमें निर्विकल्प आनन्दका अनुभव होता है, फिर अन्तर्लीनता करे वह चारित्र है। सम्यग्ज्ञानके बिना सम्यग्चारित्र नहीं होता।

करनी वंध्या नहीं है। मजदूरको मजदूरीका फल मिलता है,—ऐसा मानकर जो क्रिया करता है, उसे उस क्रिया का फल चारगति में भटकना मिलता है। और वह कहता है कि बहुत ज्ञान हो गया हो तो चारित्र आना चाहिये, किन्तु चक्रवर्ती आदि सम्यग्दृष्टि हजारों वर्ष तक संसारमें रहते हैं इस बातकी उसे खबर नहीं है; इसलिये वह मन्दकषायरूप व्रतादिका उद्यमी रहता है, किन्तु आत्मा को समझने का पुरुषार्थ नहीं करता।

जो बहुत जानते हैं वे बड़े लीसड़ होते हैं इसलिये बहुत नहीं जानना चाहिये—ऐसा वे मानते हैं; किन्तु प्रयोजनभूत सूक्ष्म बातको अच्छी तरह जानना चाहिये। भगवान तो दया–दानादि के शुभ

परिणामोंको भी स्थूल कहते हैं। श्री समयसार गाथा १५४ में कहते हैं कि—अत्यन्त स्थूल ऐसे शुभ परिणामों में अज्ञानी की रुचि होती है। शरीरादिक की क्रिया तो स्थूल है ही, उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है, किन्तु आत्मामें शुभपरिणाम आते हैं उन्हें श्री अमृतचन्द्राचार्य ने अत्यन्त स्थूल कहा है, क्योंकि वे बन्धके कारण हैं। यहाँ व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टिका अधिकार है। उसमें कहते हैं कि—जिन शुभ परिणामों को भगवान अत्यन्त स्थूल कहते हैं, उनमें अज्ञानी मग्न रहता है। आत्मामें सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय होती है वह सूक्ष्म है, तथा आत्माका त्रिकाली शुद्ध स्वभाव परम सूक्ष्म है। ज्ञानी के शुभपरिणामों को व्यवहार कहा है, अज्ञानी के व्यवहार नहीं होता।

सातों तत्त्व भिन्न–भिन्न हैं, उन्हें भिन्न–भिन्न न माने अथवा एक तत्त्व भी कम माने या अन्य प्रकार माने तो उसे सात तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा नहीं है। सातों तत्त्व स्वतंत्र हैं;—ऐसा यथार्थज्ञान जिसे हुआ है उस जीवको कदाचित् कुछ भी व्रतादिक न हों तथापि वह असंयत सम्यग्दृष्टि नाम प्राप्त करता है। इसलिये प्रथम तत्त्वज्ञान का उपाय करना चाहिये। आत्मा ज्ञायकमूर्ति है, उसके आश्रयसे ही रागादि छूटते हैं–ऐसा माने, और जो होना हो वह होता है—ऐसा माने तो पर द्रव्यके कर्तृत्वका अभिमान छूटे बिना न रहे। कोई ऐसा कहे कि हम हैं तो तुम्हें ज्ञान होता है, तो वह बात मिथ्या है। प्रत्येक द्रव्यकी जो पर्याय होना है वह होगी ही; उसमें दूसरा कोई कुछ नहीं कर सकता;—ऐसा माने तो सच्चा पण्डित है। सर्वज्ञने देखा है इसलिये द्रव्य की पर्याय होती है—ऐसा नहीं है, किन्तु जैसी

पर्याय थी, है और होगी वैसी ही सर्वज्ञ एकसाथ प्रत्येक समयमें जानते हैं—ऐसा न जाने, तत्त्वज्ञान का उपाय न करे और क्रिया-काण्डमें लगा रहे तो वह मिथ्याचारित्र है।

× × ×

[वीर सं० २४७९ चैत्र शुक्ला ६ शुक्रवार, ता० २०–३–५३]

सम्यग्दर्शनरूपी भूमि के बिना व्रतरूपी वृत्त नहीं होता।

श्री योगेन्द्रदेव कृत श्रावकाचारमें भी कहा है कि:—

दंसणभूमिह वाहिरा, जिय वयरुक्ख ण होंति।

अर्थः—हे जीव ! इस सम्यग्दर्शन–भूमि के बिना व्रतरूपी वृक्ष नहीं होता।

भावार्थः—जिन जीवों को तत्त्वज्ञान नहीं है वे यथार्थ आचरण नहीं आचरते। यही यहाँ विशेष दर्शाते हैं।

आत्मा पर पदार्थों का कर्ता–हर्ता नहीं है, किन्तु पर की क्रिया होती है उसमें निमित्त तो है न ?—ऐसा निमित्त दृष्टिवाले मिथ्या-दृष्टि कहते हैं। बनारसीदासजी कहते हैं कि—"सर्व वस्तुएँ असहाई हैं।" इसलिये निमित्त आने से वस्तु परिणमित हुई—ऐसा है ही नहीं। अज्ञानी मानता है कि कषाय की मन्दता से सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट होती है। श्री योगीन्द्रदेव कहते हैं कि पुण्य भी पाप है। पाप को तो सब पाप कहते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य परिणामों को भी पाप कहते हैं। आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है, उसमें जितने अंश में राग की उत्पत्ति होती है उसे भगवान हिंसा कहते हैं, इसलिये वह पाप है। दया के जो शुभपरिणाम होते हैं उन्हें

व्यवहार से अहिंसा कहा जाता है। कषाय मन्दताके परिणामों को सम्यग्दृष्टि विष मानते हैं; शुभ परिणाम निश्चय से हिंसा कहलाते हैं ?

सदाचार=सत्+आचार; अर्थात् भगवान आत्मा सत् है; उसका भान करके अन्तर में आचरण करना सो सदाचार है। बाह्यक्रिया सदाचार नहीं है। एक अँगुली को मोड़ना भी आत्माके हाथकी बात नहीं है। उँगली चलती है, आँख फिरती है वह जड़की क्रिया है; आत्मा उसका कर्ता नहीं है। शब्द होते हैं वे भाषा वर्गणामें से होते हैं। आत्मा के विकल्पसे भाषा होती है ऐसा तो नहीं है, किन्तु ओंठ हिलते हैं इसलिये भाषा होती है—ऐसा भी नहीं है; क्योंकि शब्द भाषा-वर्गणामें से होते हैं और ओंठ आदि आहारवर्गणामें से होते हैं। प्रत्येक वर्गणा भिन्न-भिन्न है। आहार वर्गणा के कारण भाषा नहीं है; ओंठों के हिलने से भाषा नहीं हुई। काल द्रव्य का लक्षण वर्तना हेतु है, और प्रत्येक द्रव्य का स्वकाल वह उसकी वर्तना है। प्रत्येक द्रव्य में वर्तना है उसमें काल निमित्तमात्र है। वे प्रति समय अपने स्वकाल से परिणमित हो रहे हैं। जिस समय द्रव्य की पर्याय अपने कारण से होती है उस समय दूसरा पदार्थ निमित्तमात्र है।

पुनश्च, इच्छा हुई इसलिये आत्मा यहाँ आया है—ऐसा भी नहीं है; क्योंकि इच्छा चारित्र गुणकी पर्याय है और आत्माका क्षेत्रांतर होना वह क्रियावती शक्तिके कारण है। भगवान कहते हैं कि तेरी शुद्धता तो बड़ी है, किन्तु तेरी अशुद्धता भी महान है। किसी तीर्थंकरकी शक्ति भी उसे नहीं बदल सकती। जीवकी इच्छा हो, किन्तु शरीरमें पक्षघात हो तो शरीर नहीं चलता; इसलिये ऐसा निर्णय करना चाहिये कि इच्छाके कारण आत्माका क्षेत्रांतर नहीं

होता। सर्व गुण असहाई हैं। सदुपदेशके मिलनेसे अच्छे परिणाम हो जाते हैं और असत् उपदेश के कारण बुरे परिणाम होते हैं—ऐसा नहीं है। किसीके परिणाम उपदेश के कारण नहीं बदलते; इसलिये ऐसी मान्यता भ्रम है कि निश्चयका उपदेश मिलनेसे कोई व्यवहार—शुभभाव भी नहीं करेगा।

ब्रह्म विलास में कहा है कि:—

"जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे,
अणहोनी कबहूँ न होसी, काहे होत अधीरा रे।"

श्री समयसार के सर्व विशुद्ध अधिकार में कहा है कि—"शास्त्र किंचित्मात्र भी नहीं जानता।" और आत्मा में किंचित्मात्र भी अज्ञान रहे ऐसा नहीं है। आत्माका स्वभाव तो सर्वज्ञ अर्थात् सबको जानने का है। शास्त्र में कथन तो अनेक प्रकारके आते हैं किन्तु उनका आशय समझना चाहिये।

× × ×

[वीर सं० २४७९ चैत्र शुक्ला ७ शनिवार, ता० २१-३-५३]

आज प्रातःकाल सोनगढ़में मानस्तम्भ जिन बिम्ब पंचकल्याणक उत्सवमें जन्म कल्याणक होने से प्रवचन बन्द था।

× × ×

[वीर सं० २४७९ चैत्र शुक्ला ११ गुरुवार, ता० २६-३-५३

तत्त्वज्ञान के बिना सर्व आचरण मिथ्या है।

इस सातवें अधिकार में, जिन्हें व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान हो, शास्त्र का अभ्यास किया हो ऐसे जीव भी मिथ्यादृष्टि होते हैं—यह बात

कही है। जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं है उनके यथार्थ आचरण नहीं है— ऐसा कहते हैं। यथार्थ आचरण न हो और माने कि हमारे चारित्र है, तप है, तो उसके मिथ्यात्व रहता है। देखो, यहाँ कहा है कि तत्त्वज्ञान अर्थात् भावका भासन होना चाहिये। मात्र शास्त्रज्ञानकी बात नहीं है। शास्त्र का ज्ञान होने पर भी तत्त्वज्ञानपूर्वक भावके भासन बिना जैनमें होने पर भी वह मिथ्यादृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि जो प्रतिज्ञा करता है वह तत्त्वज्ञानपूर्वक करता है; मिथ्यादृष्टिकी भाँति उतावल करके प्रतिज्ञा नहीं लेता। जिसके स्व-रूपाचरणका कण–शांतिका कण प्रगट हुआ होता है वह द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव देखकर प्रतिज्ञा करता है। काल कैसा है ? हठ बिना, आक्षेप बिना, परके दोष देखे बिना, अपने परिणाम देखकर यदि योग्यता दिखाई दे तो तदनुसार सम्यग्दृष्टि प्रतिज्ञा और प्रत्याख्यान करता है।

कुछ जीव प्रतिज्ञा लेकर बैठ जाते हैं, किन्तु अन्तर में तत्त्वज्ञान तो है नहीं, इसलिये अन्तरमें कषायकी वासना उनके नहीं मिटती। स्वाभाविकरूपसे ज्ञाता दृष्टा रहने से, रागका अभाव होने पर जितनी शांति प्रगट हो वह प्रत्याख्यान और प्रतिज्ञा है। बड़ी प्रतिज्ञा ले लेता है, किन्तु अन्तरमें से कषायकी वासना नहीं छूटती। हमने प्रतिज्ञा ली फिर भी हमारा सन्मान नहीं करते, हमें अच्छी तरह आहार जल नहीं देते;—इसप्रकार जिसके कषायकी वासना नहीं छूटती वह मिथ्यादृष्टि है। उसका सारा आचरण मिथ्या है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि:—

"लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान,
ग्रहे नहीं परमार्थ ने, लेवा लौकिक मान।"

अन्तर तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है और प्रतिज्ञा लेकर बैठ जाता है, वह परमार्थ को प्राप्त नहीं करता। लोगों द्वारा कैसे सन्मान प्राप्त किया जाये—ऐसी कषायकी वासना उसके होती है। एक ही सिद्धान्त है कि—"तत्त्वज्ञानके बिना यथार्थ आचरण नहीं होता।" इसलिये तत्त्वज्ञान के बिना अन्तरमें कषाय हुए बिना नहीं रहती। प्रतिमा धारण करले और फिर श्रावकों से सन्मान तथा आहार–जल आदि की माँग करे, घमण्ड करे, वह कषायवासनावाला मिथ्यादृष्टि है। उसके व्रतादि यथार्थ नहीं होते। वह जीव ली हुई प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये आकुल–व्याकुल होता है। कोई–कोई तो बहुतसे उपवास प्रारम्भ करने के पश्चात् पीड़ा से दुःखी होनेवाले रोगी की भाँति समय व्यतीत करते हैं, किन्तु धर्मसाधन नहीं करते। तब फिर पहले से ही उतनी प्रतिज्ञा क्यों न ली जाये जिसे पालन किया जा सके? परिषह सहन न हो सके, प्यास लगी हो, फिर छाछ और पानी के पोते गले पर रखता है, घी न खाने की प्रतिज्ञा ले लेता है और उसके बदले दूसरी स्निग्ध वस्तुओं का उपयोग करता है—ऐसी प्रतिज्ञा यथार्थ नहीं है।

एक पदार्थ छोड़कर दूसरे का अति लोलुपभाव करता है वह तो तीव्र कषायी है; अथवा तो प्रतिज्ञाका दुःख सहन न हो तब परिणाम लगाने के लिये वह अन्य उपाय करता है; जैसे कि—उपवास करके फिर ताश, शतरंज खेलने बैठ जाता है, कोई सो जाता है;—

इसप्रकार किसी भी तरह समय व्यतीत करता है। ऐसा ही अन्य प्रतिज्ञाओं में समझना चाहिये। यह कहीं यथार्थ आचरण नहीं है; स्वभावदृष्टि करके आत्मामें लीन होना वह यथार्थ आचरण है।

अथवा, कोई पापी ऐसे भी हैं कि पहले तो प्रतिज्ञा कर लेते हैं, किन्तु जब उससे दुःख होता है तब छोड़ देते हैं। प्रतिज्ञा लेना—छोड़ देना उनके मन खेल मात्र है; किन्तु वह तो महान पाप है। इससे तो प्रतिज्ञा न लेना ही अच्छा है। पहले विचार किये बिना ही प्रतिज्ञा ले ले, और फिर छोड़ दे, उसे प्रतिज्ञा नहीं कहा जा सकता। प्राण जाने पर भी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ना चाहिये। चाहे जिसे दीक्षा दे देते हैं और वे छोड़ देते हैं—यह तो खेलमात्र प्रतिज्ञा है।—ऐसी प्रतिज्ञा लेनेवाला मिथ्यादृष्टि है।

व्रती सम्मेलनमें त्यागी इकट्ठे हों और वहाँ जल्दबाजीमें प्रतिमा धारण करके क्षुल्लक बन जाते हैं, फिर अन्तिम अवस्था में (मृत्युके समय) लँगोटी छोड़कर आचरण पूर्ण किया मानते हैं। प्रतिज्ञा भंगके महान पापकी तो उन्हें खबर नहीं है। यह बात अज्ञानियों के अन्तरमें नहीं जमती। उन्हें प्रतिज्ञा भंगका डर ही नहीं है। उन्हें भगवानने महान पापी कहा है। कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है तथापि उसके व्रत नहीं होते, क्योंकि सम्यग्दर्शनके पश्चात् तुरन्त सबको चारित्र आ जाये—ऐसा नियम नहीं है। सम्यग्दृष्टि अपने परिणामों को देखता है।

ज्ञान प्रत्याख्यान है।

भगवान आत्मा स्वरूप में स्थिर होता है तब रागका नाश होता है; व्यवहारसे कहा जाता है कि रागको जीत लिया। इसलिये "जैन"

=द्रव्यकर्म-भावकर्म को जीतना वह व्यवहार कथन है। समयसार गाथा ३४-३५ में कहा है कि रागका त्याग—यह भी नाममात्र है। त्याग प्रत्याख्यान नहीं है किन्तु ज्ञान प्रत्याख्यान है-ऐसा कहते हैं। यह तत्त्वदृष्टिसे जैनकी व्याख्या की है। आत्मा राग को जीतता है—ऐसा कहना भी नाम मात्र है; क्योंकि आत्मा ज्ञान में लीन होने पर राग छूट जाता है; इसलिये ज्ञान वह प्रत्याख्यान है। संसार आत्माकी पर्याय में होता है। उस संसारका नाश आत्मा करता है वह नाममात्र है। शरीर, वस्त्रादि पर वस्तुओं को तो आत्मा नहीं छोड़ता, किंतु संसार पर्याय को भी वह नहीं छोड़ता; क्योंकि संसार पर्याय का त्रिकाली स्वभावमें कभी भी ग्रहण नहीं हुआ है जो उसे छोड़े। पर्याय दृष्टि से एक समय का संसार अनित्यतादात्म्य सम्बन्ध से है; किन्तु द्रव्यदृष्टि से अनित्यतादात्म्य सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि विकार का प्रवेश स्वभाव में तीनकाल में भी नहीं हुआ है।

पहले निश्चित किया कि संसार मेरी पर्याय में मेरा कार्य है, कर्म के कारण संसार नहीं है। फिर, वह संसार मेरे स्वभाव में नहीं है, आत्माने द्रव्यदृष्टि से संसार का ग्रहण किया ही नहीं है, तो उसे छोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा की लीनता होने पर संसार छूट जाता है, उसे छोड़ना नहीं पड़ता। संसार में शुभाशुभ भाव होते हैं। उसमें जो अव्रत के भाव हैं वे अशुभ हैं। जब वे अशुभ भाव नहीं होते तब व्रत के शुभ भाव आते हैं, किन्तु वह निश्चय चारित्र नहीं है, वह तो आश्रव है।

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है, और चारित्र वह धर्म है। इसलिये

सम्यग्दर्शन की अपेक्षा चारित्र में अनंत गुनी शांति अधिक होती है। चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता। तीर्थंकर को भी चारित्र ग्रहण करना पड़ता है; इसलिये धर्म तो चारित्र है और उसका मूल सम्यग्दर्शन। सम्यग्दृष्टि स्वयं समझता है कि यह जो अव्रत के परिणाम होते हैं वे करने योग्य नहीं हैं। चौथे गुणस्थान में हजारों वर्ष रहते हैं, मुनिपना नहीं होता, उस समय ज्ञानीको जो अव्रतके परिणाम होते हैं उनकी स्वयं निन्दा करते हैं, किन्तु हठ करके—आग्रह करके त्यागी नहीं हो जाते। मुनिपना महान दुर्लभ है। वर्तमान काल में भावलिंगी मुनियों के दर्शन दुर्लभ हैं; इस जीवन में तो भावलिंगी मुनि नहीं देखे। आजकल तो द्रव्यलिंगी मुनियोंका भी ठिकाना नहीं है। यह कोई व्यक्तिगत बात नहीं है। जिसे हानि होती है वह उसे अपने में होती है। दूसरों को उसके अज्ञान का फल नहीं मिलता, किन्तु उसे स्वयं तो यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। प्रतिज्ञा भंग करने की अपेक्षा प्रतिज्ञा न लेना ही अच्छा है।—इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा के भानपूर्वक प्रतिज्ञा नहीं लेना चाहिये।

जैन जाति में जन्म लिया इसलिये तत्त्वज्ञानी है—ऐसा नहीं है। पहले व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा मानता है उसे जन्म से दिगम्बर कैसे माना जा सकता है? क्योंकि वह मान्यता तो श्वेताम्बर की है। श्वेताम्बर उपाध्याय यशोविजय जी ने दिगम्बर की भूल निकाली है; किन्तु पहले व्यवहार और फिर निश्चय मानना मिथ्यात्व है। तत्त्वज्ञानी होने के पश्चात् अपने परिणाम देखकर प्रतिज्ञा लेते हैं, किन्तु दिखावा के लिये व्रत प्रतिज्ञा नहीं लेते।

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र शुक्ला १२ शुक्रवार ता० २७-३-५३]

आत्मा परिपूर्ण शक्ति से भरा हुआ अक्षयज्ञान भण्डार है। वर्तमान पर्याय में उसके शुभाशुभ परिणाम होते हैं वह विकार और संसार है। वह एक समय की पर्याय है। आत्माका संसार उसकी पर्याय में होता है; शरीर, स्त्री आदि में संसार नहीं है। संसार की और पर की जिसे रुचि नहीं है, किन्तु अखण्ड ज्ञायक स्वभाव की रुचि है, वह जैन है। जिसे स्वभाव की रुचि नहीं है उसे संसार की रुचि है; वह जैन नहीं है।

आत्मा की वर्तमान अवस्था में शुभाशुभरूप विकार है; उसकी जिसे रुचि है उसे स्वभाव की रुचि नहीं है। यहाँ; पर की रुचि की बात तो है ही नहीं। आत्मा में राग होता है उसकी रुचि को जीत ले उसे यहाँ जैन कहते हैं। जैनधर्म में ऐसा उपदेश है कि—पहले तत्त्वज्ञानी हो, फिर जिसका त्याग करे उसके दोषको पहिचाने, त्याग करने से जो गुण होता है उसे जाने। कोई प्राणी कहे कि मुझे दोष दूर करना है;—इसका अर्थ यह हुआ कि दोष दूर हो सकता है और स्वयं निर्दोष रूप से रह सकता है; यानी दोष स्थायी वस्तु नहीं है और निर्दोष स्वरूप नित्यस्थायी है—ऐसा निर्णय होता है। पुनश्च, विकार और दोष किसी पर ने नहीं कराया है, किंतु स्वयं किया तब हुआ है;—ऐसा माने तो विकार और दोष को नाश करने का पुरुषार्थ हो सकता है। इसलिये ज्ञानी दोष को जानता है और दोष रहित आत्मा के स्वरूप को भी जानता है।

कोई ऐसा कहे कि—आत्मा है और उसकी पर्याय में कर्म का निमित्त है। उस कर्म में रस (अनुभाग) कम होता है और आत्मा

की पर्याय में विभाव अधिक होता है, तो निमित्त में अनुभाग कम होने पर भी उपादान में अधिक विकार कहाँ से हुआ ? दृष्टान्त:—एकेन्द्रिय जीव के कर्म की स्थिति एक सागर की होती है, और मनुष्य भव का बन्ध करके जब मनुष्य होता है तब अंतः क्रोड़ा क्रोड़ी सागर की कर्म की स्थिति बाँधता है; तो वह विशेषता कहाँ से हुई ?

समाधान:—आत्मा को कर्म के उदयानुसार विकार करना पड़ता है यह बात मिथ्या है।—ऐसा इस दृष्टान्त से सिद्ध होता है। देखो, वहाँ उसप्रकार का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा होता है—उसकी भी जिसे खबर नहीं है, उसे आत्म तत्त्व की खबर नहीं होती। कर्म और विकार दोनों स्वतंत्र हैं। श्वेताम्बर और स्थानकवासी में तो यह मान्यता चली आती है कि कर्म के कारण विकार होता है; किन्तु दिगम्बर में भी अधिकांश लोग मानते हैं कि कर्म के कारण विकार होता है; वह सब एक ही जाति है। मनुष्य गति में कर्म की स्थिति अधिक होती है और जब निगोद में जाता है तब घट जाती है; तो वहाँ वह स्थिति कैसे कम की ? इसलिये निश्चित होता है कि कर्म और विकार दोनों भिन्न-भिन्न स्वतंत्र रूप से परिणमित हो रहे हैं। कर्म के कारण तीनकाल में विकार नहीं होता। सातों तत्त्व स्वतंत्र हैं और भिन्न २ हैं—ऐसा निर्णय प्रथम न करे उसे तीनकाल में आत्म ज्ञान नहीं हो सकता। आत्मा राग-द्वेष, भ्रांति करे—विकार करे, वह सब अपने कारण करता है, कर्म के निमित्त के कारण वह विकार नहीं है—ऐसा प्रथम निश्चित करे उसे तत्त्वज्ञान होता है।

कोई कहे कि—यदि सभी को ऐसा तत्त्वज्ञान हो जाये तो कोई संसार में नहीं रहेगा; तो वैसा कहने वाले को आत्मा की यथार्थ रुचि

ही नहीं है; क्योंकि स्वभाव की रुचि वाले की दृष्टि संसार में कौन रहेगा उस पर नहीं होती। जैसे—कोई धन का अर्थी ऐसा विचार नहीं करता कि—मैं धनवान होऊँगा उसीतरह सब धनवान होगये तो मेरा काम कौन करेगा ? जिसकी रुचि जिसमें होती है वह दूसरों की ओर नहीं देखता। यहाँ तो सच्चे जैन की बात है। दर्शन मोह का उदय तो अनादिकाल से है। जिसकी दृष्टि कर्म पर पड़ी है और ऐसी मान्यता है कि कर्म के उदयानुसार विकार होता है, उसका मिथ्यात्व कभी दूर नहीं होता और न उसे तत्त्वज्ञान होता है। इसलिये प्रथम तो सातों तत्त्वों का भिन्न २ स्वतंत्र निर्णय करे, फिर उसे राग का यथार्थ त्याग होता है। बाह्य में वस्त्रादि का त्याग किया है इसलिये वह त्यागी है—ऐसा नहीं है। जिसे अंतरंग सातों तत्त्वों का भावभासन नहीं है वह जीव आत्म धर्म का त्यागी है। नियमसार (पृष्ठ २५७, गाथा १२६) के कलश में कहा है कि अज्ञानी स्वधर्म का त्यागी है। मोहका अर्थ ही स्वधर्म-त्याग है। आत्मा परिपूर्ण आनन्दकंद है, उसकी रुचि जिसने छोड़ी है वह आत्मा के धर्म का त्यागी है।

ज्ञानी अपनी शक्तिअनुसार प्रतिज्ञादि लेता है।

ज्ञानी किसी तत्त्वका अंश किसी दूसरे तत्त्वमें नहीं मिलाता, यानी जड़ कर्मका अंश विकारके अंशमें नहीं मिलता और विकारके अंशको स्वभावमें एकमेक नहीं करता। ऐसा तत्त्वज्ञान होनेसे उसकी अपनी पर्यायमें जो विकार होता है उसे अच्छीतरह जानता है। अपने परिणाम न सुधरे हों और त्यागी हो जाय तो आकुलता हुए बिना नहीं रहती; इसलिये प्रथम अपनी योग्यता देखें आत्माकी पर्याय

में दोष है। निर्दोष स्वभावका आलंबन करने से गुण होता है और दोष आता है ऐसा जानता है; किन्तु परवस्तु छूटगई इसलिये दोषका नाश होता है—ऐसा नहीं जानता। इसलिये वह आवेशमें आकर प्रतिमा, व्रतादि ग्रहण नहीं करता। प्रतिमा, व्रत बाहरसे नहीं आते। वर्तमान पुरुषार्थ देखकर, और भविष्यमें भी ज्यों का त्यों भाव बना रहेगा या नहीं उसका विचार करके प्रतिज्ञा लेता है। ज्ञानी शारीरिक शक्ति और द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावादिकका भी विचार करते हैं; इसलिये इसप्रकार प्रतिज्ञा लेना योग्य है। अपने परिणामोंका विचार करना चाहिये। यदि खेद हो, आर्त्तध्यान हो, तो वह प्रतिज्ञा नहीं निभ सकती,—ऐसी प्रतिज्ञा लेना योग्य नहीं है। पहले अपनी उपादान शक्ति अर्थात् परिणामोंकी योग्यताकी (-शक्तिकी) बात कही, और फिर निमित्त अर्थात् शरीरादि का भी ज्ञानी विचार करता है—ऐसा कहा है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक (देहली प्र० पृष्ठ २६४ में कहा है कि—"मुनि पद ग्रहण करने का क्रम तो यह है कि पहले तत्त्वज्ञान हो, फिर उदासीन परिणाम हों, परिषहादि सहन करने की शक्ति हो, और अपने आप मुनि होने की इच्छा करे, तब श्री गुरु उसे मुनिधर्म अंगीकार कराते हैं।" आजकल तो तत्त्वज्ञान रहित, विषयासक्त जीवोंको माया द्वारा लोभ दिखाकर मुनिपद देते हैं, किन्तु वह उचित नहीं है। जैन नाम धारण करते हैं किन्तु इसकी भी खबर नहीं होती कि भावलिंगी और द्रव्यलिंगी किसे कहा जाये।

देहली से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४३१ में कहा है कि—"जिनमतमें तो ऐसी परिपाटी है कि—पहले सम्यक्त्व होता

है' फिर व्रत होते हैं। अब, सम्यक्त्व तो स्व-परका श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोगका अभ्यास करनेसे होता है; इसलिये पहले द्रव्यानुयोग अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर चरणानुयोग अनुसार व्रतादि धारण करके व्रती हो। इसप्रकार मुख्यतः निचलीदशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र शुक्ला १३ शनिवार ता० २८-३-५३]

श्री महावीर जन्मकल्याणक दिवस

आज भगवान महावीरका जन्मकल्याणक दिवस है। जन्म-दिवस तो साधारण जीवोंका भी कहलाता है, किन्तु यह तो जन्म-कल्याणक दिवस है। आज कई लोग जैन के नाम से प्ररूपणा करते हैं कि भगवान ने दुनियाका उद्धार करनेके लिये जन्म लिया; किन्तु वह बात मिथ्या है। भगवानको आत्माका भान था। तीर्थंकर होने से पूर्व के तीसरे भवमें उस भानसहित भूमिकामें ऐसा राग आया कि—"मैं पूर्ण होऊं और जगतके जीव धर्म प्राप्त करें!" इसलिये तीर्थंकर नामकर्मका बंध हुआ। तीर्थंकरका द्रव्य ही अनादिसे वैसी ही योग्यतावाला होता है। अन्तर्गत पर्यायकी शक्ति ही ऐसी होती है। भगवानने परके कारण अवतार लिया—ऐसा नहीं है; और भगवान का अवतार हुआ इसलिये लोगोंका कल्याण हुआ है—ऐसा भी नहीं है।

भगवान महावीर ने जन्म लिया इसका अर्थ—उनके आत्मा की पर्यायकी योग्यता ही वैसी थी। शरीरका सम्बन्ध मिला वह जन्म नहीं है; आत्माकी पर्यायका उत्पाद हुआ उसे जन्म कहते हैं। भग-

वान के आत्माका जन्म नहीं होता। आत्मा तो त्रिकाल ध्रुव है। जगत में जिस द्रव्यकी जो पर्याय होती है वह अपनी योग्यतासे होती है। महावीर परमात्माका जीव अपनी श्रद्धा–ज्ञान–रमणतामें वर्तता था; उस समय अपनी निर्बलताके कारण राग आया; उसीमें तीर्थंकर नाम कर्मका बंध होगया था। और वह जीव तीर्थंकर होने की योग्यता-वाला था, इसकारण उनका आत्मा तीर्थंकररूप हुआ है। तीर्थंकररूप होनेकी योग्यता उस द्रव्यमें अनादिकालसे शक्तिरूप में थी। ध्रुवरूप योग्यता तो थी ही, किंतु पर्याय की योग्यता हुई, इसलिये "मैं पूर्ण होऊं"–ऐसा विकल्प आया। जगतके जीव धर्म प्राप्त करें—ऐसी भावना भी थी; उसीमें तीर्थंकर नाम कर्मका बंध हुआ था। तीर्थंकर प्रकृतिका उदय तो वीतरागदशा होने के पश्चात् आता है। केवलज्ञान होने के पश्चात् ओम्काररूप ध्वनि खिरती है; उस वाणीके निमित्त से जीव अपनी योग्यतानुसार धर्म प्राप्त करते हैं।

भगवान की वाणी धर्म में निमित्त होती है। जो धर्म वृद्धिका निमित्त है उस वाणीमें से धर्मकी वृद्धि न करे, अथवा धर्म प्रगट होने में निमित्त न बने तो वह भगवानकी वाणी को नहीं समझा है।

स्तुतिकार कहते हैं कि—हे भगवान! आप ही जगदीश हैं। लौकिक जनोंमें जगदीश तो उसे कहा जाता है जो जगतके जीवों की संख्या में वृद्धि करे; किन्तु आपके अवतारसे तो जगतमें परि-भ्रमण करते हुए जीव कम हो जाते हैं—हे नाथ! जब तुम्हारी वाणी निकलती है, उस समय उसे समझनेवाले जीव न हों ऐसा नहीं हो

सकता। (हे नाथ ! आपने अनेकोंको तारा है—यह उपचारका कथन है। भगवानकी वाणी और समझने वाले जीव दोनों भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं, तथा वे भिन्न–भिन्न कार्य करते हैं। जीव जब स्वयं समझे तब भगवानकी वाणीको निमित्त कहा जाता है। भगवानकी वाणी सुनी इसलिये समझमें आया—ऐसा माने तो आत्मामें क्षणिक उपादान स्वतंत्र है उसका नाश करता है, अर्थात् श्रद्धाका नाश करता है वह मिथ्यादृष्टि है।) अज्ञानी संयोगी दृष्टिसे देखते हैं और ज्ञानी स्वभावदृष्टि से देखते हैं। दोनों का मार्ग भिन्न है। एक मोक्षमें जाता है, दूसरा निगोदमें।—ऐसा वस्तुका स्वरूप है। (जिसप्रकार जगत में किसी द्रव्यका कोई अन्य कर्ता नहीं है, उसीप्रकार उस द्रव्यकी पर्याय द्रव्यका अंश है; उसका कोई कर्ता नहीं है।—ऐसा भगवानकी वाणीमें आया है।) तीर्थंकर भगवानका जन्म कल्याणक इन्द्र भी मनाते हैं। वही आजका दिन है। (भगवान ने जन्म लिया यह तो व्यवहार है; आयुके कारण आये वह भी व्यवहार है; वास्तवमें भगवान आत्माकी पर्याय की योग्यताके कारण आये हैं वह सत्य है।) भगवान माताकी कुक्षिमें आने के पूर्व इन्द्रके ज्ञानमें आया कि छह महीने पश्चात् भगवान त्रिशला माताकी कुक्षिमें जानेवाले हैं। क्रमबद्ध पर्याय न हो तो वह ज्ञान नहीं हो सकता। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि पर्याय क्रमबद्ध होती है। क्रमबद्धका निर्णय किये बिना तीनकालमें सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।

भगवानको जन्म लेने से पूर्व भी ज्ञानका निर्णय तो था ही। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान और आत्मा अभेद है। भगवान की वाणीमें निकला था कि ज्ञान ही आत्मा है। वह ज्ञान दूसरे का क्या

करेगा ? ज्ञान तो जानता है। उसके वदले आत्मा परभावोंका कर्ता है—ऐसा मानना वह व्यवहारीजनोंकी मूढ़ता है।

जिस ज्ञानमें, रागको ज्ञानमें रहकर जानने की शक्ति नहीं हुई है उसे तो, रागको जानता है—ऐसा व्यवहार भी लागू नहीं होता। एक ज्ञानमें भी स्वतंत्ररूपसे कर्ता आदि छह कारक हैं। चारित्रगुण की पर्यायमें जो राग आया, उसे जानने की शक्ति ज्ञानकी है। ऐसे ज्ञानपूर्वक भगवानका जन्म हुआ था। जिस समय भगवान माताकी कुक्षिमें आये, उससमय भी उन्हें रागका, निमित्त का और स्व का पृथक्-पृथक् ज्ञान वर्तता था।

भगवान जीवों का उद्धार करते हैं—यह कथन निमित्तका है।

आज के दिन अनेक लोग अनेक प्रकारसे मिथ्या प्ररूपणा करते हैं कि भगवानने अन्य जीवोंकी हिंसाको रोका, कई जीवोंका उद्धार किया;—यह सब निमित्त के कथन हैं; वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। भगवानने न तो किसी को तारा है; न हिंसा रोकी है, और न पर के कार्य किये हैं—यह बात सत्य है। जीव अपने कारण से समझते हैं, हिंसा उसके अपने कारण रुकती है; उन सबमें भगवान निमित्तमात्र हैं। भगवानके कारण पर में कुछ नहीं हुआ है। निर्ग्रंथ मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते थे। वहाँ विकल्प आया कि हे भगवान ! हम तेरे चरण कमल के प्रसाद से तरे हैं; तूने हमारा उद्धार किया है। देखो, यह सब निमित्त का कथन है। अपनी पर्याय की योग्यताके बिना भगवानको उद्धारका

निमित्त नहीं कह सकते। लोगों में कहावत है कि—जनने वाली में जोर न हो—तो दाई क्या करे? उसीप्रकार अपने में सम्यग्दर्शन प्रगट करने की शक्ति न हो तो भगवान क्या कर सकते हैं? यदि निमित्त के कारण उद्धार होता हो तो एक ही तीर्थंकर के होने पर सबको तर जाना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता। भगवान ने अनंत जीवों को तार दिया—ऐसा उपचार से—व्यवहार से कहा जाता है; मनुष्य संख्यात होते हैं वे सब नहीं तर जाते; तथापि भगवानको अनन्त का तारनहार कहा जाता है। ऐसे भगवान का जन्म कल्याण-कारी है। जिन्होंने आत्माका भान नहीं किया, ऐसे जीवों का अव-तार टिड्डी जैसा है।

भगवान उसी भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं। और भगवान का पुण्य भी उच्च होता है। उनका पुण्य और पवित्रता उत्कृष्ट होती है। जब इन्द्र को ज्ञात होता है कि भगवान का जन्म हो गया, तब वह सिंहासन से नीचे उतर जाता है और भगवान को नमस्कार करता है। भगवान का शरीर तो बालक है; भक्त स्वयं इन्द्र है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि है; तथापि भक्तिभाव उल्लसित हो गया है और कहता है कि—अहो! तीन लोक के नाथ को हमारा नमस्कार हो! भगवान का जन्म हो और समझने वाले न हों ऐसा नहीं होता; तथा लोगों की पात्रता प्रगटे और भगवान का जन्म न हो—ऐसा भी नहीं होता; तथापि भगवान जीवों को तारते हैं ऐसा नहीं है। भगवान को भी अपने में शक्तिरूप से भगवानपना था, उसी में से प्रगट हुआ है। भगवान ने ढिंढोरा पीटा कि तुझमें भी ऐसी शक्ति है; तू पराश्रित

नहीं है; तुझे किसी की सहायता की आवश्यकता हो—ऐसा नहीं है।

भगवान को समझने वाले ऐसा मानते हैं कि उन्होंने तो अपने में जो शक्तिरूप से भगवानपना था वही पर्याय में स्वतंत्ररूप से प्रगट किया है, और अहिंसा अपनी पर्याय में की है, पर में नहीं की। आत्मा शांतिरूप है; वर्तमान पर्याय में जो अशांति है वह मेरा स्वरूप नहीं है;—ऐसा भान करना सो अहिंसा है। राग का ज्ञान वह व्यवहार है और स्व का ज्ञान वह निश्चय है;—ऐसा जानना वह जन्मकल्याणक महोत्सव है।

× × ×

[वीर सं० २४७९, चैत्र शुक्ला १४ रविवार, ता० २९–३–५३]

छहों द्रव्यों का परिणमन स्वतंत्र है।

जैनधर्म की आम्नाय

"समयसार–नाटक" पृष्ठ ३५१ में कहा है कि—आत्मामें विकार होता है उस परिणाम में किसी की सहायता नहीं है। छहों द्रव्य अपने २ परिणाम किसी की सहायता के बिना कर रहे हैं। कोई कर्म प्रेरक होकर आत्मा को विकार नहीं कराता। द्रव्य कर्म से भावकर्म होता है—ऐसा नहीं है, तथा राग से वीतरागता होती है—ऐसा भी नहीं है। इसलिये तत्त्वज्ञान के बिना व्रत, तपादि करे तो वह बालव्रत और बालतप है। ज्ञानी मात्र वर्तमान परिणाम का विश्वास रखकर प्रतिज्ञा नहीं लेते, किन्तु द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव देखकर प्रतिज्ञा लेते हैं। आत्मा में मुनिपने का पुरुषार्थ न हो, शरीर

की स्थिति भी वैसी न हो और त्याग कर बैठे तो आर्तध्यान होता है। प्रतिज्ञा के प्रति निरादर भाव न हो, किन्तु बढ़ते रहे—उच्च भाव रहे ऐसी प्रतिज्ञा लेते हैं। ऐसा जैनधर्म का उपदेश है और जैनधर्म की आम्नाय भी ऐसी है।—ऐसे दो प्रकार कहे हैं।

प्रश्न:—चांडालादिक ने प्रतिज्ञा की थी, उन्हें कहाँ इतना विचार होता है?

उत्तर:—"मृत्यु–पर्यंत कष्ट हो तो भले हो, किन्तु प्रतिज्ञा नहीं छोड़ेंगे—ऐसे विचार से वे प्रतिज्ञा लेते हैं; किन्तु प्रतिज्ञा के प्रति उनका निरादरभाव नहीं है। आत्मा के भान बिना भी कोई प्रतिज्ञा ले लें, तथापि मृत्यु–पर्यंत कष्ट आने पर भी उसे नहीं छोड़ते; और उनके प्रतिज्ञा का आदर नहीं छूटता। यह व्यवहाराभासी मिथ्या-दृष्टि की प्रतिज्ञा की बात कही। कषाय की मन्दतारूप चढ़ते (उच्च) परिणाम रहें तदनुसार वह प्रतिज्ञा लेता है, और प्रतिज्ञा भङ्ग नहीं होने देता। अब सम्यग्दृष्टि की बात करते हैं। ज्ञानी जो प्रतिज्ञा लेते हैं वह तत्त्वज्ञान पूर्वक ही करते हैं। अपने परिणाम देखकर प्रतिज्ञा लेते हैं। वे विचार करते हैं कि मेरी पर्याय में वर्तमान तुच्छता वर्तती है, मेरे परिणामों में वृद्धि नहीं होती। द्रव्य से प्रभु हूँ, किन्तु पर्याय से पामर हूँ उसका अच्छी तरह ज्ञान करते हैं।

तत्त्वज्ञानपूर्वक ही प्रतिज्ञा लेना योग्य है।

असलीस्वरूप आत्म द्रव्य त्रिकाल शुद्ध है। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन रूपी शुद्ध पर्याय तो प्रगट हुई है; किन्तु अभी उग्र पुरुषार्थ पूर्वक राग का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है अर्थात् निर्बलता है; द्रव्य

का पूर्ण आश्रय नहीं हुआ है; पर्याय में पामरता है और उससे निमित्त का सम्बन्ध सर्वथा नहीं छूटा है।—इसप्रकार पर्याय का ज्ञान करके प्रतिज्ञा लेते हैं। दृष्टि में से द्रव्य का अवलम्बन छूट जाये तो मिथ्यादृष्टि हो जाये और पर्यायमें से निमित्तका अवलम्बन सर्वथा छूट जाये तो केवलज्ञान हो जाये। साधक को दृष्टि अपेक्षासे द्रव्य का अवलम्बन कभी नहीं छूटता; और पर्यायमें पामरता है इसलिये सर्वथा निमित्त का अवलम्बन भी नहीं छूटा है। इसलिये ज्ञानो तत्त्वज्ञान पूर्वक ही प्रतिज्ञा लेते हैं। परद्रव्य मेरा कुछ करता है यह बात तो है ही नहीं; यहाँ तो त्रिकाली द्रव्य और वर्तमान पर्याय दो की बात है। पर्यायमें दया का राग आये तो उस प्रकारके निमित्त पर लक्ष जाता है। पर का अवलम्बन नहीं छूटता। इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पर निमित्त के कारण राग हुआ है जिस-जिस प्रकार का राग होता है। उस उस प्रकार के निमित्तों पर लक्ष जाता है; किन्तु उन निमित्तों के कारण राग हुआ है—ऐसा नहीं है।

डुगडुगी वजती है; उसकी डोरी एक ही होने पर भी वह दोनों ओर बजती है। उसीप्रकार ज्ञानीको शुद्ध दृष्टि अपेक्षासे सदैव द्रव्य का अवलम्बन होता है और पर्यायकी अपेक्षासे निमित्तका अवलम्बन है।—इसप्रकार साधकदशा में दो प्रकार होते हैं। द्रव्यपर्यायके ज्ञान बिना व्रत–प्रतिज्ञा ले ले तो वह यथार्थ आचरण नहीं है। कोई ज्ञानी की निन्दा करे तो ज्ञानी उसका भी ज्ञान करते हैं; और जो राग-द्वेष होता है उसे भी ज्ञेय रूप अच्छी तरह जानते हैं। और वह ऐसी प्रतिज्ञा लेते हैं जिससे सहज परिणाम हों।

अब कहते हैं कि—जिसे अन्तरंग विरक्तता नहीं हुई और बाह्यसे प्रतिज्ञा धारण करता है, वह प्रतिज्ञा लेने से पूर्व और पश्चात् आसक्त रहता है। उपवास की प्रतिज्ञा लेने से पूर्व धारणा में आसक्त होकर आहार लेता है और उपवास पूर्ण होने पर मिष्टान्न उड़ाता है, खाने में जल्दी करता है। जिस प्रकार रोके हुए जल को छोड़ने पर वह बड़े वेग पूर्वक बहने लगता है; उसी प्रकार इसने प्रतिज्ञासे विषय-वृत्तिको रोका, किन्तु अन्तरंग में आसक्ति बढ़ती गई और प्रतिज्ञा पूर्ण होते ही अत्यन्त विषयवृत्ति होने लगी। इसलिये वास्तवमें उसके प्रतिज्ञा कालमें भी विषय वासना नहीं छूटी है। तथा आगे–पीछे उलटा अधिक राग करता है; किन्तु फलकी प्राप्ति तो राग भाव मिटने पर ही होती है; इसलिये जितना राग कम हुआ हो उतनी ही प्रतिज्ञा करना चाहिये। महामुनि भी पहले थोड़ी प्रतिज्ञा लेकर फिर आहारादि में कमी करते हैं; और यदि बड़ी प्रतिज्ञा लेते हैं तो अपनी शक्ति का विचार करके लेते हैं। इसलिये परिणाम में चढ़ते भाव रहें और आकुलता न हो—ऐसा करना कार्यकारी है।

पुनश्च, जिसकी धर्म पर दृष्टि नहीं है वह किसी समय तो महान धर्म का आचरण करता है और कभी अधिक स्वच्छन्दी होकर वर्तता है। जैसे—दशलक्षण पर्व में दस उपवास करता है और अन्य पर्व दिवसों में एक भी नहीं। अब, यदि धर्मबुद्धि हो तो सर्व धर्म पर्वों में यथायोग्य संयमादि धारण करना चाहिये, किन्तु मिथ्यादृष्टि को उसका विवेक नहीं होता। उसके व्रत, तप, दान भी सच्चे नहीं होते। यहाँ तो, अज्ञानी को कैसा विकल्प आता है उसकी बात करते

हैं। जहाँ बड़प्पन मिलता हो वहाँ अधिक रुपये खर्च करता है। मकान में नाम की तख्ती लगा दो तो अधिक रुपये दे सकता हूँ—ऐसा कहने वाले जीव को धर्म बुद्धि नहीं है; राग घटाने का उसका प्रयोजन नहीं है।

और कभी किसी धर्म कार्य में बहुत-सा धन खर्च कर देता है, तथा किसी समय कोई कार्य आ पड़े तो वहाँ थोड़ा-सा भी नहीं देता। यदि उसके धर्म बुद्धि हो तो सर्व धर्म कार्यों में यथायोग्य धन खर्च करता रहे। इसी प्रकार अन्य भी जानना। अज्ञानी को धन खर्चा करनेका भी विवेक नहीं होता। कहने सुनने से धन खर्च करता है; किन्तु यदि धर्म बुद्धि हो तो अपनी शक्ति के अनुसार सभी धर्म कार्यों में यथायोग्य धन दिये बिना न रहे। जैसे—लड़की का विवाह करना हो तो वहाँ चन्दा करने नहीं जाता, किन्तु अपने घरमें से पैसा निकालता है, मकान बनाना हो तो चन्दा नहीं करता;—उसीप्रकार जिसे धर्म बुद्धि हो वह धर्म के सभी कार्यों में यथाशक्ति धन खर्च करता है, उसके ऐसे परिणाम होते हैं।

तत्त्वज्ञान पूर्वक व्रत, तप और दान होना चाहिये,—यह तीन बातें कहीं। इसप्रकार जिस २ काल में जिस २ प्रकार का राग हो उस २ प्रकार से ज्ञानी को विवेक होता है—ऐसा समझना चाहिये। और जिसे सच्चे धर्म की दृष्टि नहीं है उसके सच्चा साधन भी नहीं है। बाह्यसे लक्ष्मीका त्याग कर देता है, किन्तु वस्त्रादिका मोह नहीं छूटता। सुन्दर मखमली जूते और कोट पहिने तो वह त्याग मेल रहित है। बाह्यसे त्याग किया हो और सट्टे का धन्धा करे, स्वयं तो

त्यागी हो किन्तु दूसरों को लक्ष्मी प्राप्त कराने के लिये फीचर के अंक आदि बतलाये, तो वह धर्म में कलंकरूप है; उसने वास्तव में लक्ष्मी का त्याग नहीं किया है, किन्तु लाभान्तराय के कारण लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं हुई है। स्वयं त्यागी हो जाये और अपने माता-पिता आदि के लिये चन्दा इकट्ठा कराये वह भी त्यागी नहीं है।

किसी से चन्दे में अमुक रकम देने का आग्रह करना अथवा कहना भी त्यागी के लिये शोभनीय नहीं है। सच्चा त्याग हो तो अपने परिणामों को देखता है। कोई साधु कहे कि मुझे अमुक रुपयों की आवश्यकता है; तो इसप्रकार साधु होकर मांगना वह धर्म की शोभा नहीं है। निस्पृह रूप से त्याग होना चाहिये। मुनि को याचना नहीं होती।

कोई-कोई त्यागी ऐसे होते हैं कि यात्रा के लिये अथवा भोजनादि के लिये पैसों की याचना करते हैं, और कोई न दे तो क्रोध-कषाय करते हैं। प्रथम तो त्यागी को याचना करना ही योग्य नहीं है, और फिर कषाय करना तो महान बुरा है; तथापि अपने को त्यागी और तपस्वी मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का अविवेक है। मुनि नाम धारण करके अपने को तपस्वी मानकर क्रोध मान, माया और लोभ करता है; "मैं तपस्वी हूँ," इसलिये ग्रन्थ-माला में मेरा नाम रखा जाये तो ठीक—ऐसा मानकर अभिमान करता है; वह सच्चा मुनि नहीं किन्तु अज्ञानी है।

× × ×

[वीर सं० २४७९ बैशाख कृष्णा १ मंगलवार, ता० ३१-३-५३]

यह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का अधिकार चलता है। तत्त्व-

ज्ञान के विना यथार्थ आचरण नहीं होता। वह जीव कोई अत्यन्त नीच क्रिया करता है इसलिये लोकनिंद्य होता है, और धर्म की हँसी कराता है। जैसे—कोई पुरुष एक वस्त्र अति उत्तम और एक अति हीन पहिने तो वह हास्यपात्र ही होता है; उसीप्रकार यह भी हँसी कराता है। व्यवहाराभासी जीवकी क्रिया हास्यास्पद होती है; क्योंकि किसी समय उच्च क्रिया करता है और कभी फिर नीच क्रिया में लग जाता है; इसलिये लोकनिंद्य होता है। इसलिये सच्चे धर्म की तो यह आम्नाय है कि—जितने अपने रागादिक दूर हुए हों तदनुसार जिस पद में जो धर्म क्रिया संभव हो वह सब अंगीकार करे।

चौथे और पाँचवें गुणस्थान में जिस प्रकार की क्रिया संभव हो उसी प्रकार ज्ञानी वर्तते हैं।

किन्तु उच्चपद धारण करके नीची क्रिया नहीं करना चाहिये। सम्यग्दृष्टि की भूमिका में मांसादि का आहार नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को कदाचित् लड़ाई के परिणाम हों, किन्तु उसके अभक्ष्य आहार नहीं हो सकता। अभी आसक्ति नहीं छूटी इसलिये स्त्री सेवनादि होता है। पाँचवें गुणस्थान में भूमिकानुसार त्याग होता है। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में कहा है कि—जिसके मांस-मदिरा का त्याग न हो वह उपदेश सुनने को भी पात्र नहीं है।

प्रश्नः—स्त्री-सेवनादि का त्याग ऊपर की प्रतिमाओं में कहा है, तो निचली दशा वाले को उसका त्याग करना चाहिये या नहीं ?

उत्तरः—निचली दशावाला उनका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, कोई दोष लग जाता है। इसलिये ऊपर की प्रतिमाओं में उनका त्याग होता है; किन्तु निचली दशा में जिस प्रकार से त्याग

संभव है उतना त्याग उस दशा में भी करना चाहिये। किन्तु निचली दशा में जो संभव न हो, वह त्याग तो कषायभावों से ही होता है। जैसे—कोई सात व्यसन का तो सेवन करे और स्व-स्त्री का त्याग करे—यह कैसे हो सकता है? यद्यपि स्वस्त्री का त्याग करना धर्म है, तथापि पहले जब सप्तव्यसन का त्याग हो जाये तभी स्वस्त्री का त्याग करना योग्य है। चौथे गुणस्थानवाला प्रतिमा की प्रतिज्ञा नहीं करता क्योंकि अंतर्वासना अभी सहज छूटी नहीं है।

पुनश्च, सर्व प्रकारसे धर्मके स्वरूपको न जानने वाले कुछ जीव किसी धर्मके अंगको मुख्य करके अन्य धर्मको गौण करते हैं। जैसे—कोई जीव दया धर्मको मुख्य करके पूजा-प्रभावनादि कार्योंका उत्थापन करता है; वह व्यवहार धर्मको भी नहीं समझता। ज्ञानीको पूजा, प्रभावनादि के भाव आये बिना नहीं रहते। पर जीवकी हिंसा, अहिंसा कोई नहीं कर सकता, किन्तु भावों की बात है। पूजा-प्रभावना में शुभभाव होते हैं उनकी उत्थापना नहीं की जा सकती, तथापि उन्हें धर्म नहीं मानना चाहिये। कोई पूजा—प्रभावनादि धर्मको (शुभभाव को) मुख्य करके हिंसादिका भी भय नहीं रखते। रात्रिके समय पूजा नहीं करना चाहिये; शुद्ध जलसे अभिषेक होना चाहिये।

यह बात न्याय से समझना चाहिये। भले ही मिथ्यादृष्टि हो किन्तु सत्य बात आये तो पहले स्वीकार करना चाहिये। अज्ञानी किसी तपकी मुख्यता मानकर आर्तध्यानादि करके भी उपवासादि करते हैं; अथवा अपने को तपस्वी मानकर निःशंकरूपसे क्रोधादि करते हैं। उपवास करके सो जाते हैं; आर्तध्यान करके दिन पूरा करते हैं। तत्त्वज्ञानके बिना सच्चा तप नहीं होता। आत्माकी शांतिसे

शोभित हो प्रतापवंत हो उसका नाम तपस्वी है। उसके बदले तपस्वी नाम धारण करे और उग्र प्रकृति रखे तो वह यथार्थ नहीं है। वर्षीतप करे और उपवासका पारणा करते समय अच्छी सुविधा न मिलने पर कषाय करे, तो उसे तप नहीं कहा जाता।

पुनश्च; कोई दानकी मुख्यता मानकर अनेक पाप करके भी धन कमाकर दान देते हैं। पहले पाप करके धन इकट्ठा करना और फिर दान देना, यह न्याय नहीं है। पहले लक्ष्मीकी ममता कर लूं और फिर उसे कम करूंगा, तो वह ठीक नहीं है। परोपकारके नामसे भी पाप करते हैं। कोई आरम्भ त्यागकी मुख्यता करके याचना करने लगते हैं। रांधने में पाप मानकर भिखारी की भाँति माँगने जाये तो वह योग्य नहीं है। तथा कोई जीव अहिंसा को मुख्य करके जल द्वारा स्नान–शौचादि भी नहीं करते; और कोई लौकिक कार्य आने पर धर्म को छोड़ देते हैं अथवा उसके आश्रयसे पापाचरण भी करते हैं।

धर्मकी प्रभावनाके हेतु महान महोत्सव होता हो तो ज्ञानी शिथिलता नहीं रखते। लौकिक कार्य छोड़कर वहाँ उपस्थित हुए बिना नहीं रहते। पंचाध्यायी गाथा ७३९ में कहा है कि—नित्य नैमित्तिक रूपसे होनेवाले जिन–विम्ब महोत्सवमें भी शिथिलता नहीं करना चाहिये, तथा तत्त्वज्ञानियों को तो शिथिलता कभी भी और किसी भी प्रकार से नहीं करना चाहिये।

"ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे तहाँ समजवुं तेह।" इसलिये विवेक करना चाहिये। अज्ञानी के विवेक नहीं होता। जैसे किसी अविवेकी व्यापारीको किसी व्यापारमें लाभके हेतु अन्य प्रकार से

बड़ी हानि हो जाती है वैसा ही यह कार्य हुआ; किन्तु जिसप्रकार विवेकी व्यापारीका प्रयोजन लाभ है, इसलिये वह सारा विचार करके जिसमें लाभ हो वह करता है; उसीप्रकार ज्ञानीका प्रयोजन तो वीतरागभाव है, इसलिये वह सारा विचार करके वही करता है जिसमें वीतरागभाव की वृद्धि हो।

चारों अनुयोगोंका तात्पर्य वीतरागता है; वही ज्ञानीका प्रयोजन है। दृष्टिमें वीतरागता तो है, किन्तु चारित्रमें भी वीतरागता बढ़े वही ज्ञानीका प्रयोजन होता है; राग का प्रयोजन नहीं होता। तत्त्वज्ञानके बिना रागका अभाव नहीं होता। बाह्यमें त्याग हुआ या नहीं—उससे ज्ञानीको प्रयोजन नहीं रहता; शुभभावका भी प्रयोजन नहीं है। ज्ञानीको राग, निमित्त और परकी उपेक्षा होती है और स्वकी अपेक्षा होती है।

× × ×

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख कृष्णा २ बुधवार १–४–५३]

आत्माके भान बिना आचरण मिथ्याचारित्र है।

पुनश्च, कोई जीव अणुव्रत, महाव्रतादिरूप यथार्थ आचरण करता है, तथा आचरणके अनुसार अभिप्राय भी है; किन्तु माया-लोभादि के परिणाम नहीं हैं। पहले तो उसकी बात कही थी जो व्रतादि का भलीभाँति पालन नहीं करता। अब कहते हैं कि—भगवान के कहे हुए व्रतादिका यथार्थरूपसे पालन करता है, तथापि उस क्रियासें और शुभभावसे धर्म होता है, व्यवहार करते–करते धर्म हो जाता है—ऐसी मान्यता होने से उसके भी यथार्थ चारित्र नहीं है। जिस जीवको आत्माका भान नहीं है तथा अणुव्रतादि का अच्छी तरह

पालन नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि तो है ही, किन्तु उसका आचरण भी मिथ्या है;—यह बात पहले आगई है। अब कहते हैं कि—व्रतादि यथार्थ आचरण करता है तथापि उस मिथ्यादृष्टिके चारित्र नहीं है।

भगवानके मार्गमें प्रतिज्ञा न ले तो दण्ड नहीं है, किन्तु प्रतिज्ञा लेकर भंग करना तो महा पाप है। वस्तुका स्वरूप क्या है?—वह जानना चाहिये। यह मोक्षमार्ग प्रकाशक शास्त्र है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता वह मोक्षमार्ग है। राग–विकार या जड़की क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि कोई जीव भलीभांति २८ मूलगुण का पालन करे, मन–वचन–कायादि गुप्ति पाले, उद्दिष्ट आहार न ले, महीने-महीने के उपवास करे, तप करे, व्यवहार क्रिया में किंचित् दोष न करे,—ऐसा आचरण करता है और तदनुसार कषाय की मंदता भी है; इन क्रियाओंमें उसे माया तथा लोभके परिणाम नहीं हैं, किन्तु उसे धर्म मानकर मोक्षके हेतु उसका साधन करता है। वह स्वर्गादि भोगोंकी इच्छा नहीं रखता; किंतु पहले उसे तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, इसलिये स्वयं तो जानता है कि मैं मोक्षके हेतु साधन करता हूँ, किन्तु मोक्षके साधनकी उसे खबर भी नहीं है, वह तो मात्र स्वर्गादि का ही साधन करता है वह मिथ्यादृष्टि व्यवहाराभासी है। तत्त्वज्ञानपूर्वक आचरण न होने से उसके सच्चा चारित्र नहीं है। समयसारमें भी कहा है कि तत्त्वज्ञानपूर्वक अधःकर्मी आहार नहीं लेता उस मुनिके यथार्थ आचरण है। वीतरागकी जैसी आज्ञा व्यवहारमें है वैसा आचरण करता है, किन्तु उसे मिथ्या मान्यता होनेसे आश्रवको धर्म मानता है, इसलिये वह आचरण मिथ्या-

चारित्र है। शुभ व्यवहार करते-करते धर्मका साधन हो जायेगा यह मान्यता मिथ्या है। प्रथम भेदज्ञान द्वारा अंतर साधन प्रगट किये बिना मंदकषायको व्यवहारसे भी साधन नहीं कहा जाता। त्रिकाल एक स्वसन्मुखतारूप आत्मसाधनसे ही मोक्षमार्ग होता है। फिर अन्य को निमित्त कहा जाता है। काल हलका है इसलिये शुभभावरूपी साधनसे मोक्षमार्ग हो जायेगा—ऐसा नहीं है। कंसार तो त्रिकाल घी, शक्कर (गुड़) और आटे से ही बनता है। चौथे कालमें उन वस्तुओं से कंसार बनता हो और पंचमकालमें दूसरी वस्तुओं से—ऐसा नहीं हो सकता।—इसप्रकार मोक्षका सत्य साधन तो त्रिकाल एक ही होता है। मिथ्यादृष्टि भगवानकी आज्ञाका विपरीत अर्थ करता है। कोई मिसरीको अमृत जानकर भक्षण करे, किन्तु उससे अमृतका गुण तो नहीं हो सकता; क्योंकि अपनी प्रतीतिके अनुसार फल नहीं मिलता, जैसा साधन करे वैसा ही फल प्राप्त होता है। पुण्यको धर्म माने तो उससे कहीं धर्म नहीं हो सकता। आकके फलको आम मानले तो आकफल आम नहीं हो जाता; इसलिये प्रतीतिके अनुसार फल नहीं होता, किन्तु जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसी प्रतीति करे तो यथार्थ फल मिलता है। शास्त्रमें कहा है कि—

तत्त्वज्ञानपूर्वक आचरण यह सम्यक्‌चारित्र है।

चारित्रमें जो 'सम्यक्' पद है वह अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्तिके हेतु है। इसलिये प्रथम तत्वज्ञान हो और फिर चारित्र हो, वही सम्यक्‌चारित्र नाम प्राप्त करता है। जिसके अज्ञानका नाश न हो उसके चारित्र नहीं होता; जो तत्त्वज्ञान न करे उसके सम्यग्द-

दर्शन नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदायमें जन्म लिया इसलिये सम्यग्दृष्टि है—ऐसा नहीं है। दिगम्बर कोई सम्प्रदाय नहीं है, किन्तु वस्तु का स्वरूप है। साततत्त्वोंके भावका भासन होना वह तत्त्वज्ञान है।

१. जीवतत्त्व तो परम पारिणामिक भाव शुद्ध चैतन्य है वह है।

२. अजीवतत्त्व भी पारिणामिक भाव तथा औदयिक भाव रूप है।
(यहाँ अजीवतत्त्व में मुख्यतः कर्मादि पुद्गल तत्त्व लेना हैं।)

३. आश्रवतत्त्व आत्मामें विकार भाव—औदयिक भाव है वह है।

४. संवर में सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र है वह क्षायोपशमिक, औपशमिक तथा क्षायिक भाव है।

५. बंधभाव वह विकार भाव है, औदयिक भाव है; वह आत्मा की शुद्ध पर्याय नहीं है।

६. निर्जरा क्षायोपशमिक, औपशमिक तथा क्षायिक भाव है।

७. मोक्ष क्षायिकभाव है।

—इसप्रकार सात तत्त्वों का भाव समझना चाहिये।

तत्त्वज्ञान के बिना दर्शन प्रतिमा भी नहीं होती, तब फिर मुनिपना तो कहाँ से होगा? वर्तमान दिगम्बर सम्प्रदाय में तो देवादि की श्रद्धा है इसलिये सम्यग्दर्शन है—ऐसा अधिकांश मानता है। श्रावककुल में जन्म हुआ इसलिये जन्मसे श्रावक हैं—ऐसा मानते हैं, किन्तु वे मिथ्यादृष्टि हैं। आत्मा चिदानन्द है—ऐसी दृष्टि के बिना सम्यग्दृष्टि नहीं होता, और सम्यग्दर्शन अर्थात् तत्त्वज्ञान के बिना चारित्र,

नहीं होता। जैसे—कोई किसान बीज तो न बोये और अन्य साधन करे तो उसे अन्न प्राप्ति कहाँ से होगी ? घास फूस ही होगा। उसी-प्रकार अज्ञानी तत्त्वज्ञान का तो अभ्यास न करे और अन्य साधन करे, तो मोक्ष प्राप्ति कहाँ से होगी ? देवपद आदि की प्राप्ति हो सकती है।

पुनश्च, उनमें कोई २ जीव तो ऐसे हैं जो तत्त्वादि के नाम भी अच्छी तरह नहीं जानते, मात्र बाह्य व्रतादि में ही वर्तते हैं। निर्दोष व्रतों का पालन करते हैं किन्तु तत्त्वज्ञान नहीं करते। और कुछ जीव ऐसे हैं कि—जैसा पहले वर्णन किया है तदनुसार सम्यग्दर्शन–ज्ञान का अयथार्थ साधन करके वृतादि में प्रवर्तमान हैं। यद्यपि वे वृतादि का भलीभाँति बाह्य दोष रहित पालन करते हैं किन्तु यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान बिना उनका सर्व आचरण मिथ्याचारित्र ही है।

श्री समयसार कलश १४२ में श्री अमृतचन्द्राचार्य देव मार्ग को स्पष्ट प्रकाशित करते हैं—

(शार्दूल विक्रीड़ित)

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महावृततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥

अर्थः—कोई मोक्ष से पराङ्मुख ऐसे अति दुस्तर पंचाग्नि तपनादि कार्यों द्वारा स्वयं ही क्लेश करते हैं तो करो, तथा अन्य कोई जीव महावृत और तप के भार से अधिककाल तक क्षीण होते हुए क्लेश करते हैं तो करो, किन्तु यह साक्षात् मोक्षस्वरूप सर्व रोग रहित

पद, अपने आप अनुभव में आये ऐसा ज्ञान स्वभाव तो ज्ञानगुण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं।

चारित्र आनन्ददायक है, उसे कष्टप्रद मानना वह मिथ्यात्व है।

जिसे आत्मा का भान नहीं है उसके लिये व्रतादि भाररूप हैं। संसार एक समय की उदयभावरूप अशुद्ध पर्याय है किन्तु वह मेरे स्वभाव में नहीं है,—उसका जिसे भान नहीं है उसे वृतादि तो क्लेश के भाररूप हैं। चारित्र सचमुच तो आनन्द स्वरूप है, कष्टरूप नहीं है। तत्त्वज्ञानके बिना जो आचरण है वह कष्टरूप लगता है। चारित्र तो संवर है, दुःख की पर्याय का नाश करने वाला है; उसे कष्ट-दायक मानना वह मिथ्यात्व है। धर्म कष्ट दायक होता ही नहीं। भूमिकानुसार धर्मी आत्मा को निरन्तर आनन्द होता है। परिषह हों तथापि उनका ख्याल नहीं होता। सुकोशल मुनि को व्याघ्री खाती है, उस समय भी आनन्द है। गजकुमार मुनिको भी आनन्द है। अविकारी आनन्दकन्द परिणाम वह चारित्र है; उसकी जिसे खबर नहीं है उसके संवर तत्त्व की भूल है; विपरीत अभिनिवेश है। क्या करें हमने महावृत ले लिये इसलिये पालन करना चाहिये,—ऐसी अरुचि लाये तो वह सत्य आचरण नहीं है। प्रथम भावभासनरूप तत्त्वज्ञान करो, जगत की चिन्ता छोड़ो। यह बात कभी सुनी नहीं है इसलिये पहले अभ्यास करो।

यात्रा करने जाये और पहाड़ पर चढ़े–उतरे उस समय थक जाता है, भूख–प्यास सताने लगती है, तो धर्मशाला के मुनीम से

झगड़ पड़ता है, कषाय करता है, वह कहीं यात्रा नहीं है। तत्त्वज्ञान पूर्वक आकुलता कम हो—ऐसा शांतिमय आचरण होना चाहिये। मुनिपना, श्रावकपना ग्रहण करता है, शरीर को जीर्ण कर लेता है, किन्तु मिथ्यात्व को जीर्ण नहीं करता। प्रथम यथार्थ प्रतीति करने में भले ही अधिकांश समय वीत जाये, किन्तु उसके सिवा अन्य उपाय करे तो उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि व्रतादि शुभ आस्रवका पालन करता है, उसके द्वारा मोक्ष मानता है किन्तु साक्षात् मोक्ष–स्वरूप ऐसा निरामय, (रोगरहित) पद जो अपने आत्मसे अनुभव में आता है—ऐसा ज्ञान स्वभाव तो ज्ञानगुण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। व्यवहार, राग अथवा मन के आश्रय से वह प्राप्त हो—ऐसा नहीं है। आत्मा की ज्ञान क्रियाके अतिरिक्त अन्य किसी भी क्रियासे मोक्ष नहीं होता। ज्ञानक्रियामें दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं। आत्मा ज्ञान स्वभावी है। सर्वज्ञ पूर्ण स्वभावी व्यक्त है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु राग, निमित्त आदि आत्मा में नहीं है—ऐसे तत्त्वज्ञान के सिवा अन्य किसी भी क्रिया से मोक्ष नहीं होता। मोक्षमार्ग की विधि न जाने और क्रिया करने लग जाये तो कहीं मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं होता। जैसे—हलवा बनाने की विधि न जाने और बनाने बैठ जाये तो हलवा नहीं बन सकता, किन्तु लेई बनेगी। उसी प्रकार प्रथम मोक्षमार्ग की विधि न जाने और क्रिया करने लग जाये तो मोक्षमार्गरूपी हलवा नहीं बनेगा; किन्तु मिथ्यात्वरूपी लेई बन जायेगी और चार गति में भटकने का साधन प्राप्त होगा; इसलिये प्रथम तत्त्वज्ञान करना चाहिये।

[वीर सं० २४७६, प्र. वैशाख कृष्णा ३ गुरुवार ता० २–४–५३]

तेरह प्रकारका चारित्र मंदकषाय है, धर्म नहीं।

अन्तर्मुख दृष्टि किये बिना अन्य किसी प्रकार आत्माका अनुभव नहीं होता। करोड़ों उपवास करे, त्याग करे, ब्रह्मचर्य पाले, किन्तु उससे धर्म नहीं होता और न भवका अन्त आता है। श्री पंचास्तिकाय गाथा १७२ में व्यवहाराभासीका कथन भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने किया है। उसमें कहा है कि तेरह प्रकारके चारित्रका पालन करते हुए भी उसका मोक्षमार्गमें निषेध किया है। ब्यालीस, छियालीस दोष रहित आहार ले, पंचमहाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप चारित्र का पालन करे वह कषायकी मन्दता है; उसे वह धर्म मानता है इसलिये मिथ्यादृष्टि है। उसके मोक्षमार्ग नहीं है जहाँ व्यवहार साधन और निश्चय साध्य कहा है वहाँ निश्चय साधनसे निश्चय-साध्यदशा प्रगट करे तो व्यवहारको उपचारसे साधन कहा है।

श्री समयसार नाटकमें कहा है कि—जितना व्यवहार–साधन कहा है वह वास्तवमें साधक नहीं किन्तु सब बाधक है। श्री प्रवचन-सारमें भी आत्मज्ञान शून्य संयमभावको अकार्यकारी कहा है। आत्मज्ञानशून्य पंचमहाव्रतादि निरर्थक है, आत्माके कल्याणमें उसे निमित्त भी नहीं कहा है। यह चौथे गुणस्थानकी बात है। सम्य-ग्दर्शन कैसे हो उसकी बात है। आत्मामें सम्यग्दर्शनरूपी निर्विकल्प भाव कैसे प्रगट हो वह कहते हैं। एक समयमें मैं आत्मा ज्ञायक हूँ उसे यथार्थ लक्षमें लिया इसलिये ऐसा भान हुआ कि राग और निमित्त में नहीं हूँ वह सम्यग्दर्शन धर्म है। विवेकपूर्वक परीक्षा करके विचार करना वह अपना कर्तव्य है। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है,

राग विकार है, निमित्त पर है—ऐसा भेदज्ञान करना चाहिये। विपरीत अभिप्राय रहित-युक्तिपूर्वक विचार करके निर्णय करना वह आत्मज्ञान का प्रथम कारण है। धर्म तो आत्माके आश्रयसे होता है इसलिये प्रथम तत्त्वज्ञान करना वह कार्यकारी है, और प्रथम ऐसा तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् ही आचरण कार्यकारी है। पुनश्च, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्रोंमें इस प्रयोजनके हेतु जगह-जगह निरूपण किया है कि तत्त्वज्ञानके बिना व्रतादि कार्यकारी नहीं है।

यहाँ कोई ऐसा जाने कि—धन्य है वह अन्तरंग भाव बिना भी बाह्यसे तो अणुव्रत, महाव्रतादिकी साधना करता है न? किन्तु जहाँ अन्तरंग परिणाम नहीं हैं अथवा स्वर्गादिकी वांछासे साधना करता है तो ऐसी साधनासे पापबन्ध होता है। इसलिये वे तो धन्य नहीं किन्तु द्रव्यलिंगी तो अन्तिम ग्रैवेयक तक जाता है? कपटरहित मंदकषायरूप परिणाम हो तभी ग्रैवेयक स्वर्ग तक जाता है वह भी धन्य नहीं है। अनन्तबार कपटपूर्वक पालन किया है इसलिये मोक्ष नहीं हुआ—ऐसा नहीं है। भगवानके कथनानुसार व्रतादि का पालन करता है इसलिये ग्रैवेयक तक जाता है। कपट पूर्वक करे तो पाप-बंध होता है। और वह तो महान मंदकषायी होता है; वह मंदकषाय भी मोक्षका कारण नहीं हुआ तो फिर वर्तमानके मंदकषाय अकषाय का साधन कैसे हो सकता? इसलिये व्यवहार सच्चा साधन नहीं है। द्रव्यलिंगी इहलोक-परलोकके भोगादिकी इच्छा रहित होते हैं, तथा मात्र धर्म बुद्धिसे मोक्षाभिलाषि होकर व्यवहारकी साधना करते हैं, इसलिये द्रव्यलिगीमें स्थूल अन्यथापना तो नहीं है किन्तु सूक्ष्म अन्यथापना है वह सम्यग्दृष्टिको भासित होता है।

द्रव्यलिंगीका मिथ्यापना सम्यग्दृष्टि जान सकते हैं।

द्रव्यलिंगीका मिथ्यापना केवली भगवानको ही भासित होता है ऐसा नहीं है दूसरे को जो सूक्ष्म मिथ्यात्व होता है छद्मस्थ सम्यक-ज्ञानी को भी खबर होती है। सामनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्दृष्टि—उसका ज्ञान न हो ऐसा नहीं हो सकता। द्रव्यलिंगीके स्थूल अन्यथापना नहीं है, सूक्ष्म है। उसे मिथ्यादृष्टि जान लेता है। आत्मा अन्तर्मुख होकर साधन करे तो साध्य ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट होता है—उसकी मिथ्यादृष्टि को खबर नहीं है। तत्वज्ञानीको उसकी प्ररूपणा पर से अभिप्राय ज्ञान हो जाता है। बाह्यमें आगमानुसार आचरण हो, व्यवहारका भलीभाँति पालन करे, स्थूल प्ररूपणा में भी अन्यथापना न हो, तथापि अंतरंगमें सूक्ष्म मिथ्यात्व है,—उसे ज्ञानी जानता है किंतु बाह्यमें कहता नहीं है; क्योंकि संगमें विरोध होता है। लोग बाह्यसे परीक्षा करते हैं इसलिये स्थूल मिथ्यात्व हो तो बाहर प्रगट करते हैं, किन्तु वे सूक्ष्ममिथ्यात्व नहीं पकड़ सकते, इसलिये ज्ञानी बाहर प्रगट नहीं करते। लोग नहीं पकड़ सकते इस-लिये विरोध होता है। स्थूल प्ररूपणा करे कि—व्यवहार हो तो नि-श्चय होता है, निमित्तके कारण उपादानमें कार्य होता है, तो ज्ञानी कहते हैं कि वह मिथ्यादृष्टि है। किन्तु बाह्यमें व्यवहार अच्छा हो और मिथ्यादृष्टि हो तो ज्ञानी स्वयं जानते हैं तथापि बाहर प्रगट नहीं करते।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंग धारण करे, मंदकषाय करे, किन्तु अंतरकी गहराईमें उसके व्यवहारका पक्ष नहीं छूटता ऐसे द्रव्यलिंगी धर्म साधन करते हैं वे कैसे हैं? तथा उनमें अन्यथापना किसप्रकार

है ?—वह अब कहते हैं। द्रव्यलिंगीको कभी एक क्षण मात्र भी निश्चय का पक्ष नहीं आया है और व्यवहारका पक्ष छूटा नहीं है। देखो, यह समझने जैसा है। लोग समझते तो हैं नहीं और कहते हैं कि व्यवहार नहीं करोगे तो धर्मका लोप हो जायेगा, किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। अशुभ परिणाम न हों तब दया, दान, भक्ति, यात्रादिके शुभभाव होते हैं, किन्तु वह सम्यग्दर्शनका कारण नहीं है। जब ज्ञायक आत्माकी रुचि, दृष्टि होगी तभी सम्यग्दर्शन होगा।

जातिस्मरण ज्ञान

जातिस्मरण ज्ञान की ऐसी शक्ति है कि—पूर्वकाल में हमारा इस जीव के साथ सम्बन्ध था—ऐसा जान लेता है। पूर्वकाल का शरीर वर्तमान में नहीं है और आत्मा को भी साक्षात् नहीं जानता है, तथापि वर्तमान जाति स्मरण ज्ञान की ऐसी शक्ति है कि वह जान लेता है कि—इस आत्मा के साथ हमारा पूर्वकाल में सम्बन्ध था। यह निर्णय कहाँ से हुआ ? ज्ञान की शक्ति ही ऐसी है। ऋषभदेवभगवान और श्रेयांसकुमार का आठ भव पूर्व सम्बन्ध था, वह वर्तमान ज्ञान में जाति स्मरण से निर्णय हुआ। ज्ञान की पर्याय में आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता, और पूर्वकाल का शरीर भी वर्तमान में नहीं है तो भी मिथ्यादृष्टि को भी जाति स्मरण ज्ञान होता है। वह भी जान लेता है कि तीसरे भव में इस जीव के साथ सम्बन्ध था;—ऐसी ज्ञान की स्वतंत्र निरालम्बी शक्ति है। तब फिर सम्यग्दृष्टि ऐसा जान ले कि सामने वाला आत्मा मिथ्यादृष्टि है, उसमें क्या आश्चर्य ? —ऐसा ज्ञान का सहज सामर्थ्य है।

कोई ऐसा कहे कि—इसकाल में आत्मा को निश्चयरूप से नहीं

जाना जा सकता, सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि की खबर नहीं पड़ सकती, भव्य अभव्य का ज्ञान नहीं हो सकता, तो उसे ज्ञान सामर्थ्य की खबर नहीं है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है, वह आत्मा को और पर को न जाने—ऐसा नहीं हो सकता। अपने ज्ञान सामर्थ्यका उसे विश्वास नहीं है। लब्धि के अधिकार में बात ली है, उसमें कहा है कि—जिन्हें चौदह पूर्व का ज्ञान है ऐसे ज्ञानी जो न्याय और सुलझन निकालें वैसा ही सम्यग्दृष्टि भी निकाल सकता है—ऐसा उसका ज्ञानका सामर्थ्य है। इसलिये सम्यक् ज्ञानी को द्रव्यलिंगी का अन्यथापना भासित होता है। अब कहते हैं कि—द्रव्यलिंगी को धर्म साधन कैसा है और उसमें अन्यथापना किस प्रकार है।





द्रव्यलिंगी के धर्मसाधनमें अन्यथापना

प्रथम तो वह संसार में नरकादिके दुःखों को जानकर तथा स्वर्गादि में भी जन्म–मरणादिके दुःखों को जानकर संसार से उदास होकर मोक्षकी इच्छा करता है। अब, उस दुःखको तो सभी जानते हैं, किन्तु इन्द्र, अहमिन्द्रादि विषयानुरागसे इन्द्रियजनित सुखका उपभोग करते हैं—उसे भी दुःख जानकर, निराकुल सुख अवस्थाको पहिचानकर जो मोक्षका ज्ञान करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना। जन्म–मरणका दुःख नहीं है, संयोगका दुःख नहीं है किन्तु दुःख तो मिथ्या अभिप्राय और आकुलतासे है। अज्ञानी की दृष्टि संयोग पर है। प्रतिकूल क्षेत्रका संयोग दुःख नहीं है इसलिये जन्म-मरणका दुःख मानना वह मिथ्यात्व है। आत्मा में विपरीत श्रद्धा और आकुलता है वह दुःख और सम्यक्त्व और निराकुलता है वह सुख—इसकी उसे खबर नहीं है।

आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता है। पर्यायमें सुख–दुःख होते हैं। स्वर्ग के सुखकी इच्छा से और नरकादिके संयोगोंको दुःख जानकर साधन करे तो वह स्थूल मिथ्यादृष्टि है।—इसप्रकार वह उदास होता है, किंतु स्वर्गमें भी इन्द्रियजनित विषय–भोग हैं वह भी दुःखरूप है—ऐसा जानना चाहिये। अपनी पर्यायमें जिस भाव द्वारा तीर्थंकर नामकर्मका बंध होता है वह भाव भी आकुलता है। पंच महाव्रतके परिणाम भी आकुलता हैं। आत्मामें ही सुख है–

ऐसा जानकर स्वानुभवके द्वारा निराकुल 'परिणाम हों वह मोक्षका कारण है।—ऐसा माने वह सम्यग्दृष्टि है।

सोलह कारण भावना भाने से तीर्थंकर नामकर्मका बंध हो जायेगा—ऐसा नहीं है। जिस जीवकी पर्यायोंकी योग्यता ही उस प्रकार की होती है उसीको उस प्रकारकी सहज भावना होती है, दूसरों को नहीं होती। सम्यग्दृष्टि इन्द्रियजनित सुखको आकुलतारूप दुःख मानता है। शुभ और अशुभ वृत्तियोंका अपने में उत्थान होना ही आकुलता और दुःख है। उस सुख-दुःखके तात्त्विक स्वरूपकी अज्ञानी को खबर नहीं है; इसलिये वह बाह्य संयोगों में सुख–दुःख मानकर बाह्यसे उदासीन होता है—यह मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना।

× × ×

[वीर सं० २४७९, प्र० वैशाख कृष्णा ४ शुक्रवार, ता० ३–४–५३]

परद्रव्यको इष्ट–अनिष्ट जानकर ग्रहण–त्याग करना वह मिथ्या बुद्धि है।

पुनश्च, विषयसुखादिका फल नरकादि है—ऐसा जानकर परद्रव्यको बुरा मानता है; किन्तु आत्मामें विषय–कषायके परिणाम होते हैं वह दुःख है उसे नहीं जानता। और मानता है कि नरकमें दुःख हैं; किंतु नरकक्षेत्रमें दुःख नहीं है, क्योंकि केवल समुद्घातके समय केवलीभगवानके आत्माके प्रदेश सातवें नरक के क्षेत्र में भी जाते हैं; तथा सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव भी वहाँ अनंत हैं उस क्षेत्रके कारण कुछ नहीं है। इसलिये क्षेत्रका दुःख किसी आत्माको नहीं है। अज्ञानी परद्रव्यको बुरा मानकर द्वेष करता है। शरीर अशुचिमय और विनाशीक है—इसप्रकार शरीरका दोष निकालता है। शरीर तो

ज्ञानका ज्ञेय है, वह दुःखका कारण नहीं है। नित्यानंदमय पवित्र स्वभावको अनुभवमें रखकर रागादि आश्रवोंको अशुचि जानकर ज्ञानी अशुचि भावना भाता है वह शरीरका भी ज्ञाता रहकर भाता है, और मिथ्यादृष्टि शरीर को अनिष्ट जानकर द्वेष बुद्धि करता है,— इतना दोनों में अन्तर है।

अज्ञानी मानता है कि शरीर में से सार निकाल लेना चाहिये। शरीरका पोषण न करके, उसे जीर्ण बनाकर, सुखाकर फेंक देना चाहिये; उसे शरीर के प्रति द्वेष बुद्धि है। कुटम्बीजन आदि स्वार्थके सगे हैं—ऐसा मानकर परद्रव्यको दोष देता है और उसका त्याग करता है, किन्तु आत्मामें जो रागद्वेष होते हैं उनका त्याग नहीं करता। कंचन, कामिनी और कुटम्बका त्याग करो तो धर्म लाभ होगा—ऐसा वह मानता है। व्रतादिका फल स्वर्ग–मोक्ष है; इस समय व्रत पालन करेंगे तो स्वर्गकी प्राप्ति होगी और वहाँसे भगवानके पास जायेंगे इसलिये वहाँ धर्म प्राप्त करेंगे—यह सब मिथ्या बुद्धि है। व्यवहार तपश्चरणादि पवित्र फल के देनेवाले हैं; उनके द्वारा शरीरका पोषण करना योग्य है—ऐसा मानता है।

और देव गुरु-शास्त्रादि हितकारी हैं—इत्यादि परद्रव्योंका गुण विचार कर उसीको अंगीकार करता है; किंतु स्व-आत्मद्रव्य हितकारी है उसकी उसे खबर नहीं है। परद्रव्य हितकारी या अहितकारी है ही नहीं। शुद्ध उपादान शक्ति अंतर में ही भरी है उसका आश्रय करना हितकारी है। आत्माकी पर्यायमें शुभराग होता है तब निमित्तका– देव, गुरु, शास्त्रका आदर आये बिना नहीं रहता, किन्तु वह अपनी निर्बलतासे आया है परद्रव्यके कारण नहीं आया। भगवानको देख-कर प्रमोदभाव आता है वह भगवानके कारण नहीं आया। उन्हें

देखने से प्रमोदभाव आता हो तो जो भी देखें उन सबको आना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिये जो परद्रव्यको हितकारी जानकर राग करता है वह मिथ्यादृष्टि है। परद्रव्यके गुण और दोष विचारकर अज्ञानी राग द्वेष करता है इसलिये उसका सारा आचरण मिथ्या है। और वह शुभरागको करने योग्य मानता है; हितरूप मानता है।

वर्तमानमें यहाँ भावलिंगी मुनि दिखाई नहीं देते। कदाचित् कोई देव महाविदेह क्षेत्रसे किन्हीं मुनिको लाकर यहाँ रख दे और यहीं उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो जाये तो उन्हें देखकर ज्ञानीको प्रमोद आये बिना नहीं रहेगा, किंतु वह प्रमोदभाव उन मुनि—केवलीको देखने से अथवा केवलीके कारण नहीं हुआ है। परद्रव्यको इष्ट मानकर वह शुभभाव नहीं हुआ है। केवली तो ज्ञानके ज्ञेय हैं, वे हितकारी हैं—ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। और कोई अनिष्ट शब्द कहे तो कदाचित् ज्ञानीको खेद होता है, किंतु वह खेद शब्दों के कारण नहीं हुआ है। अज्ञानी परद्रव्यको बुरा जानता है और उसे छोड़ना चाहता है। वास्तवमें गाली अनिष्ट नहीं है और भगवान इष्ट नहीं हैं;—इस बातकी अज्ञानीको खबर नहीं है।

इस भाँति अज्ञानी अनेकप्रकारसे किन्हीं परद्रव्यों को बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करता है और किन्हीं परद्रव्यों को भला जान कर इष्टरूप श्रद्धान करता है।

शरीरमें रोग आने से आर्तध्यान होता है—ऐसा नहीं है। शरीर स्वस्थ हो तो धर्म होता है—ऐसा भी नहीं है। शरीर धर्मका साधन

नहीं है। आत्मामें शुभभाव होता है वह भी धर्मका साधन नहीं है; तब फिर शरीर साधन हो ऐसा कभी नहीं होता। श्री प्रवचनसार में आता है कि—मुनियों को शरीर नहीं छोड़ना चाहिये, असमय में शरीर-त्याग करने से असंयमी हो जाते हैं।—इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा शरीरको छोड़ सकता है; किन्तु वहाँ राग और वीत-राग भावका विवेक कराने के लिये निमित्तसे कथन किया है।

× × ×

कोई परद्रव्य भले–बुरे हैं ही नहीं, तथापि मानना वह मिथ्याबुद्धि है।

प्रश्न:—सम्यग्दृष्टि भी परद्रव्यों को बुरा जानकर उनका त्याग करता है।

उत्तर:—सम्यग्दृष्टि परद्रव्योंको बुरा नहीं जानता किन्तु अपने रागभावको बुरा जानता है। स्वयं सरागभावको छोड़ता है इसलिये उसके कारणों का भी त्याग होता है। वस्तुका विचार करने से कोई परद्रव्य तो भले बुरे हैं ही नहीं। परद्रव्य आत्माका एकरूप ज्ञेय है। एकरूपमें अनेक रूप कल्पना करके एक द्रव्यको इष्ट और दूसरे को अनिष्ट मानना वह मिथ्याबुद्धि है।

निमित्त के कारण भाव नहीं बिगड़ता।

प्रश्न:—परद्रव्य निमित्तमात्र तो है?

उत्तर:—पर द्रव्य बलात्कार से तो कुछ नहीं बिगाड़ता किन्तु अपने भावों को बिगाड़े तब वह भी बाह्य निमित्त है। पर द्रव्य से परिणाम बिगड़ें तो द्रव्य की परिणति स्वतंत्र नहीं रहती। स्वयं परि-

णाम बिगाड़े तो पर द्रव्य को निमित्त कहा जाता है। और निमित्त के विना भी भाव तो बिगड़ते हैं, इसलिये वह नियमरूप निमित्त भी नहीं है। निमित्त के कारण भाव नहीं बिगड़ते। श्री समयसार में आता है कि—अरतिभाव से मदिरा पिये तो पागलपन नहीं आता, किन्तु आत्मा स्वयं भाव बिगाड़े तो पर द्रव्य को निमित्त कहा जाता है।

यहाँ तीन बातें कही हैं—

१. परद्रव्य बलात्कार से भाव नहीं बिगाड़ता।

२. स्वयं भाव विगाड़े तो पर द्रव्य को निमित्त कहा जाता है।

३. निमित्त के विना भी आत्मा के भाव बिगड़ते हैं, इसलिये नियमरूप निमित्त भी नहीं है।

पंडितजी ने अपने घर की बात नहीं कही है। पहले कहा है कि मोती तो है; उसे जिसप्रकार माला में लगाते हैं, उसी प्रकार हम शास्त्र में कही हुई बात को लगाते हैं; अपने घर की बात नहीं करते।

निमित्त के विना भी भाव होते हैं। देखो, किन्हीं तीर्थंकर का जीव तीसरे नरक में से निकलता है तब क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि है और मनुष्य भव में उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व होता है, तब कोई निमित्त नहीं होता। निमित्त के विना क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। पुनश्च, कोई जीव स्वयं श्रुतकेवली होता है तो उसे अपने कारण क्षायिक-सम्यग्दर्शन होता है। किसी केवली या श्रुतकेवली को निमित्त होता भी नहीं है। इसलिये निमित्त के बिना भी भाव बिगड़ते या सुधरते हैं; इसलिये नियमरूप निमित्त भी नहीं है। पर द्रव्य का गुण-दोष देखना वह मिथ्याभाव है। मिथ्याभाव और रागद्वेष बुरे हैं कोई पर-

द्रव्य बुरा नहीं है—ऐसी समझ मिथ्यादृष्टि द्रव्य-लिंगी को नहीं है।

सच्ची उदासीनता।

द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि तो पर द्रव्य के दोष देखकर उस पर द्वेष रूप उदासीनता करता है, उसके सच्ची उदासीनता नहीं होती। पर-द्रव्य दोष का कारण नहीं है। पूजा में भी आता है कि—"कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई;" तथापि उसका विचार भी नहीं करते। अज्ञानी की उदासीनता में अकेला शोक ही होता है। एक पदार्थ की पर्याय में दूसरे पदार्थ की पर्याय अकिंचित्कर है; उसकी उसे खबर नहीं है; इसलिये परद्रव्य की पर्याय को बुरा जानकर द्वेष पूर्वक उदासीन भाव करता है। किन्तु परद्रव्य के गुण-दोषों का भासित न होना ही सच्ची उदासीनता है अर्थात् परद्रव्य गुण का या दोष का कारण है—ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। अपने को स्व-रूप और पर को पररूप जानना ही सच्ची उदासीनता है।

× × ×

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख कृष्णा ५ शनिवार, ता० ४-४-५३]

परवस्तु अपना परिणाम बिगाड़ने में समर्थ नहीं है।

कोई परवस्तु आत्मा के परिणाम बिगाड़ने में समर्थ नहीं है। भगवान के कारण गुण नहीं होता। अधःकर्मी आहार आया इसलिये परिणाम बिगड़े—ऐसा नहीं है। आत्मा स्वयं परिणाम बिगाड़े तो उसे निमित्त कहा जाता है और स्वयं परिणाम सुधारे तो भगवान को निमित्त कहा जाता है। शत्रु आया इसलिये द्वेष हुआ—ऐसा नहीं है। शरीर में बुखार आया इसलिये दुःख हुआ—ऐसा नहीं है। बुखार

के कारण आर्तध्यान हुआ—ऐसा मानना वह मिथ्यात्व है। शरीरमें निरोगता हो तो ध्यान कर सकूँ, गिरि गुफा में अच्छा ध्यान होता है—यह मान्यता झूठी है। उसने पर पदार्थ को भला-बुरा माना है। आत्मा का अनुभव करना वह गिरि गुफा है। परक्षेत्र आत्मा को गुणकारी नहीं है। परद्रव्य के कारण आत्मा में शांति रहती है—ऐसा मानना मूढ़ता है। अंतर्आत्मा में निमग्न हो जाना वह ध्यान है; वाह्य कारणों से ध्यान या शांति नहीं है। सोनगढ़ क्षेत्र के वातावरण से आत्मा में शांति होती है—यह बात भी मिथ्या है। ज्ञानी उसे भी ज्ञेयरूप से जानता है किंतु उससे लाभ-हानि नहीं मानता। पर के साथ मुझे कोई प्रयोजन नहीं है; मैं तो ज्ञायक हूँ और परपदार्थ ज्ञेय हैं—ऐसा वह मानता है।

निर्दोष आहार-जल का मिलना या न मिलना वह सब ज्ञाता का ज्ञेय है;—इसप्रकार ज्ञानी साक्षीभूत रहते हैं। परसे आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि नहीं है। आत्मा का प्रयोजन तो आत्मा से सिद्ध होता है;—ऐसी उदासीनता अज्ञानी के नहीं होती, ज्ञानी के ही होती है। मात्र वाह्य से उदासीन आश्रम में बैठ जाना वह कहीं सच्ची उदासीनता नहीं है। तीनलोकके नाथ सर्वज्ञ भगवान भी मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं और कुदेवादि हों तो वे भी मेरे ज्ञेय हैं। परके साथ ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है, किन्तु कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

पुनश्च, द्रव्यलिंगी उदासीन होकर शास्त्र में कहे हुऐ अणुव्रत, महाव्रतरूप व्यवहार चारित्र को अंगीकार करता है। एकदेश अथवा सर्व देश हिंसादि पापों को छोड़ता है और उनके बदले अहिंसादि

पुण्यरूप कार्यों में वर्तता है। मैं पर की हिंसा कर सकता हूं या दया पाल सकता हूँ—यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। बचाने का भाव हुआ इसलिये जीव बच गया—ऐसा नहीं है। आत्मा की इच्छा के कारण अपने शरीर की क्रिया नहीं होती; तब फिर उसके कारण परजीव बच जाये—ऐसा तीन काल में नहीं होता। शरीर में शरीरके कारण क्रमबद्ध क्रिया होती है और जीव बचने की क्रिया भी क्रमबद्ध उसके अपने कारण होना थी सो हुई है; किन्तु मेरे कारण वह क्रिया हुई है—ऐसा मानकर अज्ञानी अहंबुद्धि करता है; वह मिथ्या मान्यता है।

मुनि के शरीर के निमित्त से कदाचित् पैर के नीचे कोई जीव मर जाये, किन्तु उनके प्रमाद नहीं है इसलिये दोष नहीं लगता। शरीर के निमित्त से परजीव मरे या बचे—यह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। मैंने पींछी ऊँची की और उस क्रिया से जीव बच गया—यह मान्यता विष्णु को जगत्कर्ता माननेवाले जैसी है। मिथ्यादृष्टि को खबर नहीं है कि हाथ के कारण पींछी ऊँची नहीं होती; और पींछी ऊँची हुई इसलिये जीव बच गया ऐसा भी नहीं है। हाथ की और पींछी की क्रिया स्वयं अपने कारण हुई है; तथापि अज्ञानी जड़की क्रिया का अभिमान करता है।

श्री समयसारमें भी यही कहा है कि:—

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसावृताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥१९९॥

अर्थः—जो जीव मिथ्या अन्धकार से व्याप्त होकर अपने को पर्यायाश्रित क्रिया का कर्ता मानता है वह मोक्षाभिलाषी होने पर भी,

जिसप्रकार अन्यमती सामान्य मनुष्यों का मोक्ष नहीं होता उसी प्रकार उसका भी मोक्ष नहीं होता; क्योंकि कर्तापने की अपेक्षा दोनों समान हैं। जगत में जो पदार्थ हैं उनका कोई कर्ता नहीं है, और जो पदार्थ नहीं हैं उनका कर्ता भी नहीं है। जो पदार्थ हैं उनकी परिणाम शक्तिसे ही हर समय नयी नयी पर्यायें होती है, उसका कर्ता दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है। दूसरा पदार्थ उसका कर्ता हो तो उस पदार्थ की अस्ति नहीं रहती; इसलिये जो कोई शरीरादि पर द्रव्य का कर्त्ता होता है वह जगत्कर्ता ईश्वर की मान्यतावाले की भाँति हुआ। मुनि या श्रावक नाम धारण करके माने कि मेरी इच्छा से हाथ चला, तो अन्यमती की भाँति उसका भी मोक्ष नहीं होता।

किसी परद्रव्यकी पर्यायका मैं कर्ता हूँ। सर्व पदार्थोंकी क्रिया उनके अपने कारण स्वतंत्ररूपसे होती है;—ऐसा माने तो सम्यक् नियतवाद हो और आत्मामें सम्यग्दर्शन हो।—यह सार है, किन्तु अज्ञानी वाह्य क्रियामें मग्न है, वह परमें अहंबुद्धि करता है। स्वयं श्रावक धर्म अथवा मुनिधर्मकी क्रियामें निरन्तर मन—वचन—कायाकी प्रवृत्ति रखता है। उस क्रियामें भंग न हो तदनुसार वर्तता है, किन्तु ऐसे भाव तो सराग हैं और चारित्र तो वीतरागभावरूप है। इसलिये ऐसे साधनको मोक्षमार्ग मानना वह मिथ्याबुद्धि है।

महाव्रतादि प्रशस्तराग चारित्र नहीं है किन्तु चारित्र में दोष है।

प्रश्न:—तब फिर सराग और वीतराग भेद से दो प्रकार से चारित्र कहा है वह कैसे ?

उत्तर:—जैसे—चावल दो प्रकार के हैं, एक तो छिलका सहित

और दूसरे छिलका रहित। अब, वहाँ ऐसा जानना चाहिये कि जो छिलका है वह चावलका स्वरूप नहीं है, किन्तु चावलमें दोष है। कोई चतुर व्यक्ति छिलके सहित चावलका संग्रह करता था; उसे देखकर कोई भोला आदमी छिलकों को चावल मानकर संग्रह करे तो निरर्थक खेद खिन्न होगा। उसीप्रकार चारित्र दो प्रकार के हैं— एक सराग और दूसरा वीतराग। वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जो महाव्रतादि शुभराग है वह चारित्रका स्वरूप नहीं है, किन्तु चारित्रमें दोष है। पंचमहाव्रत चारित्र नहीं है, आश्रव है जो बन्धके कारण है। और बाह्यसे नग्नदशा वह चारित्र नहीं है। अज्ञानी लँगोटीका त्याग करके छट्ठा गुणस्थान हुआ मानता है, किन्तु ऐसा नहीं है आत्माका चारित्र परमें तो नहीं होता किन्तु नग्नदशाका विकल्प भी चारित्र नहीं है, वह तो चारित्रमें दोष है। अब, कोई ज्ञानी प्रशस्त रागसहित चारित्र धारण करता है; उसे देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्तरागको ही चारित्र मानकर संग्रह करे तो वह निरर्थक खेद खिन्न ही होगा। देखादेखी व्रत धारण करले तो वह कहीं चारित्र नहीं है। ज्ञानी तो जितना वीतरागभाव है उसीको चारित्र मानते हैं; अज्ञानी व्रतको चारित्र मानते हैं किन्तु वह सच्चा चारित्र नहीं है।

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख कृष्णा ६ रविवार ता० ५–४–५३]

बाह्यमें त्यागीका वेश और क्रिया देखकर उसे चारित्र मान लेता है वह अज्ञानी है, कितने ही जीव तत्त्वज्ञानके बिना बाह्यसे आचरण करते हैं, किन्तु उसका वह सारा आचरण मिथ्या है; उससे कोई लाभ नहीं है। ज्ञानीके भी मन्दकषायरूप आचरण होता है,

मुनिके महाव्रतादि होते हैं, उन्हें देखकर अज्ञानी मन्दकषायरूप आचरणमें ही धर्म मानकर उनकी भाँति आचरण करता है किन्तु वह मिथ्या है, उससे उसे शांति प्राप्त नहीं होती।

अब प्रश्न करते हैं कि—पापक्रिया करने से तो तीव्र कषाय होती है और शुभक्रियामें मन्दकषाय होती है; इसलिये जितना राग कम हुआ उतना तो चारित्र कहो! और इसप्रकार उसके सराग चारित्र सम्भवित हो।

तत्त्वज्ञानपूर्वक व्रतादि को सरागचारित्र कहा जाता है।

समाधानः—यदि तत्त्वज्ञानपूर्वक तदनुसार हो, तब तो जैसा कहते हो वैसा ही है; किन्तु जिसे तत्त्वज्ञान हुआ नहीं है; उसे मैं पर जीवोंकी दया-रक्षण या नाश नहीं कर सकता; मैं परसे भिन्न हूँ; शुभराग भी हितकर नहीं है; राग मेरा स्वभाव नहीं है,—उसकी यथावत् खबर नहीं है, इसलिये उसके चारित्र नहीं होता। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है उसकी जिसे स्वानुभूति नहीं है—ऐसे जीवको तत्त्वज्ञान नहीं है। इसलिये पञ्चमहाव्रतादि मन्दकषायरूप आचरण होने पर भी उसे चारित्र नहीं है।

साततत्त्वोंका भावभासन होना वह सम्यग्दर्शन है प्रथम मिथ्या अभिप्राय रहित निर्विकल्प स्व-संवेदन सहित साततत्त्वोंके भावका भासन होना चाहिये। मन्दकषायरूप शुभराग है वह भी विष है; क्योंकि वह आत्माके अमृतमय स्वादको लूटनेवाला है। आत्मा सह-जानन्द स्वरूप है। आनन्दसे विपरीत अवस्था विषरूप है—ऐसा भान जिसे वर्तता है वैसे जीवको अणुव्रत महाव्रतादिका शुभभाव हो उसे

व्यवहारसे चारित्र कहा जाता है। स्वभावके आश्रयसे राग कम हुआ है उतना तो चारित्र है और जो राग रहा है वह दोष है—ऐसा ज्ञानी जानता है। अज्ञानी साततत्त्वोंके स्वरूपको नहीं जानता, मात्र सात तत्त्वोंकी धारणा करता है, वह तोतेकी भाँति मुखपाठी है। तोता राम–राम कहता है किन्तु उसे खबर नहीं है कि राम कौन है। आत्मामें रमण करे वह राम है। ज्ञानीको साततत्त्वोंका भाव-भासन है; सातों तत्त्व भिन्न–भिन्न स्वतंत्र हैं, स्व-सन्मुख ज्ञानके बलसे साततत्त्वोंका निर्णय किया है वह सम्यग्दर्शन है। जो तत्त्वज्ञानके बिना आचरण करता है उसे मन्दकषायसे मुझे लाभ होता है—यह वासना नहीं छूटती। रागभाव करने का अभिप्राय अज्ञानीके नहीं मिटता। व्यवहारमें लगे रहो तो निश्चय प्रगट हो जायेगा—ऐसी वासना उनके अन्तरमें रहती है। वह अब कहते हैं।



१०

द्रव्यलिंगीके अभिप्रायका अयथार्थपना

द्रव्यलिंगी मुनि राज्यादिक छोड़कर निर्ग्रंथ होते हैं। हजारों रानियों को त्यागकर त्यागी बनते हैं। अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन करते हैं। अपने लिये आहारादि तैयार किये हों तो नहीं लेते; उग्र तपश्चरण करते हैं। आजकल तो आहारादि उन्हीं के लिये बनते हैं और वे जान बूझकर लेते हैं, इसलिये उनके द्रव्यलिंगका भी ठिकाना नहीं है। देखो, यहाँ किसी व्यक्ति विशेष की बात नहीं है। शास्त्र कहते हैं वैसा व्यवहार भी न हो और माने कि हम व्यवहार चारित्र का पालन करते हैं, तो वह स्थूल मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो भलीभांति अट्ठाईस मूल गुणोंका पालन करता है उसकी बात है; किन्तु उस मंदकषायसे आत्माका कल्याण हो जायेगा—ऐसी गहरी वासना उसके होती है, वह अभिप्राय नहीं छूटता, इसलिये वह मिथ्या-दृष्टि है।

तत्त्वज्ञान के बिना द्रव्यलिंगी कषाय का पोषण करता है।

जैनमार्ग में प्रतिज्ञा न ले उसका दण्ड नहीं है; किन्तु प्रतिज्ञा लेकर भंग करना तो महा पाप है। द्रव्यलिंगी छह-छह महीने के उप-वास करता है, क्षुधादि बाईस परीषह सहन करता है, शरीरके टुकड़े टुकड़े करने पर भी कषाय नहीं करता; किंतु कषाय की मंदता शांति का कारण है—ऐसी वासना उसके नहीं छूटती। परीषह के समय मानता है कि मेरे पाप का उदय है, इसलिये यह प्रतिकूल संयोग

मिले हैं—इसप्रकार कोमलता करता है; किन्तु उस कोमलता में ही धर्म मानता है; व्रतभंग के अनेक कारण आने पर भी दृढ़ रहता है; दूसरे देवलोक की इन्द्राणी चलित करने आये तथापि ब्रह्मचर्य से चलित नहीं होता; किसीपर क्रोध नहीं करता; मेरे कर्म के उदय से यह सब हुआ है—ऐसा मानकर क्रोध नहीं करता; मंदकषाय का अभिमान नहीं करता; कपट से साधन नहीं करता; तथा उन साधनों द्वारा इहलोक-परलोक के विषय सुखकी इच्छा नहीं करता;—ऐसी द्रव्यलिंगी की दशा होती है। यदि ऐसी दशा न हुई हो तो नववें-ग्रैवेयक तक कैसे पहुँच सकता है? तथापि उसे शास्त्र में मिथ्यादृष्टि—असंयमी ही कहा है, क्योंकि उसे तत्त्व का सच्चा श्रद्धान ही नहीं है। तत्त्वज्ञान पूर्वक जो श्रद्धान होना चाहिये वह उसके नहीं है। सात तत्त्वों को भिन्न न जानकर एक का अंश दूसरेमें मिलाता है। पहले जैसा वर्णन किया है वैसा तत्त्व का श्रद्धान–ज्ञान उसे हुआ है और उसी अभिप्राय से सह सर्व साधन करता है। अब, उन साधनों के अभिप्राय की परम्परा का विचार करें तो उसे कषायों का अभिप्राय आता है। ज्ञानीके परद्रव्य की क्रिया करने वा न करने की बात तो है ही नहीं; किन्तु उसके अपनी पर्याय में अशुभ राग हटाऊँ और शुभ राग को उत्पन्न करूँ ऐसा भी अभिप्राय नहीं है। परन्तु आत्मा स्वसन्मुख ज्ञातारूप से रहे यही अभिप्राय है।—ऐसे निर्णय के बिना द्रव्यलिंगी जो भी साधन करता है उनमें मात्र कषाय का ही पोषण है।

द्रव्यलिंगी मुनि की बाह्य क्रिया ऐसी होती है कि—जगत को तो ऐसा लगे कि यह तो बड़े महात्मा हैं तारनहार हैं, भारतवर्ष इस-

प्रकार त्याग के नाम पर ठगा गया है; किन्तु यथार्थ तत्त्वज्ञान क्या वस्तु है उसकी उसे खबर नहीं है। तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, इसलिये स्थान-स्थान पर ऐसा कहा है कि द्रव्यलिंगी को तत्त्व का ज्ञान नहीं है।

सर्वज्ञ के मार्ग के साथ किसी भी धर्म का समन्वय नहीं हो सकता। जैन अर्थात् स्वतंत्र वस्तु स्वभाव का कथन करने वाला।

द्रव्यलिंगी पाप के कारण को हेय जानकर छोड़ता है; किन्तु पुण्य के कारण प्रशस्त राग को उपादेय मानता है; तथा उसकी वृद्धि का उपाय करता है। अब, प्रशस्त राग भी कषाय ही है। जिसने कषाय को उपादेय माना उसे कषाय करने का ही श्रद्धान हुआ। शुभ-राग की वृद्धि करने में ही वह रुक जाता है। यहाँ तो जिसका व्यवहार सच्चा है, किंतु उससे धर्म मानता है—उस सूक्ष्म मिथ्यादृष्टि की बात कही है। जो जीव अन्य मत के साथ जैनमत की तुलना करते हैं वे तो व्यवहार से भी जैन धर्म को नहीं मानते। वह तो रेशमी वस्त्र के साथ टाट की तुलना करने जैसा है; सूझते की साथ अंधे की होड़ करने जैसा है। सर्वज्ञ के मार्ग के साथ किसी भी धर्म का समन्वय है ही नहीं; जैन तो स्वतंत्र वस्तु स्वभाव का कथन करनेवाला है। "एक होय त्रणकालमां परमारथनो पंथ।" द्रव्यलिंगी का अभिप्राय अप्रशस्त द्रव्यों से द्वेष करके प्रशस्त द्रव्यों में राग करने का है, किन्तु परद्रव्यों में साम्यभावरूप अभिप्राय उसके नहीं होता।

ज्ञानी किसी भी पर पदार्थ को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानता। चक्र-

वर्ती वंदना करें किन्तु अंतर में मान नहीं होता;—ऐसे तत्त्वज्ञानपूर्वक ज्ञानी के साम्यभाव होता है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने "अपूर्व अवसर" में कहा है कि;—

बहु उपसर्ग कर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहि,
वंदे चक्री तथापि न मले मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो।

अपूर्व अवसर.........

प्रश्न—तो क्या सम्यग्दृष्टि भी प्रशस्त रागका उपाय रखते हैं?

उत्तर—जैसे—किसी को बहुत बड़ा दण्ड होता था, वह अब बचकर थोड़ा दण्ड देने का उपाय रखता है, तथा थोड़ा दण्ड देकर हर्षित होता है; किन्तु श्रद्धानमें तो दण्ड देने को अनिष्ट ही मानता है। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि भी मंदकषाय का उपाय रखता है, वह उपदेश का कथन है, सिद्धान्त ऐसा नहीं है। जिसके स्वभावदृष्टि हुई है, उसके मंदकषाय सहज ही होती है। सम्यग्दृष्टिके पापरूप अधिक कषाय होती थी, वह अब पुण्यरूप अल्पकषाय करने का उपाय रखता है, तथा अल्प कषाय होने पर हर्षित भी होता है, किन्तु श्रद्धानमें तो कषायको हेयरूपी ही मानता है।

शुभभाव ज्ञानी को दण्ड समान है; मिथ्यादृष्टि को व्यापार समान है।

यहाँ तो, जो अट्ठाईस मूलगुणों का यथार्थतया पालन करे उसे द्रव्यलिंगी कहा है। वस्त्र-पात्र रखे और मुनिपना मनाये वह तो द्रव्यलिंगी नहीं है। नग्न होकर भी अट्ठाईस मूलगुण यथार्थ न पाले, तो वह भी द्रव्यलिंगी नहीं है।

द्रव्यलिंगी तो व्यवहार का अच्छीतरह पालन करता है; उसे मोक्ष का कारण जानकर प्रशस्त राग का उपाय रखता है और उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है;—इसप्रकार प्रशस्त राग के उपाय में अथवा उसके हर्ष में समानता होने पर भी सम्यग्दृष्टि को तो वह दंड समान है और मिथ्यादृष्टि को व्यापार समान श्रद्धान है। देखो, यहाँ पण्डितजी ने घर की बात नहीं कही है, किन्तु यथार्थ बात कही है। किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष बुद्धि नहीं है। पापीके प्रति द्वेष नहीं होता, किन्तु पाप कैसा होता है उसका वर्णन ज्ञानी करते हैं। सम्यग्दृष्टि तो अट्ठाईस मूलगुण के राग को दण्ड मानता है; अज्ञानी उसे लाभ मानता है, इसलिये अभिप्राय में पूर्व–पश्चिम जितना अन्तर है।

पुनश्च, परीषह तपश्चरणादि के निमित्त से दुःख होता है—उसका इलाज तो ज्ञानानन्दमें लीनता है उसे द्रव्यलिंगी करता नहीं है। दुःख सहना तो कषाय ही है। जहाँ वीतरागता होती है वहाँ तो जिसप्रकार अन्य ज्ञेय को जानते हैं उसी प्रकार दुःख के कारण ज्ञेय को भी जानते हैं;—ऐसी दशा तो उसके हुई नहीं है। ज्ञानी के परीषह का संयोग आया देखकर वे प्रतिकूल संयोग के कारण दुःखी हैं—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। मुनि परीषह के समय भी अंतर्-शांति में रमण करते हैं; मन से पृथक् होकर अंतरंग आनंद में लीन हो जाते हैं—ऐसी मुनि दशा होती है।

मिथ्यादृष्टि को ऐसी अंतर्शांति–निर्विकल्प दशा कभी नहीं होती। इष्ट-अनिष्ट सामग्री पर जिसकी दृष्टि है, उसके तो आर्तध्यान होता है; इसलिये उसके मंद कषाय भी नहीं होती। वीतरागभाव हो तो वह जिसप्रकार अन्य ज्ञेयों को जानता है उसीप्रकार परीषह का

भी ज्ञाता रहे, किंतु ऐसी दशा मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी के नहीं होती।

अज्ञानी मानता है कि "मैंने परवशता पूर्वक नरकादि गति में अनेक दुःख सहन किये हैं; यह परीषहादि का दुःख तो अल्प है; उसे यदि स्ववशरूप से सहन किया जाये तो स्वर्ग-मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। परीषह सहन न करूँ और विषय सुख भोगूँ तो महान दुःख होगा।" जिसने परीषहमें दुःख माना है उसने तो पर द्रव्य को दुःख का कारण माना है; इसलिये उसे परीषह में अनिष्ट बुद्धि हुए बिना नहीं रहती। परीषह तो ज्ञान का ज्ञेय है, वह इष्ट-अनिष्ट नहीं है, तथापि उसमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करना वह मिथ्यात्व नामका कषाय ही है।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख कृष्णा ७ सोमवार ता० ६-४-५३]

द्रव्यलिंगी वास्तव में कर्म और आत्मा को भिन्न नहीं मानता।

पुनश्च, द्रव्यलिंगी को ऐसा विचार होता है कि—जो कर्म बांधे हैं वे भोगे बिना नहीं छूटते। वह कर्म और आत्मा को भिन्न नहीं मानता। कर्म का फल आत्मा में मानता है और आत्मा कर्मों को भोगता है—ऐसा मानता है। कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं है; इसलिये मुझे सहन करना चाहिये—ऐसे विचार से कर्म फल चेतना-रूप वर्तता है। श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, उनके नरक में जाने का भाव नहीं था, तथापि कर्मों के कारण जाना पड़ा—ऐसा अज्ञानी जीव मानता है। श्रेणिक राजा वास्तव में तो अपनी योग्यता के कारण नरक में गये हैं, किन्तु आयु कर्म के कारण नहीं गये हैं।

आत्मा कर्मों को भोगता है—ऐसा मानकर अज्ञानी हर्ष-शोकमें एकाकार होता है। आत्मा ज्ञायक चैतन्य मूर्ति है; उसमें शांति भरी है;—उसकी जिसे दृष्टि नहीं है वह कर्म फल चेतनारूप परिणमित होता है।

पुनश्च, वह राज्यादिक विषय सामग्रीका त्याग करता है। अच्छे मिष्टान्नादि का भी त्याग करता है; किन्तु वह तो जिसप्रकार कोई दाहज्वर वाला वायु होने के भय से शीतल वस्तु के सेवन का त्याग करता है उसीप्रकार हुआ; किन्तु जबतक उसे शीतल वस्तुका सेवन रुचता है तबतक उसके दाह का अभाव नहीं कहते। उसीप्रकार राग सहित जीव नरकादि के भय से विषय सेवनका त्याग करता है; किंतु जब तक उसे विषय सेवन की रुचि है, तबतक उसके रागका अभाव नहीं कहते। अंतर में विषय की प्रीति उसके नहीं छूटती। आत्मा के आनन्द की रुचि हो तो विषय की रुचि छूटे बिना न रहे।

बाह्य में त्याग किया है किन्तु अंतरंग में विषय की मिठास नहीं छूटी है, इसलिये उसके राग का अभाव नहीं हुआ है। जैसे—अमृत के आस्वादी देव को अन्य भोजन स्वयं नहीं रुचता; उसीप्रकार आत्मा के आस्वादी ज्ञानी को विषय सेवन की रुचि नहीं होती। स्वर्गके देव मिठाई आदि का भोजन नहीं करते, उसीप्रकार धर्मी को आत्मा के आनन्द का रस होता है; इसलिये वास्तव में उसे विषय सेवन की रुचि नहीं होती।—इसप्रकार फलादि की अपेक्षा से परीषह सहने आदि को वह सुख का कारण जानता है तथा विषय सेवनादि को दुःख का कारण समझता है; किन्तु पर द्रव्य सुख-दुःख का कारण नहीं है, ज्ञाता का ज्ञेय है—ऐसा वह नहीं मानता। विषय सेवन

छोड़ने से दुःख छूटता है—ऐसा नहीं है। द्रव्यलिंगी राज्यादि छोड़ देता है किंतु उसके दुःख का अभाव नहीं होता, क्योंकि ज्ञायक मूर्ति आत्मा पर से और राग से भिन्न अमृतमय है, उसकी उसे रुचि नहीं है; इसलिये उसके कषायरूपी दुःख का अभाव नहीं हुआ है।

प्रत्येक पदार्थ की पर्याय क्रमबद्ध होती है—ऐसा जो नहीं मानता वह जैन नहीं है, क्योंकि उसने सर्वज्ञ को भी नहीं माना है। पर द्रव्य की पर्याय बदली नहीं जा सकती—ऐसी बुद्धि जब तक न हो तब तक पर की रुचि नहीं छूटती। अज्ञानी वर्तमान में परीषह सहन आदि से दुःख मानता है तथा विषय सेवनादि से सुख मानता है और उसके फल में दुःख मानता है। पुनश्च, परीषह सहन में दुःख और उसके फल में सुख मानता है; तो जिससे सुख-दुःख माने उसमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से राग द्वेष रूप अभिप्राय का अभाव नहीं होता।

द्रव्यलिंगी साधु असंयत सम्यग्दृष्टि तथा देशसंयत की अपेक्षा हीन है।

योगीन्द्र देव कहते हैं कि अज्ञानी चार गतियों में अपने कारण दुःखी हो रहा है। अज्ञानी को पर द्रव्य में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि है इसलिये उसके चारित्र नहीं होता। द्रव्यलिंगी विषय सेवन छोड़कर तपश्चरणादि करता है तथापि वह असंयमी है। सिद्धान्त में असंयत अर्थात् अविरति सम्यग्दृष्टि और देशसंयत अर्थात् पाँचवें गुणस्थान वाले श्रावक की अपेक्षा द्रव्यलिंगी मुनि को हीन कहा है; क्योंकि उसके पहला गुणस्थान है। द्रव्यलिंगी दिगम्बर साधु नव कोटि से ब्रह्मचर्य का पालन करे, मंद कषाय करे, किन्तु आत्मा का यथार्थ

भान नहीं है, इसलिये उसे चौथे–पाँचवें गुणस्थानवाले ज्ञानी की अपेक्षा हीन कहा है।

प्रश्न—–असंयत–देशसंयत सम्यग्दृष्टि के कषायों की प्रवृत्ति होती है। ज्ञानी के राजपाट होता है; कदाचित् युद्ध में लगा हो– ऐसी कषायों की प्रवृत्ति होती है और द्रव्यलिंगी के वह प्रवृत्ति नहीं होती। द्रव्यलिंगी मुनि ग्रैवेयक तक जाता है और चौथे-पाँचवें गुण-स्थान वाला ज्ञानी सोलहवें स्वर्ग तक जाता है; तथापि उसकी अपेक्षा द्रव्यलिंगी को हीन क्यों कहा ? द्रव्यलिंगी को भावलिंगी से हीन कहो, किन्तु चौथे गुणस्थानवाले की अपेक्षा हीन क्यों कहते हैं ?

समाधान:—–असंयत–देशसंयत सम्यग्दृष्टि के कषायों की प्रवृत्ति तो है, किन्तु उसके श्रद्धान में कोई भी कषाय करने का अभिप्राय नहीं है। पर्याय में कषाय होती है उसे वह हेय मानता है। द्रव्यलिंगी के तो शुभ कषाय करने का अभिप्राय होता है और श्रद्धान में उसे अच्छा भी जानता है। ज्ञानी और अज्ञानी के अभिप्राय में महान अन्तर है। अज्ञानी मंद कषाय को उपादेय मानता है इसलिये उसके एक भी भव का नाश नहीं होता। सम्यग्दृष्टि कषाय को हेय मानता है, इसलिये उसने अनन्त भवका नाश किया है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा चौथे तथा पाँचवें गुणस्थानवाले ज्ञानीकी अपेक्षा द्रव्यलिंगी को हीन कहा है। द्रव्यलिंगी को वैराग्य भी बहुत होता है, किंतु अभ्यन्तर में कषाय पर दृष्टि है; अकषाय स्वभाव की दृष्टि उस के नहीं है इसलिये वह मंद कषायरूप परिणामों को उपादेय मानता है। ज्ञानी और अज्ञानी के अभिप्राय में पूर्व-पश्चिम का अंतर है इस-

लिये ज्ञानी की अपेक्षा द्रव्यलिंगी मुनि के कषाय अधिक है—ऐसा कहा है। **मिथ्यादृष्टियों में कषाय की मंदता होती है किन्तु कषाय का अंशमात्र अभाव नहीं होता है कारण कि—निमित्त और पराश्रय से (-व्यवहार से) कल्याण मानता ही है।**

वह कषायकी मंदतापूर्वक योगप्रवृत्ति करता है, उसके द्वारा अघातिमें पुण्यबंध बाँधता है, किन्तु घातिका पाप बंध तो ज्यों का त्यों होता है। बाह्य संयोगों में फेर पड़ता है किन्तु अंतरंग शांति नहीं होती; इसलिये उसके आत्माको लाभ नहीं है। जिसे सत्य वस्तु समझने में भी डर लगता है उसका सच्चा अभिप्राय नहीं हो सकता। समाज से निकाल देंगे, आहार नहीं मिलेगा—ऐसा जिसे डर है उसके सच्चा अभिप्राय नहीं होता। यहाँ तो कहते हैं कि द्रव्यलिंगी पंचमहाव्रतका पालन करके अंतिम ग्रैवेयक तक जाये और सम्यग्दृष्टि कदाचित् प्रथम स्वर्गमें या नरकमें जाये, किन्तु यह तो बाह्य संयोगोंकी बात है। सम्यग्दर्शन पूर्वक कदाचित् नरकमें जाना भी अच्छा है और मिथ्यात्वसहित अंतिम ग्रैवेयक में जाये, तो भी बुरा है। क्षेत्र से ऊपर गया, वह तो जिसप्रकार मक्खी ऊपर उड़ती है, वैसा है।

यथार्थ श्रद्धान–ज्ञानपूर्वक घाति कर्मोंका अभाव करना वह कार्यकारी है। अघातिमें फेर पड़े वह कहीं कार्यकारी नहीं है। आत्माके गुणोंका घात न हो वह लाभका कारण है। अघाति कर्मोंका उदय आत्माके गुणों का घात करने में निमित्त नहीं है, वह तो मात्र बाह्य संयोग देता है, इसलिये जिस भावसे घाति कर्मोंका नाश हो वह कार्य करना अच्छा है।

इस समय तो निमित्त–उपादानकी इतनी स्पष्ट बात आई है कि त्यागी और पण्डित लोग अपनी मान्यताका आग्रह रखकर कुतर्क द्वारा भी अपनी बात सिद्ध करना चाहते हैं। अष्टसहस्री आदि में आता है कि–निमित्तसे आत्माकी पर्याय होती है—ऐसा वे कहते हैं; किन्तु यह बात मिथ्या है। आत्माकी पर्यायमें अपने कारण हीनदशा होती है अर्थात् घात होता है, तब घातिकर्मों को निमित्त कहा जाता है; किन्तु घातिकर्मोंके कारण आत्माके गुणोंका घात होता है ऐसा नहीं है। नैमित्तिक पर्याय अपने से होती है, तब निमित्तमें आरोप आता है। यदि अपनी ज्ञानादि पर्यायमें सर्वथा हीनता न होती हो, तब तो केवलज्ञानादि हो; किन्तु हीनपर्याय है उसमें कर्म निमित्त है, वह बात यथार्थ है। निमित्त है अवश्य, किन्तु वह उपादानमें प्रविष्ट नहीं हो जाता, और न उसमें कोई कार्य करता है।—इस बात का प्रथम यथार्थ ज्ञान करना चाहिये।

अब, घातिकर्मोंका बंध बाह्य प्रवृत्ति अनुसार नहीं है, किन्तु अंतरंग कषाय अनुसार होता है। इसलिये द्रव्यलिंगी की अपेक्षा असंयत–देश संयत सम्यग्दृष्टिको घातिकर्मोंका अल्प बंध है; मिथ्यादृष्टि को घातिकर्मोंका अधिक बंध है। ज्ञानीके मिथ्यात्व नहीं है, इसलिये अमुक घातिकर्मोंका बंध नहीं है, और अज्ञानी को घातिकर्मोंका पूर्ण बंध है; इसलिये द्रव्यलिंगीको हीन कहा है।

देखो, यहाँ व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टिका स्वरूप चल रहा है। व्यवहार-क्रियाकाण्ड करता है, किन्तु आत्मा कौन है—उसकी जिसे खबर नहीं है ऐसे द्रव्यलिंगी की अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टि उच्च है—ऐसा कहा है। द्रव्यलिंगी मोक्षमार्गमें नहीं है और सम्यग्दृष्टि मोक्ष-

मार्गमें है। द्रव्यलिंगी बाह्यमें व्रतादि पालन करता है तथापि वह बंध मार्गमें है। अभ्यन्तरमें मिथ्यात्व कषाय भरा है। सम्यग्दृष्टिके अभ्यंतर मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायका नाश हुआ है।

द्रव्यलिंगीके सर्व घातिकर्मोंका अधिक स्थिति–अनुभागसहित बंध है, क्योंकि अंतरमें संयोगी दृष्टि नहीं छूटी है; और सम्यग्दृष्टिको घातिकर्मोंमें दर्शनमोहका तथा अनंतानुबंधीका बंध नहीं होता; क्योंकि अंतरमें आत्माका भान वर्तता है; और पाँचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरणीयका बंध नहीं होता; दूसरा जो बंध होता है उसमें अल्प स्थिति और अल्प अनुभाग होता है। द्रव्यलिंगीके कभी भी गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है; सम्यग्दृष्टिके किसी समय गुणश्रेणी निर्जरा होती है और देश सकल संयम होने पर निरंतर होती है इसलिये उसके मोक्षमार्ग हुआ है; इसीसे द्रव्यलिंगी मुनिको शास्त्रमें असंयत-संयत सम्यग्दृष्टिसे हीन कहा है।

संयोगदृष्टिवाले को कभी धर्म नहीं होता।

द्रव्यलिंगी पंचमहाव्रतादिका पालन करता है, किंतु आत्मामें अभ्यंतर दृष्टि नहीं है; इसलिये उसे गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती। आत्माका गुण अंशमात्र भी प्रगट नहीं हुआ है। प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणुकी पर्याय स्वतंत्र होती है। एक सत् के अंशसे दूसरे सत्का अंश हो ऐसा नहीं हो सकता; इसलिये निमित्तके कारण नैमित्तिक-पर्याय हो—ऐसा तीनकालमें नहीं हो सकता। निमित्त भी उसकी अपनी पर्यायकी अपेक्षा से उपादान है, इसलिये वह अपना कार्य करता है—ऐसी दृष्टि उसके नहीं हुई है; उसे कभी धर्म नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि के बिना गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती। संयोगदृष्टि और स्वभावदृष्टि—दोनों में पूर्व–पश्चिम जितना अंतर है। द्रव्यलिंगीको संयोगीदृष्टि है इसलिये उसे कदापि धर्म नहीं होता।

आत्मा ज्ञायक चिदानन्द है; वह किसी भी द्रव्यक्षेत्र-काल-भाव में हो, तथापि स्वतंत्र है।—ऐसी दृष्टि जिसके नहीं हुई है उसे किसी कालमें धर्म नहीं होता। मैं निमित्त होऊं तो दूसरा धर्म प्राप्त करे, और दूसरा निमित्त हो तो मुझमें धर्म हो—यह मान्यता मिथ्या-दृष्टि की है।

आत्मा ज्ञानानंद स्वरूप है, उसकी पर्यायमें जो व्रतादि के शुभ भाव होते हैं, वह उसका यथार्थ स्वरूप नहीं है—ऐसी दृष्टि पूर्वक जिसके अन्तरमें लीनता हुई है वह भावलिंगी मुनि है और उसके बाह्य में यथार्थ द्रव्यलिंग होता है।

ज्ञानकी क्रिया आत्माकी है, रागकी क्रिया आत्माकी नहीं है। अज्ञानी कहता है कि रागकी क्रिया करनी पड़ती है; उसके रागकी रुचि नहीं छूटी है। ज्ञानीको आत्माके भानपूर्वक दयादिके शुभभाव आ जाते हैं, किन्तु उन्हें करना नहीं पड़ता। द्रव्यलिंगीको रागकी रुचि होती है, इसलिये शास्त्रमें उसे सम्यग्ज्ञानीकी अपेक्षा हीन कहा है। श्री समयसारमें द्रव्यलिंगी मुनिकी हीनता गाथा, टीका और कलशमें प्रगट की है, क्योंकि वह बाह्य क्रियामें सावधान रहता है। श्री पंचास्तिकायकी टीकामें भी जहाँ, मात्र व्यवहारावलम्बीका कथन किया है, वहाँ व्यवहार पंचाचारका पालन करने पर भी उसका हीन-पना ही प्रगट किया है। जिसके निमित्तसे आत्माकी यथार्थ बात सुनी हो, जिसके पाससे न्याय प्राप्त हुआ हो उसकी विनय न करे

तो वह व्यवहारसे निह्नव है—चोर है। यहाँ तो, पंचाचाररूप व्यवहारमें विनय भी करता है, तथापि आत्माकी निश्चय विनय नहीं जानी है, इसलिये उसे हीन कहा है।

संसारतत्त्व कौन ?

श्री प्रवचनसार* में भी द्रव्यलिंगीको संसारतत्त्व कहा है। रागसे धर्म और परसे लाभ-हानि मानना वह संसारतत्त्व है। त्रस पर्यायकी उत्कृष्ट दो हजार सागरकी स्थिति है वह पूर्ण करके वह निगोदमें चला जाता है। मुनिपना पालन करे, तथापि उसे संसारतत्त्व कहा है। आत्मा अपनी अनंत शक्तिसे परिपूर्ण है, ऐसी दृष्टि जिसे नहीं हुई है वह द्रव्यलिंगी नग्न मुनि हो, श्रावकत्वका पालन करे, शुभभाव करे, किन्तु अंतर्दृष्टि नहीं है इसलिये वह संसार तत्त्व है। सम्यग्दर्शनरूपी भूमिके बिना व्रतरूपी वृक्ष नहीं होता। मिथ्यादृष्टि क्रियाकाण्ड करता है, किन्तु वह अरण्यरोदन के समान व्यर्थ है। उसे आत्माका किंचित् भी लाभ नहीं होता। परमात्मप्रकाश आदि दूसरे शास्त्रोंमें भी इस बातका स्पष्टीकरण किया है आत्माके भान बिना जप, तप, शील, संयमादि क्रियाओंको अकार्यकारी बतलाया है। व्यवहार करते-करते निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।—ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टिकी है।—इसप्रकार मात्र व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टिका वर्णन किया।

अब, जो निश्चय-व्यवहार दोनों नयों के आभासका अवलम्बन लेता है—ऐसे मिथ्यादृष्टिका वर्णन करते हैं।

---

* प्रवचनसार गाथा : २७१

११

निश्चय-व्यवहारनयाभासावलम्बी मिथ्यादृष्टियों का स्वरूप

जो जीव ऐसा मानता है कि जिनमतमें निश्चय—व्यवहार दो नय कहे हैं, इसलिये हमें उन दोनों नयोंको अंगीकार करना चाहिये; तो उसकी यह मान्यता मिथ्यात्व है। भगवान ने दो नय कहे हैं। कभी निश्चयनय और कभी व्यवहारनय,—इसप्रकार दोनों नयोंको अंगीकार करना चाहिये क्योंकि भगवानका मार्ग अनेकान्त है; एकान्त नहीं करना चाहिये—ऐसा मिथ्यादृष्टि मानता है; किंतु वह व्यवहार नयके अंगीकारका अर्थ नहीं समझता। आत्माकी पर्यायमें राग होता है उसे जानना वह व्यवहारनयका अंगीकार है। आत्मामें अल्पज्ञान की पर्याय है उसे जानना कि मेरी पर्याय अल्पज्ञानरूप है वह व्यवहारनय है। रागके आदरको अज्ञानी व्यवहारनय कहता है, उसने तो वीतरागभाव और रागभाव दोनों से लाभ माना है;—वह एकान्त है।

मिथ्यादृष्टि दोनों नयों को आदरणीय मानता है। जिसप्रकार मात्र निश्चयाभासावलम्बियोंका कथन किया था, तदनुसार तो वह निश्चयका अंगीकार करता है; तथा जिसप्रकार मात्र व्यवहाराभासावलम्बियोंका कथन किया था तदनुसार व्यवहारका अंगीकार करता है, किंतु उसमें तो परस्पर विरोध आता है; क्योंकि निश्चयनय अंगीकार करने योग्य है और व्यवहारनय हेय है—यह बात उसके ध्यान

में नहीं आई है। दोनों नयोंका सच्चा स्वरूप उसे भासित नहीं हुआ है और जैनमतमें दो नय कहे हैं, उनमें से किसी को भी छोड़ा नहीं जाता, इसलिये वह जीव भ्रमपूर्वक दोनों नयोंकी साधना करता है।—ऐसे जीवोंको भी मिथ्यादृष्टि जानना।

उस अज्ञानी मिथ्यादृष्टिकी प्रवृत्ति कैसी होती है, उसे अब विशेषता से कहते हैं।

मोक्षमार्ग दो नहीं हैं; उसका निरूपण दो प्रकार से है।

अंतरंगमें स्वयं तो निर्धार करके यथावत् निश्चय–व्यवहार मोक्षमार्गको नहीं पहिचाना है, किन्तु जिन आज्ञा मानकर निश्चय-व्यवहाररूप दो प्रकारका मोक्षमार्ग मानता है। अब, मोक्षमार्ग कहीं दो नहीं हैं, किन्तु मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकार से है। आत्मामें निर्विकल्पदशा (वीतरागभाव) का होना मोक्षमार्ग है, दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है। और जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किन्तु मोक्षमार्गका निमित्त है उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है। पंचमहाव्रतादि मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु निर्विकल्प मोक्षमार्ग प्रगट करे तो उसे निमित्त कहा जाता है। निश्चय मोक्षमार्ग न हो तो पंचमहाव्रतादि को व्यवहार भी नहीं कहा जाता; अर्थात् उसमें निमित्तपनेका आरोप भी नहीं आता। इसप्रकार निश्चय–व्यवहारका स्वरूप है।

मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकार से किया है। उसमें वीतरागी निर्विकल्पदशा निश्चय मोक्षमार्ग और व्रतादिकके अशुभराग वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। एक सच्चा मोक्षमार्ग है और दूसरा निमित्त, उपचार सहकारी या मिथ्या मोक्षमार्ग है—ऐसे दो प्रकार से मोक्षमार्गका

निरूपण है। अखण्ड आत्म स्वभावके अवलम्बनसे निश्चय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ वह सच्चा मोक्षमार्ग है। उस समय राग–विकल्प है वह मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु उसे उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है, अर्थात् वह निमित्त, सहचार, उपचार र व्यवहार—ऐसे चार प्रकार से मोक्षमार्गका निरूपण किया है।

आत्मामें निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हुआ उसे सच्चा, अनुपचार, शुद्ध उपादान और यथार्थ मोक्षमार्ग कहा है। उस समय राग को उपचार, निमित्त, सहचारी और व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है।—इस प्रकार निश्चय व्यवहार का स्वरूप है। यहाँ मोक्षमार्ग का कथन हो रहा है, इसलिये आत्मा की शुद्ध पर्याय को उपादेय कहा है, और व्यवहार-राग को हेय कहा है। यहाँ व्यवहार रत्नत्रय को सहचारी निमित्त कहा है, क्योंकि निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ है, उसे राग भी सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का होता है, कुदेवादि का राग नहीं होता, संयमादिक का राग होता है, इसलिये उस राग को सहचारी कहा है।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी में पण्डितजी ने कहा है कि:—सम्यक्त्वी के व्यवहार सम्यक्त्व में निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है। व्यवहारके समय भी निश्चयरूप परिणति हो रही है। इसलिये व्यवहार में निश्चय परिणति गर्भित कही है; किन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवहार सम्यक्त्व के कारण निश्चय सम्यक्त्व होता है; किन्तु निश्चय मोक्षमार्ग की परिणति के समय सच्चे देवादि की श्रद्धा आदिक का राग होता है। उसका ज्ञान करना उसे व्यवहार कहा है।—इसप्रकार निश्चय व्यवहार का स्वरूप समझना चाहिये।

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख कृष्णा १० गुरुवार, ता० ६-४-५३]

ज्ञानी एक स्वभाव का ही साधन साधता है। दूसरा वास्तव में साधन नहीं है। निश्चय मोक्षमार्ग एक ही है—ऐसा ज्ञानी मानता है। मिथ्यादृष्टि दो नयों का साधन साधता है, दो मोक्षमार्ग मानता है और दोनों नयों को उपादेय मानता है—ऐसे तीन प्रकार से भूल करता है। शुभराग मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग में निमित्त है—सहचारी है, इसलिये जिसके निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है उसकी मन्द कषाय को उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है।—ऐसा निश्चय-व्यवहार का स्वरूप है।

सच्चा निरूपण वह निश्चय तथा उपचार निरूपण वह व्यवहार है।

आत्मा की रुचि पूर्वक रमणता करने को मोक्षमार्ग कहना वह निश्चय है और बीच में जो राग आता है उसे मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है; इसलिये मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से जानना; किन्तु एक निश्चय मोक्षमार्ग है तथा एक व्यवहार मोक्षमार्ग है—इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। पुनश्च, वह निश्चय और व्यवहार दोनों को उपादेय मानता है, वह भी भ्रम है; क्योंकि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोध सहित है।

निश्चय से तो आत्मा में दृष्टि पूर्वक-तत्त्वज्ञान पूर्वक लीनता हो वह सामायिक है। उस समय विकल्प राग को व्यवहार सामायिक कहा जाता है। कोई कहे कि—तो क्या सामायिक करना छोड़ दें? किन्तु यहाँ कहते हैं कि जिसे वस्तु स्वभाव के स्वरूप की खबर

नहीं है उसके सामायिक ही नहीं है; तब फिर सामायिक छोड़ देने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये प्रथम सामायिक का स्वरूप समझना चाहिये। सत् वस्तु को न समझकर दूसरा मार्ग ग्रहण करे तो धर्म नहीं हो सकता। ज्ञानी के निकट निरभिमानता पूर्वक स्वीकार करे कि हमारी अभीतक मानी हुई बात विपरीत थी, तो यह बात समझ में आ सकती है।

एक आदमी किसी सेठ के यहाँ नौकरी के लिये गया। सेठ ने उससे पूछा कि तुझे व्यापारका सारा काम आता है? लेन–देन करना आता है? और लेन-देन करके फिर रुपये वसूल करना आता है? अर्थात् हिसाब चुकाना आता है?—यह जाने तो सब कुछ जाना कहलाता है। उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि अभीतक जो धारणा की है, उसे रद्द करना तुझे आता हो, भूल स्वीकार करना आता हो, तो नई वस्तु अंतरमें प्रविष्ट हो, अर्थात् समझमें आये। अभीतक व्रतादि करके धर्म मानता था वह मिथ्यात्वोंको घोंटता था; वह श्रद्धानकी भूल थी। उसे सर्व प्रथम छोड़ना चाहिये। कर्मके कारण विकार होता है इस मान्यतामें भी भूल थी, ऐसा स्वीकार करना चाहिये। समयसार पढ़कर कहता है कि हम निश्चयको मानते हैं, किन्तु साथ ही साथ कर्मके कारण राग और रागसे निश्चय-रत्नत्रय मानते हैं; तो उसे आत्मा शुद्ध ज्ञायक है—ऐसी रुचि, और स्व-सन्मुखता कहाँ रही? मात्र धारणा की थी, वह भूल थी—ऐसा जबतक स्वीकार न करे तब तक पात्रता भी नहीं है।

संसारका मूल मिथ्यादर्शन है; उसका नाश करने से संसार का नाश होता है।

जिसे जन्म-मरणका अंत करना हो, उसे आत्मस्वरूप समझना चाहिये। ककड़ीकी एक बेलमें से अनेक बेलें फूटती हैं और सारे खेत में फैल जाती हैं। यदि उन बेलोंका नाश करना हो तो उनकी जड़ तो एक ही होती है। वहाँ जाकर हँसिये से उसकी जड़ काट डालें तो सारी बेलें सूख जाती हैं। ऊपर से वृक्षकी डालें और पत्ते काटने से वह फिर ज्योंका त्यों बढ़ जाता है। उसीप्रकार संसारका मूल मिथ्यादर्शन है, उसका नाश करे तो संसाररूपी वृक्षका नाश हो सकता है। दया, दान, भक्ति आदि के शुभभावसे संसारका नाश नहीं होता। कारण कि शुभराग भी आश्रव तत्त्व है—बंधका कारण है।

पद्मनन्दि पंचविंशतिका में आता है कि निश्चय–रत्नत्रयका साधन शरीर है, और शरीर आहारसे निभता है, तथा आहार श्रावक देते हैं; इसलिये उपचारसे ऐसा कथन करते हैं कि श्रावकों ने मोक्ष-मार्ग दिया। श्रावकको आहार देने का भाव हुआ कि—मुनि जो शुद्ध आत्माकी साधना कर रहे हैं उन्हें मैं कब आहार दान दूँ! धन्य भाग्य! हमारे आँगनमें कल्प वृक्ष आया!—इसप्रकार भक्तिसे कहता है, किन्तु वह समझता है कि आहार रत्नत्रय का साधन नहीं है, किंतु व्यवहार से साधन कहलाता है। भक्तिरूप भाषा और राग होता अवश्य है, किंतु ज्ञानी उसके कर्ता नहीं हैं उस समय भी ज्ञानीको ऐसा भान होता है। व्यवहार करना पड़ता है—ऐसा नहीं है, किन्तु वह आजाता है। भरत चक्रवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, किंतु भगवान के निर्वाण के

समय रुदन करते हुए कहते हैं कि हे नाथ ! आज भरत का सूर्य अस्त हो गया ! इन्द्र कहता है कि आप तो चरम शरीरी हो, फिर यह क्या ? उन्हें भी भान है, तथापि कहते हैं कि प्रभो ! आपका विरह हुआ; अब आपका उपदेश कहाँ से प्राप्त होगा ?

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भी कहते हैं कि—हे सीमंधर भगवान ! इस भरतक्षेत्र में आपका विरह हुआ है । हे नाथ ! महाविदेह में तो लाखों केवली विराजमान हैं, और इस भरतक्षेत्रमें आपका विरह है,—इस-प्रकार विरह का दुःख लगता है । यह सब सहज ही होता है;—ऐसा राग लाना नहीं पड़ता; और यह जो राग हुआ है वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है, उपादेय तो एक निश्चय ही है ।

देखो, यहाँ पंचकल्याणक महोत्सव के समय श्री नेमिनाथ-भगवान के वैराग्य प्रसंग का दृश्य वैराग्य प्रेरक था । राजुल कहती हैं कि हे नाथ ! आप स्वरूप साधना के लिये निकले हैं, मैं भी स्वरूप-साधना के लिये निकलती हूँ ।—ऐसे दृश्य देखकर ज्ञानी को रोना भी आजाता है; किन्तु समझते हैं कि वैसा शुभभाव भी अंगीकार करने योग्य नहीं है; निर्बलता से राग हुआ है वह उपादेय नहीं है ।

व्यवहारनय असत्यार्थ है, निश्चयनय सत्यार्थ है ।

श्री समयसार में भी ऐसा कहा है कि—"ववहारो अभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।" व्यवहार अभूतार्थ है, सत्य स्वरूप का निरूपण नहीं करता, किन्तु किसी अपेक्षा से उपचार से अन्यथा निरूपण करता है । तथा निश्चय शुद्ध नय है—भूतार्थ है; क्योंकि वह वस्तु के स्वरूप का यथावत् निरूपण करता है । व्यवहार सत्-

वस्तु का निरूपण नहीं करता, किन्तु जैसा वस्तु स्वरूप हो उससे भिन्न कहता है। इसलिये व्यवहार उपादेय नहीं है। अज्ञानी व्यवहार को अंगीकार करने योग्य मानता है, इसलिये वह मूढ़ है।

व्यवहारनय अन्यथा कहता है अर्थात् बंध मार्ग को मोक्षमार्ग कहता है। वास्तव में जो मोक्षमार्ग नहीं है उसे मोक्षमार्ग कहता है वह व्यवहारनय है। और निश्चयनय तो जैसा स्वरूप है वैसा कहता है। भगवान ने मुझे तार दिया—यह सारा कथन व्यवहारनय का है, किंतु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। इसलिये व्यवहारनय को उपादेय मानना वह मिथ्यात्व है। एक निश्चयनय ही उपादेय है—ऐसा ज्ञानी मानते हैं।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख कृष्णा ११ शुक्रवार ता० १०–४–५३]

अज्ञानी व्यवहार–निश्चय दोनों के स्वरूप को नहीं जानता इसलिये दोनों को उपादेय मानता है। आत्माकी शुद्ध पर्याय आत्मा के अवलम्बन से होती है वह मोक्षमार्ग है; किन्तु व्रत–तपादि मोक्ष मार्ग नहीं है; मोक्षमार्ग में वे निमित्त–मात्र हैं।—यह बात पहले आ चुकी है।

श्री समयसार में कहा है कि व्यवहार अभूतार्थ है अर्थात् व्यवहार-राग-निमित्त है ही नहीं, ऐसा नहीं है; किन्तु व्यवहार सच्चे स्वरूप का कथन नहीं करता इसलिये अभूतार्थ है। व्रत, नियमादि मोक्षमार्ग नहीं हैं, तथापि व्यवहार उन्हें मोक्षमार्ग कहता है। आत्मा क्या है? राग क्या है? निमित्त क्या है?—उनका अन्तर में यथार्थ ज्ञान न करे तब तक मोक्षमार्ग नहीं हो सकता।

श्री नियमसार कलश १६४ में कहा है कि आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है—ऐसे भेद की दृष्टि जिसके है उसका मोक्ष होता है या नहीं —यह कौन जाने ? अर्थात् उसका मोक्ष नहीं होता। अपूर्ण दशा में भेद-प्रभेद का विचार करने से राग हुए बिना नहीं रहता। केवली को पूर्ण ज्ञान है इसलिये भेद-प्रभेद के ज्ञान में राग नहीं होता। निचली दशा में भी भेद का ज्ञान करना वह राग का कारण नहीं है, किन्तु भेदका विचार करने से रागी को राग होता है। भेद के कारण राग होता हो तो केवली को भी राग होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। मोक्षमार्ग प्रकाशक देहलीवाला पृष्ठ ३७१ में कहा है कि अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किये हैं वहाँ उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना चाहिये। भेद तो समझाने के लिये है, किन्तु निश्चय से आत्मा अभेद ही है उसे जीव वस्तु मानना। वहाँ जो संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे हैं वे तो कहने मात्र के हैं, परमार्थ से वे पृथक् २ नहीं हैं,—ऐसा ही श्रद्धान करना चाहिये।

आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। उसमें गुण-पर्याय का भेद है अवश्य, किन्तु अभेद चैतन्यवस्तु की दृष्टि कराने के लिये ऐसा कहा है कि वस्तु को अभेद मानना चाहिये। इसलिये अरिहन्त के मत में भेद से मुक्ति नहीं होती—ऐसा कहा है। भेद से मुक्ति होती है—ऐसा तो अज्ञानी मानता है। आत्मा असंख्यात प्रदेशी अनन्तगुणधाम है; उसके अवलम्बन से मुक्ति होती है, किन्तु गुण-भेद के आश्रय से मुक्ति नहीं है। इसलिये व्यवहार अभूतार्थ है, आश्रय करने योग्य नहीं है —ऐसा कहा है।

अब कहते हैं कि—तू ऐसा मानता है कि सिद्ध समान शुद्ध आत्मा

का अनुभव वह निश्चय, तथा व्रत, शील, संयमादिरूप प्रवृत्ति वह व्यवहार; किन्तु तेरी यह मान्यता ठीक नहीं है।

आत्मा की वीतरागी श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र वह निश्चय मोक्षमार्ग है। जब पर्याय पूर्ण शुद्ध होगी तब सिद्ध दशा का अनुभव होगा। संसारी को सिद्ध समान अनुभव नहीं होता; तथापि वर्तमान सिद्ध समान अनुभव को अज्ञानी निश्चय कहता है—किन्तु ऐसा नहीं है; और उन व्रतादि की प्रवृत्ति को व्यवहार कहता है, किन्तु प्रवृत्ति कहीं व्यवहार नहीं है। व्रतादि के परिणामों को मोक्षमार्ग मानना वह व्यवहार है। अज्ञानी प्रवृत्ति को व्यवहार मानता है, किन्तु ऐसा नहीं है।

निश्चय मोक्षमार्ग तो आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान तथा रमणता है, और उस समय जो शुभभाव होता है उसे मोक्षमार्ग मानना वह व्यवहार है। दया, दान, भक्ति का राग तो मोक्षमार्ग से विरुद्ध बंध–मार्ग है; किन्तु वह निमित्त है इसलिये उपचार से उसे मोक्षमार्ग मानना वह व्यवहार है—ऐसा कहा है; किन्तु अज्ञानी बाह्य प्रवृत्ति और राग को व्यवहार कहता है; इसलिये उसे व्यवहार की भी खबर नहीं है।

निश्चय और व्यवहारनय की व्याख्या।

देखो, वर्तमान वीतरागी पर्याय प्रगट हुई हो उसे निश्चय कहते हैं; उसके बदले अज्ञानी सिद्ध समान शुद्ध पर्याय के अनुभव को निश्चय कहता है; किन्तु संसार दशामें सिद्धपना है ही नहीं, इसलिये

यह बात तो मिथ्या हुई। उसे निश्चय की भी खबर नहीं है। मात्र शास्त्र के शब्दों को पकड़ लिया है किन्तु भाव को नहीं समझता, इस लिये वह निश्चयाभासी है। और व्रतादि की प्रवृत्ति को अज्ञानी व्यवहार मानता है, किन्तु वह व्यवहार नहीं है; क्योंकि किसी द्रव्य भाव का नाम निश्चय और किसी का व्यवहार—ऐसा नहीं है; किन्तु एक ही द्रव्य के भाव का उसी स्वरूप से निरूपण करना वह निश्चय-नय है तथा उस द्रव्य के भाव को उपचार से अन्य द्रव्य के भाव स्व-रूप निरूपण करना वह व्यवहारनय है। अज्ञानी निश्चय–व्यवहार दो द्रव्यों में कहता है, किन्तु वह बात यथार्थ नहीं है। दृष्टान्त कहते हैं कि—जिसप्रकार मिट्टी के घड़े का मिट्टी के घड़ेरूप निरूपण करें वह निश्चय है, तथा घी के संयोग के उपचार से उसे घी का घड़ा कहें वह व्यवहार है। इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

किसी को निश्चय मानना और किसी को व्यवहार मानना वह भ्रमणा है पर्याय में सिद्ध समान शुद्ध मानता है तो फिर व्रतादि का साधन किसलिये करता है? सिद्ध के व्रतादि का साधन नहीं होता, इसलिये निश्चय मानने में तेरी भूल है। तथा वृतादि के साधन द्वारा सिद्ध होना चाहता है तो वर्तमान में सिद्ध समान शुद्ध आत्मा का अनुभव मिथ्या हुआ।—इसप्रकार दोनों नयों का परस्पर विरोध है; इसलिये दोनों नयों की उपादेयता संभवित नहीं है।

प्रश्न:—श्री समयसारादि शास्त्रों में शुद्ध आत्मा के अनुभव को निश्चय कहा है, तथा वृत, तप, संयमादि को व्यवहार कहा है; और हम भी ऐसा ही मानते हैं।

उत्तरः—शुद्ध आत्मा का अनुभव वह सच्चा मोक्षमार्ग है; इसलिये उसे निश्चय कहा है। किन्तु सिद्ध समान वर्तमान अनुभव करना वह निश्चय नहीं है। मात्र ज्ञायक चिदानन्द शुद्ध सामान्य है; उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता ही मोक्षमार्ग है; यह निश्चय बराबर है। वीतरागी अंश हुआ वह शुद्ध है और उसीको स्वमें अभेद अपेक्षा निश्चय कहा है। उस समय प्रवर्तमान राग को मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है। उसे मोक्षमार्ग कहा इसलिये कहीं अशुद्धता शुद्धता नहीं बन जाती। वह तो बंधमार्ग ही है, किन्तु व्यवहार से उसे मोक्षमार्ग कहा है।

[वीर सं० २४७९, प्र० बैशाख कृष्णा १३ शनिवार, ता० ११—४—५३]

आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध है; उसका अनुभव वह सच्चा मोक्षमार्ग है; किन्तु वर्तमान सिद्धसमान शुद्ध हूँ—ऐसा अनुभव करना वह निश्चय नहीं है। इसलिये वर्तमान पर्यायमें सिद्धसमान शुद्ध आत्मा का अनुभव तू मानता है तदनुसार नहीं है। शुद्ध आत्मा किसे कहना ?—यह बात अब कहते हैं। स्वभावसे अभिन्न और परभावों से भिन्न ऐसा शुद्ध शब्दका अर्थ है। आत्मा अपने गुण—पर्यायसे अभिन्न और शरीर, कर्मादि परद्रव्यों तथा उनके भावोंसे भिन्न है,—उसका नाम शुद्ध है; किन्तु संसारी आत्मा को शुद्ध सिद्ध समान मानना —ऐसा शुद्ध शब्दका अर्थ नहीं है। शरीरादि की क्रिया तो मोक्षमार्ग नहीं है; किन्तु दया, दान, भक्ति, व्रतादिके परिणाम भी मोक्षमार्ग नहीं है, वह तो बंधमार्ग है। निश्चयसे तो शुद्ध आत्माकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणता होना वह मोक्षमार्ग है। संसारीको सिद्ध मानने

का नाम शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं है और वह निश्चय भी नहीं है।

व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं है, तथापि निमित्तादि की अपेक्षा उसे मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है।

पुनश्च, वृत, तपादि कोई मोक्षमार्ग नहीं है; किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा उपचारसे उसे मोक्षमार्ग कहते हैं; इसलिये उसे व्यवहार कहा है। इसप्रकार भूतार्थ–अभूतार्थ मोक्षमार्गपने द्वारा उसे निश्चय-व्यवहारनय कहा है ऐसा ही मानना चाहिये; किन्तु दोनों सच्चे और दोनों उपादेय हैं—ऐसा नहीं मानना चाहिये। आत्मामें शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और रमणतारूप निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उससमय व्रत–तपादिके शुभपरिणाम होते हैं वह वास्तवमें तो बंधमार्ग है, किन्तु वह निश्चय मोक्षमार्गमें निमित्त है; इसलिये उसे मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है। सिद्धका नहीं किन्तु शुद्धका अनुभव वह निश्चय और व्रत, तपादि बंधमार्गमें मोक्षमार्गका उपचार करना वह व्यवहार है।—ऐसा निश्चय-व्यवहारका स्वरूप है। जिसप्रकार मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना व्यवहार है; अर्थात् जो नहीं है उसे है—ऐसा कहना वह व्यवहार है; उसीप्रकार जो राग है वह वास्तवमें बंध मार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु मोक्षमार्गमें निमित्त है; इसलिये मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है।

आत्मामें केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतआनन्द, अनंतवीर्य आदि अनन्त शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। उनमें से पूर्ण ज्ञानानन्ददशा प्रगट होती है। शक्ति भरी पड़ी है, उसीमें से व्यक्तरूप अवस्था होती

है। जो शक्ति भरी है उसे भजो। पर्यायको नहीं, रागको नहीं, निमित्त को नहीं किन्तु आत्मा पूर्ण शक्तिरूप है उसे भजना (भक्ति करना) वह मोक्षमार्ग है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने एक ब्राह्मण का दृष्टान्त दिया है:—एक ब्राह्मण ने निर्णय किया कि मुझे शक्तिवान की पूजा करना है। इसलिये विचार करने बैठा कि अधिक शक्ति किसमें है। चूहा कपड़े काटता है इसलिये उसमें शक्ति अधिक है; बिल्ली चूहे को मार डालती है इसलिये उसकी शक्ति और भी अधिक होगई; बिल्ली को कुत्ता मार डालता है, इसलिये कुत्तेकी शक्ति बढ़ गई, कुत्तेको मेरी स्त्री लकड़ी मारकर निकाल देती है इसलिये मेरी स्त्रीकी शक्ति अधिक है, और अपनी स्त्रीकी अपेक्षा मेरी शक्ति अधिक है यानी वास्तवमें मेरी ही शक्ति सबसे अधिक है; इसलिये उसकी पूजा करना चाहिये। उसीप्रकार शरीर, वाणी, मन आदि में आत्माकी शक्ति नहीं है, क्योंकि वे तो पर हैं; और आत्माकी पर्याय में जो पुण्य–पापके भाव होते हैं उनमें केवलज्ञान प्रगट करने की शक्ति नहीं है; और वर्तमान अपूर्ण पर्याय है उनमें पूर्ण होने की शक्ति नहीं है; किन्तु आत्मा त्रिकाल ध्रुव अनन्तशक्तिसे भरपूर है; उसकी प्रतीति, ज्ञान और लीनता करे तो उसमें से केवलज्ञान प्रगट हो सकता है। उसकी मान्यता, ज्ञान और रमणता वह निश्चय है। उससमय व्यवहाररत्नत्रयके परिणाम निमित्त हैं, उन्हें मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है।

कारण–कार्य में निश्चय–व्यवहार

अब कारण-कार्यमें निश्चय-व्यवहार कहते हैं। आत्मा द्रव्य है वह निश्चय कारण है; उसमें से मोक्ष प्रगट होता है इसलिये निश्चय

कारण तो द्रव्य है और मोक्ष वह कार्य है। इसप्रकार निश्चयकारण–कार्य है। मोक्षका यथार्थ कारण तो द्रव्य है, और जो मोक्षमार्ग की पर्याय है उसे मोक्ष का कारण कहना वह व्यवहार है। उसे व्यवहार कारण क्यों कहा ? मोक्षमार्ग का अभाव वह मोक्षका कारण है, और द्रव्य वह भावरूप कारण है। अब, अभावरूप कारणको भावरूपका कारण कहना वह व्यवहार है, और आत्मा शुद्ध चिदानन्द त्रिकाल ध्रुव है; उसे मोक्षका कारण कहना वह निश्चय है।

आत्मा वस्तु कैसी है उसका प्रथम ख्याल करना चाहिये। मृग की नाभिमें कस्तूरी भरी है, किन्तु उसकी उसे खबर नहीं है—उसका विश्वास उसे नहीं आता। उसीप्रकार आत्मामें अनंत शक्ति भरी है, उसका विश्वास अज्ञानीको नहीं आता। सर्वज्ञ परमात्मा ने ऐसा देखा है कि तेरे आत्मामें अनंत शक्ति भरी है; उस शक्तिमें से मोक्षकी पर्याय होती है, इसलिये मोक्षका निश्चय कारण तो द्रव्य स्वभाव है; और आत्माकी रुचि, ज्ञान, रमणतारूप मोक्षमार्गको मोक्षका कारण कहना वह व्यवहार है। मोक्षका यथार्थ कारण मोक्षमार्ग नहीं किंतु द्रव्य स्वभाव है—ऐसा निश्चय–व्यवहारका स्वरूप सर्वत्र समझना चाहिये।

अज्ञानी तो शरीरादिकी क्रिया तथा शुभभावको मोक्षमार्ग मानता है, किन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है। आहार न लिया और शरीर सूख गया, वह मोक्षकी या बंधकी क्रिया नहीं है, किन्तु जड़की क्रिया है। आत्मामें रागकी क्रिया होती है वह बंधमार्ग है, और रागरहित

क्रिया हो वह मोक्षमार्गकी क्रिया है। बंधमार्ग है वह मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु उसमें मोक्षमार्गका उपचार करना वह व्यवहार है। इसलिये किसी को निश्चय और किसी को व्यवहार मानना वह तो भ्रमणा है। निश्चय–व्यवहारका स्वरूप यथार्थ समझना चाहिये।

लोग सुवर्णका मूल्य देते हैं, किंतु उसमें मिले हुए तांबे का मूल्य नहीं देते; उसीप्रकार आत्माकी रुचिपूर्वक जितना वीतराग शुद्धभाव हुआ है उसका मूल्य ज्ञानी देते हैं, किन्तु जो व्रतादिका शुभराग होता है उसका मूल्य नहीं देते। शुभराग तो तांबे जैसा है, वह सुवर्ण नहीं है। सुवर्ण तो चैतन्यकी जो रागरहित अवस्था हुई है वह है। भगवानके मार्गमें तो शुद्ध धर्मक्रियाका मूल्य है। राग मोक्षमार्ग की क्रिया नहीं है वह तो तांबे जैसा है।

निंबोली कहीं नीलमणि नहीं है। बालक निंबोलीको नीलमणि माने तो वह कहीं नीलमणि नहीं हो सकती; उसका कोई मूल्य नहीं देगा। उसीप्रकार आत्मामें जो राग पर्याय होती है वह निंबोली जैसो है; अज्ञानी उसे मोक्षमार्गरूप नीलमणि मानें, किन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है। ज्ञानी उसका मूल्य नहीं देते। इसलिये व्यवहार मोक्षमार्ग वह बंधमार्ग है।

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख कृष्णा १४ रविवार, ता० १२–४–५३]

मोक्षमार्ग दो नहीं किन्तु एक ही है।—यह बात चलरही है। आत्माके श्रद्धा–ज्ञान–रमणता वह निश्चय मोक्षमार्ग है, उसमें बीच में शुभभाव निमित्त है, उसे व्यवहारसे मोक्षमार्ग कहा है, किन्तु वह वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है।

प्रवृत्ति नयरूप नहीं है, अभिप्रायानुसार प्ररूपणामें दोनों नय बनते हैं।

प्रश्न—श्रद्धान तो निश्चयका रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहार-रूप रखते हैं।—इसप्रकार हम दोनों नयों को अंगीकार करते हैं।

उत्तर—ऐसा भी नहीं होता; क्योंकि निश्चयका निश्चयरूप तथा व्यवहारका व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है। इसलिये निश्चयकी श्रद्धा रखना और व्यवहारकी प्रवृत्ति रखना—इसप्रकार अज्ञानी दो नयोंका ग्रहण करना कहता है; वह बात मिथ्या है। आत्माकी शुद्ध प्रतीति, उसका वेदन और लीनता वह एक ही मोक्षपंथ है। व्रतादि के शुभभावको मोक्षमार्ग मानना वह मिथ्यात्व है। अज्ञानी कहता है कि—हम एक की श्रद्धा करते हैं और दूसरे की प्रवृत्ति करते हैं; तो वह बात भी मिथ्या है; क्योंकि श्रद्धा तो दोनों नयोंकी करना चाहिये। दोनों नय हैं ऐसा जानना चाहिये, किन्तु आदरणीय तो एक निश्चय नय ही है।

आत्मामें वीतरागभाव परिणति होती है वह स्वाश्रयरूप निश्चय है और रागादिकी पर्याय है वह पराश्रयरूप व्यवहार है। निश्चयकी निश्चयरूप और व्यवहारकी व्यवहाररूप श्रद्धा करना वह दोनोंका ग्रहण है; किन्तु एक नयको माने और दूसरे को न माने तो वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है; तथा व्यवहारसे निश्चयमें कुछ कम होता है—ऐसा माने वह भी मिथ्यादृष्टि है।

अब कहते हैं कि—प्रवृत्तिमें नयका प्रयोजन ही नहीं है; क्योंकि प्रवृत्ति तो द्रव्यकी परिणति है। वहां जिस द्रव्यकी परिणति हो, उसे

उसीकी प्ररूपित करना वह निश्चयनय है और उसीको अन्य द्रव्यकी प्ररूपित करना वह व्यवहारनय है।—इसप्रकार अभिप्रायानुसार प्ररूपणामें दोनों नय बनते हैं; किन्तु कहीं प्रवृत्ति नयरूप नहीं है। जड़की और रागकी परिणतिको जानना वह व्यवहार नय है। पींछी आदि की क्रिया होती है वह स्वतंत्र जड़की परिणति है; उसे आत्मा करता है—ऐसा कहना वह व्यवहार है। किन्तु आत्मा उसे नहीं कर सकता। मुनि निर्दोष आहार लेते हैं और सदोष आहारका त्याग करते हैं—ऐसा कहना वह व्यवहार है; किन्तु व्यवहारसे आत्मा निर्दोष आहारको ग्रहण करता है और सदोष आहारको छोड़ता है—ऐसा नहीं है, मात्र ऐसा राग आता है। आत्मा कर्मोंका बंध करता है और छोड़ता है—ऐसा कहना वह व्यवहारका कथन है; किन्तु वास्तवमें तो वह जड़की पर्याय है, आत्मा की नहीं है। आत्मा उसे नहीं कर सकता; तथापि ऐसा मानना कि आत्मा जड़की प्रवृत्ति कर सकता है वह एकान्त मिथ्यात्व है।

चलने, बोलने, खाने आदि की परिणति तो जड़की है, आत्मा की नहीं है। उस प्रवृत्तिमें नयका प्रयोजन नहीं है, किंतु उसे आत्मा की प्रवृत्ति कहना वह व्यवहारनय है और जड़की कहना वह निश्चय नय है। प्रवृत्ति करना व्यवहारनय नहीं है। जो एक द्रव्यकी क्रिया को दूसरे द्रव्यकी क्रियामें मिलाता है, उसे भिन्न-भिन्न द्रव्योंकी भी श्रद्धा नहीं है। अज्ञानीको इस बातकी खबर नहीं है इसलिये यह बात सुनने पर उसे ऐसा लगता है कि—हम सीधे मार्ग पर चले जा-रहे थे, उसमें तुम ऐसा कहकर कि—'एकद्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता', अड़चन डाल दी है। अज्ञानी मानता है कि जड़की

प्रवृत्ति आत्मासे होती है, वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है।

पुद्गल की परिणति उसके अपने कारण होती है, ऐसा जानना वह निश्चयनय है और आत्माने उसे किया—ऐसा कहना वह व्यवहारनयका कथन है। इसप्रकार अभिप्रायानुसार प्ररूपणामें दो नय बनते हैं, किन्तु कहीं प्रवृत्ति नयरूप नहीं है।

"निश्चयनयाश्रित मुनिवर, प्राप्ति करें निर्वाणकी।"

—ऐसा श्री समयसारमें कहा है। वहाँ तो आत्माकी शुद्ध परिणतिको अभेद करके कहा है, किन्तु यहाँ तो ऐसा कहना है कि—भिन्न-भिन्न द्रव्योंकी परिणति भिन्न-भिन्न है, तथापि एक की परिणति को दूसरे की परिणति कहना वह व्यवहारनय है। परकी परिणति को आत्मा नहीं रखता; किन्तु आत्मा परकी परिणति रखता है—ऐसा कहना वह व्यवहारनय है। इसलिये जैसा है वैसा समझना चाहिये। कथन करना वह व्यवहारनय है, किन्तु प्रवृत्ति व्यवहारनय नहीं है।—इस बातको यहाँ सिद्ध करते हैं। आत्मा जड़की प्रवृत्तिमें वर्तता है—ऐसा कथन चरणानुयोगमें आता है वह व्यवहारनयका कथन है, किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

कथनकी पद्धति ऐसी होती है कि—जड़की परिणतिसे आत्मा की परिणति सुधरती है; क्योंकि किसी के ऐसी प्रवृत्तिमें आत्माकी परिणति मंदकषायरूप होती है, इसलिये निमित्तका कथन है कि आत्मा वह प्रवृत्ति करता है। निश्चयसे बाह्य प्रवृत्ति तो जड़ की है और रागकी परिणति आत्माकी है; इसलिये कथनमें दो नय होते हैं किन्तु प्रवृत्ति में नय नहीं हैं।

आत्मा के द्रव्य-गुण में तो विकार नहीं है, और पर्याय में विकार है, तो वह कहाँ से आया ?—तो अज्ञानी कहते हैं कि कर्मों के कारण आया है। अगर जहाँ व्यवहारनय का कथन हो वहाँ वैसा ही सत्य मानले तो वह नयों को नहीं समझता। कर्मों की अवस्था पुद्गल की है,—ऐसा कहना वह निश्चय है, और उससे आत्मा में विकार हुआ—ऐसा कहना वह व्यवहार है।—इसप्रकार दोनों नयों को जानना यथार्थ है, किन्तु दोनों को आदरणीय मानना वह भ्रमणा है।

निश्चय को उपादेय और व्यवहार को हेय मानना वह दोनों नयों का श्रद्धान है।

प्रश्नः—तो फिर क्या करें ?

उत्तरः—निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान करना चाहिये, तथा व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये। आत्मा खा सकता है, आत्मा कर्मोंका बंध करता है, आत्मा शरीर को चला सकता है—आदि प्रकार की श्रद्धा को छोड़ो ! पहले दोनों नयों का श्रद्धान करने को कहा था; वहाँ कहने का तात्पर्य यह था कि दोनों नय हैं उन्हें जानना चाहिये; और यहाँ, निश्चय को उपादेय तथा व्यवहार को हेय मानना वह दोनों नयोंका श्रद्धान है—ऐसा समझना; किंतु निश्चय और व्यवहार—दोनों नय आदरणीय हैं—ऐसा नहीं है। दोनों नय समकक्ष हैं, समान कार्यकारी हैं ऐसा नहीं है।

श्री समयसार कलश १७३ में भी यही कहा है कि:—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलेऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥

"जिनसे समस्त हिंसादि तथा अहिंसादि में अध्यवसाय है वे सब छोड़ना—ऐसा श्री जिनदेव ने कहा है; इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है वह सभी छुड़ाया है। तो सत्पुरुष एक निश्चय को ही भलीभाँति निश्चलता पूर्वक अंगीकार करके, शुद्ध-ज्ञानघनरूप अपनी महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते ?

मैंने पर जीव की रक्षा की, भाषादि की क्रिया मैंने की, वस्त्र, स्त्री-धनादिक का ग्रहणत्यागरूप क्रिया जड़की परिणति है उसे आत्मा करता है,—ऐसे अध्यवसान को छोड़ना चाहिये। पुनश्च, मैंने परकी दया पाली, सत्य बोला, ब्रह्मचर्य का पालन किया—यह सब अध्य-वसान छोड़ने योग्य हैं; क्योंकि यह सब जड़की परिणति है, आत्मा की नहीं है। आत्मा परिग्रहादि को नहीं छोड़ सकता। मेरे आत्मासे पर की हिंसा हुई, मैंने पर की दया का पालन किया आदि मानना वह मिथ्यात्व है—पर में एकत्व बुद्धि है। निमित्त की परिणति परसे हुई है, उसके बदले ऐसा मानना कि मुझसे हुई है—यह सब अध्यव-सान मिथ्यात्व हैं इसलिये छोड़ने योग्य हैं।

शुभाशुभ राग और निमित्त के साथ की एकत्वबुद्धि छोड़ना चाहिये—ऐसा जिनेन्द्र भगवान की ॐ ध्वनि में आया है। आत्माको पर द्रव्य में अर्थात् किसी भी पर आत्मा में या पुद्गल में एकत्व बुद्धि

नहीं करना चाहिये—ऐसा भगवान ने कहा है। इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है वह सारा छुड़ाया है। इसका अर्थ यह है कि—जो व्यवहार की रुचि है वही मिथ्यात्व है। इसलिये सत्पुरुष को एक निश्चयनय को ही आदरणीय मानना चाहिये।

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख शुक्ला १ मंगलवार ता० १४-४-५३]

देखो, इस श्लोक का अर्थ समयसार नाटक में कहा है।

असंख्यात लोक परवान जे मिथ्यात भाव,
तेई विवहारभाव केवली-उकत है।
जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक् दरस जायौ,
ते नियत-लीन विवहारसौं मुकत है॥
निरविकल्प निरुपाधि आतमसमाधि,
साधि जे सुगुन मोखपंथकौं ढुकत हैं।
तेई जीव परम दसामैं थिररूप ह्वै कै,
धरममैं धुके न करमसौं रुकत हैं॥

असंख्यात लोक प्रमाण जो मिथ्यात्व भाव है, वह सब व्यवहारभाव है। जो उसे आदरणीय मानता है उसे केवली भगवान ने मिथ्यादृष्टि कहा है। यहाँ तो व्यवहारभाव को ही मिथ्यात्व कहा है। अस्थिरता का भाव गौण है। अर्थात् व्यवहार में हित बुद्धि; व्यवहार का आग्रह;—व्यवहार की रुचि है वह मिथ्यात्व है। पर की जो-जो पर्यायें होती हैं वह मेरे कारण हुई हैं—ऐसी मान्यता को भी मिथ्यात्व कहा है। जहाँ व्यवहारभाव वहाँ मिथ्यात्व भाव और जहाँ मि-

थ्यात्व भाव वहाँ व्यवहारभाव—ऐसा कहा है। ज्ञानी के व्यवहार भाव नहीं है। देखो तो सही, यहाँ कड़क बात (नग्न सत्य) कही है। ग्रन्थकार ने व्यवहार भाव को मिथ्यात्व कहा है, वह एकत्व बुद्धि का व्यवहार है। ज्ञानी के एकत्व बुद्धि का व्यवहार नहीं होता। इसलिये व्यवहार में एकत्वबुद्धि मानना ही मिथ्यात्व है। **व्यवहार से आत्म हित में लाभ है ऐसी मान्यता रूप एकत्व बुद्धि को जिनेश्वर भगवान ने छुड़ाया है।**

आगे आठवें अधिकारमें आता है कि—भगवान ने मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है और हम भी उपदेश देते हैं,—वह तो निमित्तका कथन है, किन्तु तदनुसार मानना नहीं चाहिये। वह मान्यता छोड़ने जैसी है। आत्मा शुद्ध ज्ञानघन है, उसकी महिमा होने पर रागकी महिमा नहीं रहती। यहाँ व्यवहारका तो त्याग कराया है, इसलिये निश्चयको अंगीकार करके निजमहिमारूप प्रवर्तन करना योग्य है। मोक्षपाहुड़की ३१ वीं गाथामें कहा है कि:—

जो आत्मार्थमें जागृत हैं वे व्यवहारमें सोते हैं।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि;
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥

अर्थ—जो व्यवहारमें सोता है वह योगी अपने कार्यमें जागता है, तथा जो व्यवहार में जागता है वह अपने कार्यमें सोता है, इसलिये व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर निश्चयनयका श्रद्धान करने योग्य है।

संस्थाकी स्थापना करो, जगह-जगह प्रचार करो, शरीरादिकी

क्रिया करो,—इसप्रकार जो व्यवहार में जागृत हैं वे स्वभावमें सोते हैं। मिथ्यादृष्टि परके कार्यमें रुका है, वह अपने कार्यमें सोता है। यहाँ के श्री जिनमंदिर, समवशरण, स्वाध्याय मंदिर, प्रवचन-मंडप मानस्तम्भ, ब्रह्मचर्य आश्रम आदि को देखकर लोगों को ऐसा लगता है कि यह सब अपने यहाँ बनवायें और बाह्यमें प्रभावना की।—इस-प्रकार जिनकी बुद्धि बाह्यमें है वे व्यवहारमें जागृत हैं और अपने कार्यमें सोते हैं।

ज्ञानी समझते हैं कि परकी महिमासे आत्माकी महिमा नहीं है। समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि—अहो भगवन् ! आपकी महिमा इन समवशरणादिसे नहीं है। आत्मामें अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए हैं वह आपकी महिमा है,—इसप्रकार जो आत्माकी महिमामें जागृत हैं वे व्यवहारमें सोते हैं और अपने कार्यमें जागृत हैं। अज्ञानी परकी महिमा करता है, उसके धर्म की महिमा नहीं है।

देखो, अब सिद्धान्त कहते हैं कि—व्यवहारनय स्वद्रव्य–पर-द्रव्य अथवा उनके भावोंका, अथवा कारण–कार्यादिका किसीको किसी में मिलाकर निरूपण करता है; इसलिये वह श्रद्धान मिथ्यात्व है। शरीर आत्माका है, आठकर्म आत्माके हैं—इसप्रकार व्यवहार-नय दो द्रव्योंको मिलाकर बात करता है; किन्तु वस्तुका स्वभाव ऐसा नहीं है; इसलिये उस श्रद्धासे मिथ्यात्व होता है। इसलिये व्यवहार-नयका श्रद्धान करने जैसा नहीं है। आत्माके दस प्राण होते हैं;—ऐसे व्यवहार कथनको सत्यार्थ मान लेना वह मिथ्यात्व है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें कहा है कि—पदार्थका जैसा स्वभाव है उसका उसी भाँति निरूपण करना सो निश्चय है, और जिसप्रकार

असत्यवादी मनुष्य अनेक कल्पनाएँ करके अपने असत्यको तादृश कर दिखाता है, उसीप्रकार व्यवहारनय निमित्तका छल पाकर चढ़ा बढ़ाकर कथन करता है; इसलिये वह छोड़ने योग्य है।

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख शुक्ला २ बुधवार ता० १५-४-५३]

व्यवहार जानने योग्य है उपादेय नहीं है।

श्री समयसारकी बारहवीं गाथामें कहा कि—साधक की भूमिकानुसार जो-जो राग आये उसे जानना प्रयोजनवान है। पूर्णदशा नहीं हुई तबतक राग आता है, उसे जानना वह व्यवहार है, किन्तु उसे आदरना व्यवहार नहीं है। वीतरागता एक अंश है और सरागता भी एक अंश है। उन दोनों भेद का सच्चा ज्ञान करना चाहिये। व्यवहारको जानना प्रयोजनवान है। व्यवहारके आश्रयसे लाभ होता है—ऐसी श्रद्धा छोड़ो। व्यवहार नहीं है-ऐसा मानें तो एकान्तमिथ्यात्व होता है। व्यवहारनय स्वद्रव्य और परद्रव्यको एकमेक करके बात करता है, तदनुसार मान लेना वह मिथ्यात्व है।

नौ प्रकारके आरोप-व्यवहार

आलापपद्धतिमें नौ प्रकारके आरोपका व्यवहार कहा है। (१) द्रव्यमें द्रव्यका आरोप, (२) गुणमें गुणका आरोप, (३) पर्यायमें पर्यायका आरोप, (४) द्रव्यमें गुणका आरोप, (५) द्रव्यमें पर्यायका आरोप, (६) गुणमें द्रव्यका आरोप, (७) गुणमें पर्यायका आरोप, (८) पर्यायमें द्रव्यका आरोप, और (९) पर्यायमें गुणका आरोप करना वह व्यवहार है।

(१) एकेन्द्रियादि शरीरवाला जीव कहना वह द्रव्यमें द्रव्यका आरोप है। (२) इन्द्रियोंके निमित्तसे ज्ञान होता है, इसलिये ज्ञानको मूर्तिक कहना वह गुणमें गुणका आरोप है। (३) शुद्ध जीवकी पर्याय को जीवकी पर्याय कहना वह पर्यायमें पर्यायका आरोप है। (४) ज्ञान में अजीव द्रव्य ज्ञात होता है। इसलिये उस द्रव्यमें ज्ञानका आरोप करना वह दूसरे द्रव्यमें गुणका आरोप है। लकड़ी ज्ञानमें ज्ञात होती है इसलिये लकड़ीको ज्ञान कहना वह परद्रव्यमें गुणका आरोप है। (५) एक प्रदेशी पुद्गल–परमाणुको द्वि-अणुक आदि स्कन्धोंके सम्बन्धसे बहुप्रदेशी कहना वह द्रव्यमें पर्यायका आरोप है। (६) ज्ञानको आत्मा कहना वह गुणमें द्रव्यका आरोप है। (७) ज्ञानगुण को परिणमनशील ज्ञानगुणकी पर्याय कहना वह गुणमें पर्यायका आरोप है। (८) स्थूल स्कंधको पुद्गलद्रव्य कहना वह पर्यायमें द्रव्य का आरोप है और (९) उपयोगरूप पर्यायको ज्ञान कहना वह पर्याय में गुणका आरोप है–इन नौ बोलोंमें व्यवहारके सर्व बोलोंका समावेश होजाता है। यह व्यवहारनयका कथन है, किन्तु तदनुसार मानना नहीं चाहिये। विकार था इसलिये कर्मबंध हुआ वह व्यवहार का कथन है, किन्तु उसप्रकार मान लेना वह मिथ्यात्व है।

व्यवहारनय पदार्थका असत्यार्थ कथन करता है; तदनुसार मानना मिथ्यात्व है।

देखो, यहाँ पण्डितजी ने व्यवहारकी खूब स्पष्टता की है। पाठशाला खोलकर विद्यार्थियों को तैयार किया, जिनमंदिर बनवाये,—यह सब व्यवहारका कथन है; किन्तु वस्तुका स्वरूप ऐसा नहीं है।

निमित्तकी उपस्थिति बतलाने के लिये शास्त्रोंमें व्यवहारसे कथन किया होता है। व्यवहार पदार्थोंका असत्य कथन करता है, इसलिये वैसा मान नहीं लेना चाहिये। मानतुंगाचार्य ने 'भक्तामर स्तोत्र' से ताले तोड़ डाले; सीताजी के ब्रह्मचर्यसे अग्नि पानीरूप होगई; श्रीपालका रोग गंधोदकसे मिट गया, शांतिनाथ भगवान शांतिके कर्ता हैं,—आदि कथनको वास्तविक—सत्यार्थ मानना वह मिथ्यात्व है, क्योंकि किसी की पर्याय कोई नहीं करता, किन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलानेके लिये व्यवहारसे कथन किया जाता है।

तीर्थंकर भगवान ने अनंत जीवोंको तार दिया, यज्ञमें पशुओंकी हिंसा होती थी वह भगवान ने बन्द करादी; भगवानने तीर्थकी स्थापना की।—यह सब कथन निमित्त-नैमित्तिक संबन्धके हैं। इसीप्रकार मान लेना वह मिथ्यात्व है। भगवान ने तीर्थकी स्थापना नहीं की है, भगवान ने हिंसा बन्द नहीं कराई है, और न भगवान ने अनंत जीवको तारा है—यह सत्य बात है। क्योंकि कोई किसी का कुछ नहीं करता। शास्त्रमें आये कि संज्वलनकषायका तीव्र उदय हो तो छट्ठा गुणस्थान होता है, और मंद उदय हो तो सातवां गुणस्थान होता है; यह निमित्तका कथन है, किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। ज्ञानावरणीय ने ज्ञानको रोका—इसप्रकार व्यवहारनय किसी के कारण-कार्य किसीमें एकमेक करता है। पानी पीने से प्यास बुझी, खाने से भूख मिटी, और उससे आत्मामें शांति हुई—ऐसा मानना वह मिथ्यात्व है।

शास्त्रमें जहां-जहां व्यवहारका कथन आये, द्रव्यमें पर्यायका, द्रव्यमें गुणका, द्रव्यमें द्रव्यका आरोप किया जाये तो तदनुसार श्रद्धा

नहीं करना चाहिये। सांसारिक बातोंमें खूब चतुराईबतलाये और यहाँ यह बात आने पर कहे कि हमारी समझमें नहीं आता; तो इसका अर्थ यह है कि उसे धर्म की रुचि ही नहीं है। रुचि हो तो समझ में आये बिना न रहे, और यह बात समझे बिना धर्म या शांति नहीं हो सकती। आत्माको समझे बिना णमोकार मंत्र पढ़ते–पढ़ते देह छूट जाये, तथापि उसे समाधि नहीं कहा जा-सकता। कदाचित् शुभभाव हो तो पुण्यबन्ध होता है। उँगलियोंसे लकड़ी ऊंची हुई, वह किसीका कारण-कार्य किसी में मिलाकर व्यव-हारनयसे कथन किया है, किन्तु वास्तवमें उँगलियों से लकड़ी ऊंची नहीं हुई है। उँगलियोंसे मुंहमें कौर जाता है वह व्यवहारनयका कथन है। आत्मा उँगलियोंको नहीं चलाता; चबाकर नहीं खा सकता—यह यथार्थ है, क्योंकि कोई वस्तु किसी दूसरीका स्पर्श करती ही नहीं। आत्मा पुद्गलका स्पर्श करता ही नहीं; तो फिर आत्माके कारण भोजन लिया जाता है—ऐसा कहना वह व्यवहारनय का कथन है। चक्कीसे आटा पिसता है—ऐसा मानना वह मिथ्या-त्व है, क्योंकि चक्की और गेहूँ के बीच अन्योन्य अभाव है। एक द्रव्यके कारण दूसरे द्रव्यका कार्य मानना वह मिथ्यात्व है। शिक्षकों की व्यवस्था अच्छी है, इसलिये विद्यार्थी होशियार हैं, कवि सुन्दर काव्य बनाता है—ऐसा मानना वह मिथ्यात्व है। अज्ञानी लोग तो ऐसा ही मानते हैं, किन्तु सम्यग्ज्ञानी ऐसा नहीं मानते। निश्चयनय एक–दूसरे के अंशको एकमेक नहीं करता, इसलिये ज्ञानी उसकी श्रद्धा करते हैं। निश्चयनय किसीका किसी में मिलावट नहीं करता, इसलिये ऐसा कहा है कि निश्चयकी श्रद्धा करना चाहिये और व्यव-हारकी श्रद्धा छोड़ना चाहिये।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना किसलिये कहा है ?

दोनों नयोंके ग्रहणका अर्थ

उत्तर—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ—ऐसा ही है"—ऐसा जानना। द्रव्य, गुण और पर्याय स्वयं सिद्ध हैं,—उन्हें तो यही सत्य है—ऐसा जानना; तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे "ऐसा नहीं है," किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे उपचार किया है—ऐसा जानना। कर्मसे विकार हुआ ऐसा है ही नहीं। आगे आयेगा कि दर्शनमोह से मिथ्यात्व होता है, वह व्यवहारका कथन है, इसलिये उसे सत्य नहीं मान लेना चाहिये। शास्त्रमें दो नयोंकी बात होती है। एक नय तो जैसा स्वरूप है वैसा ही कहता है, और दूसरा नय जैसा स्वरूप हो वैसा नहीं कहता; किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे कथन करता है ऐसा जानना।

घी का घड़ा कहा जाता है किन्तु घड़ा घी का नहीं है। घी का संयोग बतलाने के लिये घी का घड़ा कहा जाता है; वहाँ व्यवहारनय की मुख्यता से कथन है किन्तु यथार्थरूप से वैसा नहीं है—ऐसा जानना; उसीका नाम दोनों नयों का ग्रहण है। राग होता है उसे जानना चाहिये, किंतु राग मेरा है और वह आदरणीय है—ऐसा नहीं मानना चाहिये। भगवान के दर्शन से अथवा देवऋद्धि से सम्यग्दर्शन होता है ऐसा नहीं मानना चाहिये। वह निमित्त का कथन है ऐसा जानना वह व्यवहारनय का ग्रहण है। निश्चयनय उपादेय है और व्यवहार

नय हेय है—ऐसा जानना वह दोनों नयों का ग्रहण है, किन्तु दोनों नय अंगीकार करने योग्य हैं—उसका नाम कहीं दोनों नयों का ग्रहण नहीं है। यहाँ तो जानने का नाम ही ग्रहण कहा है।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला ३ गुरुवार १६–४–५३]

दोनों नयों को सत्यार्थ नहीं जानना चाहिये।

जिसप्रकार ननिहाल के किसी व्यक्ति विशेष को "कहने मात्र के लिये" मामा कहते हैं, किन्तु वह सच्चा मामा नहीं है, नाम मात्र है, उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में होनेवाले दया–दानादि के परिणामों को "कहने मात्र के लिये" धर्म कहा जाता है। आत्माकी श्रद्धा, ज्ञान और आचरण रूपी निश्चय धर्म प्रगट हुआ हो, उस जीव के शुभ राग को व्यवहार धर्म कहा जाता है—इसप्रकार दोनों पक्षों को जानने का नाम दोनों नयों का ग्रहण कहा है। व्यवहार को अंगीकार करने की बात नहीं है। घड़ा घी का नहीं है किंतु मिट्टी का है; उसीप्रकार शुभराग (-व्यवहार) धर्म नहीं है, कहने मात्र के लिये है। —ऐसा जानने को व्यवहारनय का ग्रहण करना कहा है। जहाँ व्यवहार की मुख्यता सहित व्याख्यान हो वहाँ "ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से उपचार किया है"—ऐसा जानना चाहिये। दोनों नयों के व्याख्यानों को समान सत्यार्थ जानकर भ्रमरूप प्रवर्तन नहीं करना चाहिये।

पुनश्च कोई कहे कि—(१) निश्चय से धर्म होता है और व्यवहार से भी धर्म होता है, अथवा (२) निश्चय से निश्चय धर्म है और व्यवहार से व्यवहार धर्म है; अथवा किसी समय उपादान से कार्य

होता है और कभी निमित्त से; अथवा (३) किसी समय ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान रुकता है और (४) कभी अपने कारण ज्ञान रुकता है—ऐसा मानना भ्रमणा है। वास्तव में ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान नहीं रुकता, अन्तरायसे वीर्य नहीं रुकता, मोहनीय कर्म से चारित्र नहीं रुकता। कर्म से ज्ञान रुका—आदि समस्त कथन निमित्त के हैं।

निमित्त का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

गोम्मटसार में लिखा है कि—घी-दूध रहित रूखे सूखे आहार से वीर्य का घात होता है, तो वह कथन निमित्त से है। बादाम-पिस्ता से बुद्धि का विकास होता हो, तो भैंसे को खिलाने से उसकी बुद्धि का बहुत विकास होना चाहिये; किंतु ऐसा नहीं है। निमित्त के कथनों का अर्थ समझना चाहिये। आत्मा में भावकर्म अपने कारण है। उसमें द्रव्य कर्म निमित्त है और बाह्य पदार्थ नो कर्म है। उन सबका सम्बन्ध बतलाने के लिये ऐसा कथन किया है।

पुनश्च, स्मशान में कोई व्यक्ति अकेला जाये तो बहुत भय लगता है, दो व्यक्ति साथ जायें तो कम भय लगता है और तीन-चार व्यक्ति आयुधादि सहित जायें तो बिलकुल कम भय लगता है। इसलिये वहाँ निमित्त का प्रभाव पड़ता है—ऐसा अज्ञानी कहते हैं, किन्तु वह सब मिथ्या है। भय के परिणाम कम-अधिक होते हैं वे अपने कारण होते हैं; हथियार आदि के कारण भय कम नहीं होता—ऐसा जानना चाहिये। अपनी योग्यतानुसार परिणाम होते हैं, निमित्त का बिलकुल प्रभाव नहीं होता।

आत्मा में राग की उत्पत्ति न होना वह सच्ची अहिंसा है।

आत्मा में राग की उत्पत्ति न होना वह यथार्थ अहिंसा है, और

राग की मंदता को अहिंसा कहना वह कथन मात्र है। पंच महाव्रत में पहला अहिंसा महाव्रत है वह कथनमात्र का है। वे सब राग के परिणाम हैं। निश्चय से तो वह हिंसा है तथापि उसे अहिंसा कहना वह उपचार मात्र है।

राग रहित दशा को निश्चय महाव्रत कहते हैं। मंद रागादि परिणाम कथनमात्र महाव्रत हैं। अज्ञानी तो जड़ की क्रिया में महाव्रत मानता है और समझे बिना दीक्षा ले लेता है, उससे अनन्त संसार की वृद्धि होती है। इसलिये दोनों नयों के व्याख्यानों को समान सत्यार्थ जानकर "इसप्रकार भी है तथा इसप्रकार भी है,"—ऐसा भ्रमरूप प्रवर्तन करने के लिये दोनों नय ग्रहण करने को नहीं कहा है।

व्यवहारनय परमार्थ को समझाने के लिये है।

प्रश्नः—यदि व्यवहार नय असत्यार्थ है तो जिनमार्ग में उसका उपदेश किसलिये दिया? एकनिश्चयनयका ही निरूपण करना था।

उत्तरः—ऐसा ही तर्क श्री समयसार [गाथा ८] में किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है कि—जैसे किसी अनार्य को उसी की भाषा बिना नहीं समझाया जा सकता, उसीप्रकार व्यवहारके बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है।

निश्चय मोक्षमार्ग सच्चा है। वीतरागी धर्म पर्याय सच्चा धर्म है। देखकर चलना, मृदु भाषा बोलना, वह वास्तव में समिति नहीं है। शास्त्र में कथन आता है कि मुनि को ईर्या समिति के अनुसार देखकर चलना चाहिये इत्यादि। तो वैसा उपदेश क्यों किया? उसके समा-

बान में उत्तर देते हैं कि:—व्यवहारके बिना परमार्थको नहीं समझाया जा सकता।

"स्वस्ति" शब्द का अर्थ अनार्य नहीं समझ सकता, किन्तु "स्वस्ति" का अर्थ उसकी भाषा में समझायें कि—"तेरा अविनाशी कल्याण हो;" तो वह जीव समझ सकता है।—ऐसा व्यवहार का उपदेश है। म्लेच्छ भाषा में समझाना चाहिये, किन्तु ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं बनना चाहिये। उसीप्रकार व्यवहार से समझाया जाता है किन्तु उसे निश्चय नहीं मानना चाहिये। आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र—ऐसे भेद डालकर समझाते हैं किंतु वे कथनमात्र हैं। आत्मा में वास्तव में ऐसे भेद नहीं हैं; वह तो अभेद है। अज्ञानी के मन में व्यवहार रम रहा है, इसलिये व्यवहार की भाषा से आत्मा का स्वरूप कहता है; किन्तु वह वस्तु का स्वरूप नहीं है।

पुनश्च, व्यवहार अंगीकार करने के लिये उसका कथन नहीं करते; व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है; इसलिये व्यवहार का उपदेश है। और उसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि—इसप्रकार निश्चय को अंगीकार कराने के लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं। पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण आदि व्यवहारनय का विषय है, किन्तु वह अंगीकार करने योग्य नहीं है। तो भी मुनि दशा में ऐसे शुभभाव आते ही हैं, लाना नहीं पड़ते।

प्रश्न:—व्यवहार के बिना निश्चय का उपदेश नहीं हो सकता, तो व्यवहारनय को क्यों अंगीकार न करें?

उत्तर:—यहाँ दूसरे प्रकार से कथन है। समयसार में आत्मा

वस्तु को अभेद रूप परमार्थ कहा है और उसके पर्यायादि भेदों को व्यवहार कहा है। एकरूप अभेद आत्मा की दृष्टि कराने के लिये अपनी पर्याय के भेदों को गौण करके व्यवहार कहा है। यहाँ मोक्ष-मार्ग प्रकाशक में परद्रव्य से भिन्न और स्व भावों से अभिन्न वस्तु कही है। यहाँ अपनी पर्याय अपने में ली है; वस्तु अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न है ऐसा यहाँ कहा है।

यहाँ स्व के द्रव्य-गुण-पर्याय को निश्चय कहा है और शरीर, कर्म, निमित्तादि को व्यवहार कहा है। वस्तु है वह पर द्रव्य से भिन्न है और अपने भावों से अभिन्न है। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय अपने कारण स्वयं सिद्ध हैं; विकारी या अविकारी पर्याय स्व से है—पर से नहीं है। यहाँ विकारी पर्याय सहित द्रव्य को निश्चय कहते हैं और जड़ की पर्याय को जड़ द्रव्य का निश्चय स्वरूप कहते हैं।

व्यवहारनय से कथन के तीन प्रकार।

श्री समयसार की १४ वीं गाथामें व्यंजन पर्याय तथा अर्थपर्याय को भी व्यवहार कहा है। उसे यहाँ अभिन्न वस्तु में लिया है।—ऐसी अपेक्षा समझना चाहिये। जो आत्मा को न पहिचानता हो उस से ऐसे ही कहते रहें तो वह नहीं समझेगा। इसलिये उसे समझाने के लिये व्यवहार नय से [१] शरीरादि पर्याय की सापेक्षता से बतलाते हैं। यह एकेन्द्रिय जीव, यह मनुष्य जीव—ऐसा कहते हैं। पंचेन्द्रिय जीव के दस प्राण हैं—इसप्रकार शरीरादि परद्रव्य की अपेक्षा करके नर, नारकी, पृथ्वीकायादि जीव के भेद किये हैं। जड़ की

अपेक्षा लेकर जीव की पहिचान कराने के लिये शरीर को जीव कह देते हैं। जो जीव आत्मा के अभेद स्वरूप को नहीं समझता, निमित्त के सम्बन्ध से रहित, इन्द्रिय आदि दस प्राणों के सम्बन्ध से रहित; आत्मा का यथार्थ निश्चय जिसने नहीं किया है, उसे शरीरादि सहित जीव की पहिचान कराते हैं।

(२) अब अन्तर के व्यवहार से जीव की पहिचान कराते हैं। अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके, ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्याय रूप जीव के भेद किये हैं। यह जो ज्ञाता है वह जीव है, दृष्टा है वह जीव है, वीर्यवान है वह जीव है;—इसप्रकार भेद से जीव की पहिचान कराते हैं।

श्री समयसारकी सातवीं गाथामें कहा है कि—पर्यायमें भेद हैं; किन्तु अभेद–सामान्य द्रव्य स्वरूपको मुख्य कराने के लिये पर्याय के भेदों को गौण करके व्यवहार कहते हैं। इसलिये भेद अवस्तु है। भेद अपनी पर्याय है, किन्तु भेद के लक्षसे रागी जीवको राग होता है, इसलिये अभेदको मुख्य तथा भेदको गौण करके उसे अवस्तु कहा है। यहाँ मोक्षमार्ग प्रकाशकमें भेदको स्वयं-सिद्ध वस्तुमें गिना है और भेदसे समझाते हैं। अब तीसरा बोल कहते हैं।

(३) पुनश्च, रागरहित अभेद स्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र वह मोक्षमार्ग है। पंच महाव्रतादिके परिणाम मोक्षमार्ग नहीं हैं। लाखों रुपये का दान करे उससे धर्म तो नहीं है, किन्तु उसमें जो कषायमंदता हो वह पुण्य है। पैसा पाप नहीं है, किन्तु पैसेको अपना मानना वह पाप है। पैसा जाने रूप जो क्रिया है वह पुण्य नहीं है;

दानादिकमें कषायकी मंदताके परिणाम करे वह पुण्य है; किन्तु वे पुण्यपरिणाम मोक्षमार्ग नहीं हैं। किन्तु वीतरागभावसे ही मोक्षमार्ग है; किन्तु अज्ञानी जीव वीतरागभाव वह मोक्षमार्ग,—इतने से नहीं समझता, इसलिये उसे व्यवहारनय द्वारा समझाते हैं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक दे० पृष्ठ ३७१ में "व्यवहारनयसे तत्त्व-श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक परद्रव्यके निमित्त मिटानेकी……" लिखा है। उसमें 'व्यवहारनय' शब्द लिखा है वह 'तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान' के साथ लागू नहीं होता। तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान तो निश्चय है, व्यवहार नहीं है। जिसके निश्चय तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान प्रगट हुए हैं उसे व्यवहारनयसे परद्रव्यके निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रतादिके भेद बतलाते हैं! वीतरागी चारित्र वह मोक्षमार्ग है—ऐसा अज्ञानी नहीं समझता इसलिये व्यवहारसे समझाते हैं। अपने में अशुभराग मिटता है और शुभराग होता है, उसे शुभरागके व्रत, शील आदि भेद बताकर वीत-रागभावकी पहिचान कराते हैं। जिसे निश्चय तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान हुए हैं, उसके जो वीतरागभाव प्रगट होता है उस वीतरागभावको व्रत, शील, संयमादिरूप शुभभावके भेदों द्वारा समझाते हैं; क्योंकि अज्ञानी "वीतरागभाव"—इतना मात्र कहने से नहीं समझता।

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख शुक्ला ४ शुक्रवार १७–४–५३]

यह मोक्षमार्ग प्रकाशक है। मोक्षमार्ग अर्थात् क्या ?—आत्मा की पर्यायमें राग-द्वेष अज्ञानभावरूप विकार है वह संसार है, और उस विकारसे रहित पूर्ण निर्मल ज्ञानानन्ददशा प्रगट हो उसका नाम मोक्ष है, और उस मोक्षका जो कारण है वह मोक्षमार्ग है। शुद्ध

आत्माकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणता वह मोक्षमार्ग है। परजीवका जीवन या मरण आत्मा नहीं कर सकता, और दयादिका शुभभाव हो वह भी वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह तीनों वीतरागभावरूप हैं। मेरा आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूपी है—ऐसी वीतरागी श्रद्धा हो वह सम्यग्दर्शन है। मैं परका भला-बुरा कर सकता हूँ—ऐसी मान्यता वह अज्ञान है। आत्माकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है; उसे जो नहीं पहिचानता उसे व्यवहारनयसे व्रतादि के भेद करके समझाया है। व्यवहारश्रद्धा कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो वीतरागी रत्नत्रय ही है; किन्तु उसे भेद करके समझाया है।

जीवादि सातों तत्त्व जिसप्रकार भिन्न-भिन्न हैं, उसीप्रकार उनकी श्रद्धा करना चाहिये। सातों तत्त्वोंके भावोंका यथार्थ भासन होना वह निश्चय-सम्यग्दर्शन है। यथार्थ तत्त्वश्रद्धा और ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव हुआ वह मोक्षमार्ग है। ज्ञानानंद स्वरूपका यथार्थ भान हुआ हो और विकार हो वह मेरे स्वभावके लिये व्यर्थ है, और जड़की क्रिया मेरे लिये साधक या बाधक नहीं है—ऐसी श्रद्धा–ज्ञानसहित वीतरागभाव वह मोक्षमार्ग है; किंतु जो जीव ऐसे भावको नहीं पहिचानता उसे व्रतादि भेद करके समझाया है, उसका नाम व्यवहार है। मोक्षमार्गरूप वीतरागभाव तो एक ही प्रकार का है; तथापि अनेक प्रकारों से उसका कथन करना वह व्यवहार है। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र भी मोक्षमार्ग है। व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र वह मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप समझाने के लिये व्यवहारसे भेद करके समझाना वह व्यवहार है।

रागादिसे मोक्षमार्ग नहीं है। पैसा खर्च करने से धर्म नहीं हो-जाता और न पैसे से पुण्य भी है। पैसा खर्च करते समय मंदकषाय हो तो पुण्य होता है, धर्म तो भिन्न ही वस्तु है।

मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। आत्माकी परमानन्ददशा प्रगट हो वह मोक्ष है। मोक्ष आत्मामें होता है। उसका उपाय भी आत्मा का वीतरागभाव है; और वह वीतरागभाव एक ही प्रकारका है। जो उसे नहीं समझता उसे व्रतादिके अनेक भेद करके समझाया है। पहले स्त्री–व्यापारादिको अशुभपरिणामोंका निमित्त बनाता था, किन्तु आत्माके भानपूर्वक अंशतः वीतरागता होने से हिंसादिके अमुक निमित्त छूट गये, वहाँ निमित्त छूटने की अपेक्षासे अहिंसा, सत्यादि भेद करके समझाया है; किंतु वहाँ जो व्रतका शुभराग है वह कहीं वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। हिंसाभाव छूटा वहाँ हिंसाके निमित्त भी छूट गये। राग-द्वेषके समय स्त्री आदि निमित्त थे, वीतरागभाव होने पर वे निमित्त छूट गये इसलिये वे निमित्त छूटने की अपेक्षासे ब्रह्मचर्य व्रत आदिकको उपचारसे मोक्ष-मार्ग कहकर वीतरागभावकी पहिचान कराई है, किन्तु व्रतादिके जो शुभभाव हैं वे कहीं वीतरागभाव नहीं हैं।

जिसके वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उसके व्रतादिको उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है।

अज्ञानी लोग कहते हैं कि अनासक्तिभावसे जगतके कार्य करना चाहिये, किन्तु वह बात मिथ्या है। परके कार्य आत्मा कर ही नहीं

सकता; तथापि मैं उन्हें करता हूँ—ऐसा मानता है वही मिथ्यात्व है। जड़ इन्द्रियोंको जीतना चाहिये—ऐसा अज्ञानी मानता है, वह बात भी मिथ्या है। इन्द्रियाँ जड़ हैं, उन्हें जीतना कैसा ? किन्तु अंतरमें आत्माका भान होने पर इन्द्रियोन्मुखतारूप राग छूट जाने से इन्द्रियों का निमित्त छूट गया, और इन्द्रियों को जीत लिया ऐसा कहा जाता है सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक भूमिकानुसार वीतरागभाव हुआ वह मोक्षमार्ग है, और उस भूमिकामें व्रतादिका शुभराग भी होता है। जहाँ वीतराग भावरूपी यथार्थ मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है वहाँ व्रतादि भेदों को उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है; किन्तु जिसके वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग प्रगट ही नहीं हुआ है; उसके अकेले रागको उपचारसे भी मोक्षमार्ग नहीं कहते। यहाँ तो उस जीव की बात है जिसे तत्त्व का निश्चय श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुआ है। निश्चय श्रद्धा-ज्ञान के बिना तो मोक्षमार्ग का अंश भी वीतरागभाव नहीं होता। व्यवहार भी नहीं होता।

मुनि को चैतन्यकी निश्चय श्रद्धा-ज्ञान पूर्वक उसमें लीनता से वीतराग भाव होने पर हिंसा-चोरी-परिग्रहादि का अशुभ भाव नहीं होता। वहाँ अहिंसाव्रत, सत्यव्रत आदि भेद करके उसे समझाया है; किन्तु वहाँ मोक्षमार्ग तो वीतराग भाव है। वह वीतराग भाव एक ही प्रकार का है। राग और निमित्त छूटने की अपेक्षा से पंच महाव्रतादि, भेदों से मोक्षमार्ग का कथन करके समझाया है। इसलिये यथार्थ वस्तुस्थिति क्या है उसे प्रथम समझना चाहिये। शरीरकी क्रिया बराबर हो तो धर्म होता है—ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु शरीर की क्रिया में कहीं धर्म नहीं है। महावीतरागी मुनि हो और शरीर में अमुक लकवा हो गया हो, तो वहाँ शरीर की क्रिया से वंदनादि

नहीं कर पाते, तथापि अंतर में स्वभावके अवलम्बन से निश्चय श्रद्धा ज्ञान-चारित्र रूप वीतरागभाव बना है वह मोक्षमार्ग है। मुनि की दिगम्बर दशा होती है; वस्त्र का राग उनके नहीं होता। अट्ठाईस मूल गुण होते हैं, किंतु मूलगुणों का शुभ भाव कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो अंतर स्वरूप के आश्रय से प्रगट हुआ वीतरागभाव है। पंच महाव्रत के विकल्पों के समय उसमें उस भूमिका के योग्य वीतराग भाव है, वही मोक्षमार्ग है।

जड़ पदार्थ जगत के स्वतंत्र तत्त्व हैं। आहार का आना या न आना वह जड़ की क्रिया है आत्मा को नहीं। अज्ञानी आत्मा के भान बिना जड़की क्रिया का अभिमान करता है; उसे मोक्षमार्ग की खबर नहीं है।

"बोले उसके दो"

निश्चय का उपदेश करते समय बीच में भेद रूप व्यवहार से कथन आये बिना नहीं रहता। निश्चय मोक्षमार्ग तो एक ही प्रकार का है, किंतु उसे समझाते समय भेद करके समझाया है। "बोले वह दो मांगे"—इसप्रकार निश्चय का उपदेश करते समय बीचमें व्यवहार आये बिना नहीं रहता। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त आता है। काका-भतीजेके बीच पांच लड्डू थे; वहाँ दोनों झगड़ पड़े और उन्होंने निर्णय किया कि जो बोलेगा उसे दो मिलेंगे और नहीं बोलेगा उसे तीन। फिर तो दोनों चुप होकर लेट गये। लोगों ने समझा कि यह दोनों मर गये हैं; इसलिये उन्हें जलाने के लिये श्मशान में ले गये और जलाने की तैयारी की। इतने में भतीजे से नहीं रहा गया और

बोला कि—"उठो काका, तीन तुम्हारे और दो मेरे ?" उसीप्रकार आत्मा का चिदानन्द स्वभाव है। उसमें निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रतारूप मोक्षमार्ग है। बीच में जो विकल्प उठता है वह राग है। उपदेश का विकल्प उठा वहाँ निश्चय श्रद्धा और ज्ञानरूप दो लड्डू रहे; किन्तु निर्विकल्प रमणतारूप तीसरा लड्डू गँवा दिया; इसलिये कहा है कि—"बोले उसके दो।" और निर्विकल्परूप से चैतन्य में एकाग्र हुआ वहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की एकतारूप मोक्ष-मार्ग है। व्यवहार से कथन किया, वहां उसीसे चिपटा रहे और उस का परमार्थ न समझे तो वह मिथ्यादृष्टि है।

व्यवहार का पहला प्रकार

(१) नर-नारकादि शरीर को जीव, नरक का जीव अथवा देवका जीव कहा; वहां वास्तव में जो शरीर है वह जीव नहीं है, किन्तु अज्ञानी शरीर रहित अकेले जीव को नहीं पहिचानता, इसलिये उसे समझाने के लिये शरीर के निमित्त से कथन करके जीव की पहि-चान कराई है। किंतु वहाँ शरीर को ही जीव नहीं मान लेना चाहिये। वर्तमान में भी शरीर तो जड़ है। शरीर और जीव के संयोग की अपेक्षा से कथन किया कि—यह एकेन्द्रिय जीव, यह नारक के जीव; किन्तु वास्तव में वहाँ जीव तो उन एकेन्द्रियादि शरीरों से भिन्न ही है। जिसका लक्ष भिन्न जीव पर नहीं है, उसे संयोगकी अपेक्षासे कथन करके समझाया है; किंतु कथन किया उससे कहीं शरीर जीव नहीं बन जाता। अज्ञानीने शरीर रहित अकेला आत्मा कभी नहीं देखा है, इसलिये उसे समझाने के हेतु उपचार से कथन किया है वह व्यवहार

है चींटी के शरीर की अपेक्षा से "चींटी का जीव"—ऐसा कहा जाता है, किन्तु वह कहने मात्र के लिये है। वास्तव में चींटीका शरीर कहीं जीव नहीं है, जीव तो पृथक् है। जीवका शरीर तो ज्ञान है। "ज्ञान विग्रह" आत्माका शरीर है। भगवान आत्मा चैतन्य चमत्कार है; किंतु वह मृतक कलेवर ऐसे इस जड़ शरीर में मूर्च्छित हो गया है। जीते हुए भी शरीर तो मृतक कलेवर ही है। श्री समयसार की ९६ वीं गाथा में कहते हैं कि—भगवान आत्मा तो परम अमृतरूप विज्ञानघन है, और शरीर तो जड़ अमृत कलेवर है। अज्ञानी भिन्न चैतन्य को चूककर "शरीर ही मैं हूँ, शरीरकी क्रिया मुझ से होती है"—ऐसी मान्यता से मृतक कलेवर में मूर्च्छित हुआ है; उसे आत्मा शरीर से भिन्न भासित नहीं होता। निश्चय से तो आत्मा विज्ञानघन है और शरीर के संयोग से जीव का कथन किया वह व्यवहार है; किन्तु वहाँ वास्तव में जीव को शरीरवाला ही मानले तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। अरे जीव! शरीर तो मुर्दा है, और तू तो चैतन्यघन है, इसलिये "मैं शरीर को चलाता हूँ"—ऐसा मृतक कलेवर का अभिमान छोड़ दे। शरीर तो मृतक कलेवर है; वह तेरे धर्म का साधन नहीं है। तेरा आत्मा अमृत पिण्ड विज्ञानघन है, वही तेरे धर्म का साधन है। शरीर को जीव कहा वहाँ जीव तो विज्ञानघन है और शरीर जड़ है, उससे जीव पृथक् है ऐसा समझना चाहिये।

व्यवहारका दूसरा प्रकार

(२) पुनश्च, व्यवहारका दूसरा प्रकार यह है कि अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादिके भेद करके कथन किया वह व्यवहार है, किन्तु

वास्तवमें वहाँ आत्मा तो अभेद है अपने द्रव्य-गुण-पर्यायोंसे एकरूप है, किन्तु जाने वह आत्मा, श्रद्धा करे वह आत्मा, आनंद वह आत्मा इसप्रकार भिन्न-भिन्न गुणोंके भेदसे आत्माकी पहिचान कराई है, किंतु वहाँ कहीं आत्मा अलग-अलग नहीं है आत्मा तो समस्त गुणोंका अभेद पिण्ड है। समझाने के लिये अनेक भेद करके कहा है; किन्तु निश्चय से आत्मा अभेद है, वही जीववस्तु है—ऐसा समझना। विश्वास करनेवाला कौन है ? शरीर, पैसा, स्त्री आदि का विश्वास करता है वह कौन है ?—तो कहते हैं कि आत्मा अपने श्रद्धा गुणसे विश्वास करता है; इसलिये श्रद्धा करे वह आत्मा है। तो हे भाई ! अपने श्रद्धा गुण द्वारा जिसप्रकार तू परका विश्वास करता है उसी-प्रकार श्रद्धाको अन्तर्मुख करके अपने आत्माकी श्रद्धा कर;—इसप्रकार समझाया है। वहाँ कहीं श्रद्धा और आत्माके बीच भेद नहीं है, किन्तु समझाते हुए कथनमें भेद आता है।

पहले तो ऐसा कहा कि—शरीरादि परवस्तुओं को जीव कहना वह कथनमात्र है, वास्तवमें जीव वैसा नहीं है। जीव तो शरीर से भिन्न है। उसीप्रकार गुण भेदसे समझाया है। किन्तु वस्तु तो गुण-पर्यायोंका एक अभेद पिण्ड है, इसलिये भेदसे वस्तुकी श्रद्धा नहीं करना चाहिये, किंतु अभेद वस्तुकी श्रद्धा करना चाहिये। परसे भिन्न-और स्वभावसे अभिन्न, इसप्रकार जीवकी पहिचान कराई है। अब व्यवहारका तीसरा प्रकार कहते हैं। व्रतादि भेदों को मोक्षमार्ग कहा वहाँ वास्तवमें वह मोक्षमार्ग नहीं है। सच्चा मोक्षमार्ग तो वीतराग-भाव ही है—वह बात अब कहेंगे।

[वीर० सं० २४७९ प्र० वैशाख शुक्ला ५ शनिवार १७-४-५३]

आत्मा ने सच्चे-देव-गुरु-शास्त्रका ग्रहण किया और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रको छोड़ा,—यह भी उपचार से है। क्योंकि आत्माकी पहिचान होने से वीतरागी देव-गुरु-शास्त्रकी भक्तिका शुभराग आया और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रका मिथ्यात्व छूट गया, वहाँ कुदेवादि निमित्त भी छूट गये। आत्मा ने उन्हें छोड़ा—ऐसा कहना वह व्यवहार मात्र है। परका कौन ग्रहण-त्याग कर सकता है ?

स्वरूपमें लीन हुआ और सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका लक्ष भी छूट गया; वहाँ निमित्तका लक्ष छूटने कीअपेक्षासे ऐसा कहा जाता है कि देव-गुरु-शास्त्रको भी छोड़ दिया। परद्रव्यका निमित्त मिटनेकी अपेक्षासे कथन किया है कि—हिंसा छोड़कर परजीवकी अहिंसा ग्रहण की; असत्यका त्याग किया और सत्यका ग्रहण किया; चोरी छोड़ी और अचौर्यका ग्रहण किया; परिग्रहका त्याग किया और दिगम्बरदशा ग्रहण की; अब्रह्म छोड़ा और ब्रह्मचर्य ग्रहण किया; किंतु वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि स्वभावके अवलम्बनसे आत्मामें वीतरागभाव होने से उस-उसप्रकार का राग छूट गया। वास्तवमें रागको छोड़ना भी व्यवहारसे है, क्योंकि जो राग हुआ उसे उस-समय छोड़ना कैसा ? और दूसरे समय तो उस रागका व्यय हो जाता है। इसलिये वास्तवमें रागका भी ग्रहण-त्याग नहीं है, किन्तु स्वभावमें एकाग्रता द्वारा वीतरागभाव प्रगट हुआ वहां ऐसा कहा जाता है कि रागको छोड़ा। और राग छूटने पर ऐसा भी उपचारसे कहा जाता है कि अहिंसादि निमित्तोंको छोड़ दिया। पंचमहाव्रतादिका;

शुभभाव होनेसे हिंसादिको ओर का अशुभभाव छूट गया; किंतु वहाँ वे शुभ रागरूप संयमादि अथवा व्रत आश्रव है बंधमार्ग है, मोक्ष-मार्ग नहीं है। छह कायकी दयाका भाव वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव ही है; उस वीतरागभावमें सम्य-ग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रका समावेश हो जाता है।

व्यवहारका तीसरा प्रकार

परद्रव्यका निमित्त मिटने की अपेक्षासे व्रत-तपादिको मोक्ष-मार्ग कहा है; वहाँ उसीको मोक्षमार्ग नहीं मान लेना चाहिये, किन्तु वह तो व्यवहार मात्र कथन है; क्योंकि यदि परद्रव्यका ग्रहण-त्याग आत्माके हो तो आत्मा परका कर्त्ता-हर्ता हो जाये, किन्तु ऐसा वस्तु-स्वरूप नहीं है। किसी द्रव्यकी क्रिया दूसरे द्रव्यके आधीन नहीं है। मैं शरीरको चलाता हूँ—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है शरीर की उँगली चले या भाषा निकले वह जीवकी क्रिया नहीं है, जीव ने उसे नहीं किया है, तथापि ऐसा माने कि मुझसे वह क्रिया हुई है, तो वह जैन नहीं है। उसे नवतत्त्वों की श्रद्धा नहीं है। उँगलीकी क्रिया आत्माके आधीन नहीं है; सिरके बाल उलझ जायें या केशलोंच की क्रिया वह क्रिया उँगलीके आधीन नहीं है; और वह क्रिया आत्माके आधीन नहीं है। किसी द्रव्यकी क्रिया किसी दूसरे द्रव्यके आधीन नहीं है। बाह्य त्याग तो मोक्षमार्ग नहीं है और अंतरमें व्रता-दिका शुभराग भी मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। स्वभावोन्मुख हुआ वहाँ राग छूटा और वीतराग हुआ; इसलिये स्व-भावोन्मुख होना ही मोक्षमार्ग है। पहले कहीं आत्मा ने परद्रव्यको

ग्रहण नहीं किया था और वीतराग होने पर कहीं उसने परद्रव्यका त्याग नहीं किया है। परद्रव्य तो त्रिकाल आत्मासे पृथक ही हैं।

अज्ञानीको सच्ची समझ कठिन मालूम होती है और मुनिपना सरल लगता है; किन्तु अरे भाई! आत्माके ज्ञान बिना मुनिपना हो ही कैसे सकता है? सम्यग्दर्शनके बिना अनंतवार मुनिवृत धारण करके स्वर्गमें गया किन्तु अंतरमें यथार्थ मोक्षमार्ग क्या है उसे नहीं समझा।

व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहना वह उपचार है।

आत्मा में जो अशुद्धता है उसे मिटाने का उपाय बाह्य क्रिया है, तथा शुद्ध पर्याय की उत्पत्ति का कारण देव-गुरु आदि निमित्त हैं —इसप्रकार अज्ञानी जीव अशुद्धता और शुद्धता दोनों पर्यायें पर से मानता है। शुद्धता का उत्पाद भी पर से माना और अशुद्धता का नाश भी पर से माना, इसलिये आत्मा तो उत्पाद-व्यय रहित मात्र ध्रुव रह गया; किन्तु यह श्रद्धा ही मिथ्या है। चिदानन्द ध्रुव स्वभाव की दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन का उत्पाद और मिथ्यात्व का नाश हो जाता है।—यही शुद्धता प्रगट करने और अशुद्धता नष्ट करने की क्रिया है। बाह्य क्रिया से अशुद्धता नहीं मिटती; और शुभ राग भी अशुद्धता मिटने का कारण नहीं है, शुभ राग तो पुण्य बन्ध का कारण है। उस भाव से आत्मा बँधता है, वहाँ अज्ञानी उसे मोक्ष का कारण मानता है। शुभ राग से हमें पुण्य बन्ध तो होगा न?— इसप्रकार जिसे पुण्य बन्ध की रुचि है उसे अबंध आत्म स्वभाव का अनादर है। निश्चयसे आत्माका वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग हैं

और वृतादिक को मोक्षमार्ग कहना तो उपचार ही है। वीतराग भाव और वृतादिक में कदाचित् कार्यकारणपना है। वीतरागभाव वर्तता हो, प्रमाद भाव न हो, और कदाचित् शरीर के निमित्त से किसी जीव की हिंसा हो जाये, वहाँ कार्यकारणपना नहीं है; इसलिये वीतराग भाव और बाह्य वृतादिक में कदाचित् सम्बन्ध कहा है। मुनि छट्ठे गुणस्थान में हों और कोई उन्हें उठा कर पानी में डुबा दे, तो वहाँ शरीर के निमित्त से पानी के जीवों की हिंसा होगी, किंतु मुनि उसके निमित्त नहीं हैं, वे तो निर्मल ध्यान की श्रेणी लगा कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। पुनश्च, वीतरागभाव में एकाग्र हुआ वहाँ वृतादिक का शुभ विकल्प भी नहीं है। ज्ञानी को पूजा–भक्ति का भाव आये, पैरों में घुँघरू बाँध कर, ताण्डव नृत्य करे, किन्तु समझता है कि यह जो भक्ति का भाव आया है वह मेरे कारण है। नृत्य करने में शरीर की क्रिया जड़ की है, उसमें मेरा मोक्षमार्ग नहीं है। मेरा मोक्षमार्ग तो मेरे स्वभाव के अवलम्बन से ही है। ऋषभदेव भगवान के समक्ष इन्द्र ने नीलांजना देवी का नृत्य कराया, और नृत्य करते-करते उसकी आयु पूर्ण हो गई,—वहाँ भगवान को वैराग्य हो गया; किन्तु उन्होंने अपने कारण वैराग्य प्राप्त किया है यदि निमित्तके कारण वैराग्य प्राप्त हुआ हो तो सारे दर्शकों को क्यों वैराग्य नहीं हुआ? पुनश्च, हनुमानजी खिरते हुए तारे को देख कर वैराग्य को प्राप्त हुए। वहाँ तारा खिरा वह तो निमित्त मात्र है; वास्तव में स्वयं अपने में वैसा वीतराग भाव प्रगट किया तब बाह्य वस्तु को निमित्त कारण कहा। उसीप्रकार मोक्षमार्ग में वृतादिक को निमित्त कारण कहना भी निमित्त से है। वह नियम-

रूप नहीं है; किन्तु कभी-कभी व्रतादिक और मोक्षमार्ग के निमित्त-नैमित्तिकपना होता है। पुनश्च, व्रतादिक भी नियम से निमित्त नहीं हैं, क्योंकि अंतरंग में वीतरागी मोक्षमार्ग प्रगट करे तभी उसके निमित्तपने का आरोप आता है।

अज्ञानी जीव आत्मा के भान बिना व्रतादि के शुभ राग में वर्तता हो, और उसके बाह्य व्रतादि की क्रिया हो, किन्तु वह कहीं उसे मोक्षमार्ग का कारण नहीं होता; क्योंकि जहाँ मोक्षमार्ग होता है वहाँ व्रतादि होते हैं; उन्हें निमित्त-व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा जाता है। व्रतादि को मोक्षमार्ग कहना वास्तव में तो कथन मात्र है।

तीनों प्रकार के व्यवहार

(१) नर-नरकादि शरीरको जीव कहना वह संयोग का कथन है।

(२) वस्तु अभेद है; उसमें ज्ञान-दर्शनादि भिन्न-भिन्न गुणों से भेद करके कथन करना—वह भी उपचार से कथन है। वस्तु तो एक ही है।

(३) वीतरागभाव मोक्षमार्ग है। उसके बदले व्रतादिक शुभ रागको मोक्षमार्ग कहना—वह भी उपचार से कथनमात्र है।

—इसप्रकार व्यवहार कथनके तीन दृष्टांत दिये हैं। तदनुसार सबमें समझ लेना चाहिये। "धर्मास्तिकायाभावात्"—अलोकाकाशमें धर्मास्तिकाय न होने से सिद्धके जीव आगे नहीं जाते—यह कथन भी उपचारमात्र है। वास्तवमें तो सिद्ध भगवान की क्रियावती शक्ति की पर्याय की उतनी योग्यता है। गुरुके निमित्तसे ज्ञान हुआ वहाँ, अहो!

धन्य गुरु ! तुम्हारे चरण कमल के प्रताप से मैं भवसागर से पार हो गया।—इसप्रकार बड़े बड़े मुनि भी विनय से कहते हैं; किन्तु वहाँ वह उपचार कथन है। स्वयं अपने से पार हुआ तब विनयपूर्वक गुरु से कहता है कि—"हे नाथ ! आपने तार दिया ! आपके प्रताप से मैं संसार सागर से पार हो गया।"—इसप्रकार शास्त्रमें जहाँ-जहाँ व्यवहार कथन आये वहाँ-वहाँ यथार्थ वस्तुको समझकर उसका श्रद्धान करना चाहिये, किन्तु व्यवहार कथनको ही सत्य नहीं मान लेना चाहिये; क्योंकि व्यवहारनय परद्रव्य के संयोग और निमित्तादि की अपेक्षा से वर्णन करता है; इसलिये ऐसे व्यवहारनयको अंगीकार नहीं करना चाहिये।

व्यवहारनय परको उपदेश देने में ही कार्यकारी है, या अपना भी कुछ प्रयोजन सिद्ध करता है ?—यह बात अब कहते हैं।

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख शुक्ला ६ रविवार १९–४–५३]

निश्चय और व्यवहारके वर्णन का अधिकार चलता है। व्यवहारनय वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं बतलाता, किन्तु उपचारसे अन्यथा निरूपण करता है। अज्ञानी जीव अनादिसे व्यवहार को ही यथार्थ मानता है। व्रतादि के शुभराग को धर्म मानता है वह मिथ्या है। व्यवहारनय परको उपदेश देने में ही कार्यकारी है या अपना भी कुछ प्रयोजन सिद्ध करता है ?—ऐसा प्रश्न किया है; उसका उत्तर देते हैं। परको उपदेश देनेमें व्यवहारनय आता है यह बात तो कही; अब अपने लिये बात है। चैतन्य वस्तु देहादि से भिन्न है, और अपने गुणोंसे अभेद है। चैतन्य वस्तु देहादिसे भिन्न है, और अपने गुणोंसे

अभेद है, किन्तु देहके संयोग से एकेन्द्रिय जीव, पंचेन्द्रिय जीव आदि कहकर व्यवहार से पहिचान कराई है। जीव चैतन्य स्वरूप है, देहसे भिन्न है,—ऐसा कहने पर कोई अज्ञानी जीव ऐसा समझ जाये कि ऐसे तो सिद्ध भगवान ही हैं; इसलिये वे ही जीव हैं और मैं तो शरीरवान हूँ; तो वह परमार्थ को नहीं समझता। व्यवहार कहकर भी भेदज्ञान द्वारा जीवका लक्ष कराना था, किन्तु व्यवहार कथन के अनुसार ही वस्तु स्वरूप नहीं समझ लेना चाहिये।

अब, अपने में भी जहाँ तक परमार्थ वस्तुको ही समझे तबतक "मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ"—इसप्रकार व्यवहार मार्ग द्वारा वस्तुका निर्णय करना चाहिये। व्यवहार मार्ग अर्थात् क्या ? बाह्य क्रियाकांड की बात नहीं है, किन्तु अंतरमें "मैं ज्ञान हूँ", इत्यादि भेदका विकल्प और विचार उठता है उसे व्यवहारमार्ग कहा है। अभेद वस्तुका अनुभव नहीं है इसलिये भेदका विकल्प आता है; किंतु अभेद का निर्णय करना चाहता है इसलिये उस भेदके विचार को व्यवहार कहा है। "मनुष्य जीव"—ऐसा पहले विचार करके, फिर देहसे भिन्न ज्ञान-स्वरूप हूँ—इस प्रकार जीवको लक्ष में ले वहाँ गुण-गुणी के भेद से जीव को लक्ष में लेना वह व्यवहार है। उस व्यवहारमार्ग द्वारा अभेद जीवका अनुभव करे तो भेद का विचार निमित्त है। जो जीव भेद का अवलम्बन छोड़कर अभेदरूप जीव को लक्ष में ले उसे भेदका विचार व्यवहार मार्ग कहलाता है। इसप्रकार भेदका भी लक्ष छोड़कर अभेद जीवका निर्णय करना वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की क्रिया है। यथार्थ स्वरूप क्या है ? और उपचार क्या है ? उसका पहले निर्णय करना चाहिये। वीतरागभाव वह सच्चा

मोक्षमार्ग है और बाह्य में व्रत-तपादि भेदोंको मोक्षमार्ग कहना वह उपचारमात्र है। वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है।

(१) मनुष्य जीव, देव जीव आदिको जीव कहा वहाँ ऐसा निर्णय करना चाहिये कि मनुष्य, देवादि के जो शरीर हैं वे जीव नहीं हैं, जीव तो उनसे पृथक् चैतन्यमय है।

(२) गुण-गुणी भेदसे कथन किया कि ज्ञान वह जीव, दर्शन वह जीव; वहाँ ऐसा निर्णय करना चाहिये कि जीव वस्तु तो अनंत गुणोंसे अभेद है।

(३) व्रतादि भेदों को मोक्षमार्ग कहा, वहाँ ऐसा निर्णय करना चाहिये कि व्रतादिका राग या बाह्य क्रिया वह वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है; सच्चा मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव ही है।

व्यवहारनय कार्यकारीका अर्थ !!

इसप्रकार जहाँ-जहाँ व्यवहार कथन हो वहाँ सर्वत्र परमार्थका ही निर्णय करना चाहिये, व्यवहार कथन को पकड़ रखना कार्यकारी नहीं है। परमार्थ वस्तुका निर्णय करना ही प्रयोजन है और व्यवहार का कथन उसमें निमित्त है; उस निमित्तपने की अपेक्षा से व्यवहार को कार्यकारी कहा है; किंतु जो परमार्थका निर्णय करे उसे व्यवहार निमित्त कहलाता है। अनादि से परमार्थ तत्त्व समझ में नहीं आया है, इसलिये उसका निर्णय करने में बीचमें भेदका विचार आये बिना नहीं रहता; किंतु उस व्यवहारको उपचार मात्र मानकर परमार्थ

वस्तुका निर्णय करे तो उसे व्यवहार कार्यकारी अर्थात् निमित्त कहलाता है; किन्तु निश्चयकी भांति व्यवहार कथनको भी सत्यभूत मानले और वैसा ही श्रद्धान करले तो उसे तो व्यवहारनय उलटा अकार्यकारी हो जायेगा। "मनुष्यका जीव"—ऐसा कहने से जीवको तो नहीं समझे और मनुष्य शरीर को ही जीव मानले तो उसके मिथ्याश्रद्धा ही दृढ़ होती है। उसीप्रकार व्रतादि शुभरागको उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है, वहाँ उस रागको ही सच्चा मोक्षमार्ग मानले और वीतरागभावरूप यथार्थ मोक्षमार्गको न पहिचाने, तो उसके मिथ्याश्रद्धा ही होती है। इसलिये उसे व्यवहारनय अकार्यकारी हुआ। तथा गुण-गुणी के भेद से कथन करके समझाया वहाँ उस भेदके लक्षमें ही रुक जाये और अभेदका लक्ष न करे तो उसे भी व्यवहारनय कार्यकारी नहीं हुआ। इसलिये जो निश्चय का अवलम्बन लेकर जीवका परमार्थ स्वरूप समझता है उसीको भेद कथन—व्यवहार कहा जाता है। परमार्थ न समझे तो उसके व्यवहार भी नहीं है; क्योंकि व्यवहार तो अनादि से किया है। जो जीव परमार्थको नहीं समझता और व्यवहार को ही सत्यभूत मान लेता है उसे तो व्यवहार किंचित् कार्यकारी नहीं है।

जो मात्र व्यवहारको ही समझता है वह उपदेश के योग्य नहीं है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें कहते हैं कि:—

अबुद्धस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थं।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥

माणवक एक सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।। ७ ।।

अर्थ:—मुनिराज अज्ञानी को समझाने के हेतु, असत्यार्थ जो व्यवहारनय है उसका उपदेश देते हैं परन्तु जो मात्र व्यवहार को ही जानते हैं उन्हें तो उपदेश देना ही योग्य नहीं है; और जिसप्रकार कोई सिंहको न जानता हो उसे तो बिलाव ही सिंह है; उसीप्रकार जो निश्चयको न जानता हो उसे तो व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त होता है।

देखो, वास्तव में द्रव्यके आश्रयसे ही निर्णय होता है। व्यवहार द्वारा कहीं परमार्थका निर्णय नहीं होता; किन्तु निर्णय करनेवाले को वैसा निमित्त होता है, और उपदेश में व्यवहार आये बिना नहीं रहता; इसलिये व्यवहार द्वारा निर्णय करना चाहिये—ऐसा उपचार से कहा है। किन्तु जो व्यवहारको ही पकड़ रखे उसे तो उपदेश देना ही योग्य नहीं है। जैसे—वचनगुप्तिका उपदेश चल रहा हो कि—"वचनगुप्ति रखना चाहिये"; वहाँ कोई जीव ऐसा कहे कि यदि वचनगुप्ति रखने को कहते हो तो आप क्यों वचन बोलते हैं?—तो वैसा कहने वाला जीव स्वच्छन्दी है, उसे व्यवहार की खबर नहीं है और न परमार्थकी ही खबर है। वह जीव उपदेश के योग्य नहीं है। उसी प्रकार उपदेश में परमार्थ समझाते समय बीच में व्यवहार कथन आजाता है; वहाँ जो जीव व्यवहार को ही सत्यभूत मानकर उसकी श्रद्धा करता है और परमार्थ को नहीं समझता, वह जीव उपदेश के योग्य नहीं है।

पहले 'व्यवहार चाहिये'—ऐसा जो मानता है वह जीव उपदेश के योग्य नहीं है। अरे भाई ! परमार्थ समझाने के लिये हमने व्यवहार से कथन किया था; कि–ऐसे भेद आते हैं वे जानने योग्य हैं उसके बदले व्यवहारके अवलम्बन से जो लाभ मान लेता है वह जीव परमार्थ समझने के योग्य तो नहीं है, किन्तु उपदेश के भी योग्य नहीं है। अहो ! मुनि कहते हैं कि हमें उपदेश में जो परमार्थ वस्तु समझाना थी, उसे नहीं समझा और अनादिकालीन व्यवहार दृष्टि नहीं छोड़ी, तो उस जीव ने हमारा उपदेश सुना ही नहीं है। उपदेश में व्यवहार आये वहाँ कहे कि—देखो, "हमारा व्यवहार आया या नहीं ?"—ऐसा कहकर जो व्यवहारके आश्रयसे लाभ मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। अभव्य के और उसके अभिप्राय में कोई अंतर नहीं है, क्योंकि श्री समयसार में कहा है कि—"अभव्य को व्यवहार के पक्ष का सूक्ष्म आशय रह जाता है।" परमार्थ की दृष्टि नहीं करता और व्यवहार के आश्रय से लाभ मानता है इसलिये वह उपदेश के योग्य नहीं है। उपदेश देकर हमें तो अभेद की दृष्टि कराना है, कहीं भेद का अवलम्बन नहीं कराना है, किंतु उपदेश में व्यवहार आये बिना नहीं रहता; क्योंकि—

"उपादान विधि निर्वचन है निमित्त उपदेश"

उसीप्रकार

"निश्चयविधि निर्वचन है व्यवहार उपदेश"

"उपदेश से लाभ नहीं है"—ऐसा कहें, वहाँ अज्ञानी कहता है कि—"यदि हमें उपदेशसे लाभ न होता हो तो आप किसलिये उपदेश देते हैं ?" तो ज्ञानी कहते हैं कि अरे मूढ ! तेरे लिये हमारा उपदेश नहीं है। हमारे उपदेश का रहस्य तू नहीं समझा।

दिगम्बर जैन परमेश्वर का सिद्धान्त है कि परमार्थ के बिना व्यवहार नहीं होता। परमार्थ के आश्रय से ही मोक्षमार्ग है, और परमार्थ हुआ तब राग को व्यवहार कहा जाता है। जो व्यवहार के आश्रय से लाभ मानता है वह जीव देशना का पात्र नहीं है। अंतर में ज्ञानवस्तु है, उसे जब पकड़ा तब राग में व्यवहारका आरोप आया। अंतर में परमार्थ वस्तु को पकड़े बिना व्यवहार किसका ? सिंह को पहिचाननेके लिये कहें कि—"देखो, सिंह इस बिल्ली जैसा होता है।" वहाँ बिल्ली को ही सिंह मानले वह सच्चे सिंह को नहीं जानता। उसी प्रकार जो परमार्श को तो जानता नहीं है और व्यवहार से परमार्थ समझाने के लिये उपदेश किया, वहाँ व्यवहार को ही परमार्थ मानकर श्रद्धा करता है वह जीव परमार्थ को नहीं समझता। व्यवहार असत्यार्थ है; उसी को जो सत्यार्थ माने उसे तो असत्यार्थ ही सत्यार्थपने को प्राप्त होता है, अर्थात् वह जीव असत्य श्रद्धान करता है।

व्यवहारको असत्य कहा, इसलिये कोई अज्ञानी जीव ऐसा कहे कि व्यवहार असत्य है तो हम व्रत—तप छोड़ देंगे ! तो उसका क्या समाधान है ? वह अब कहेंगे।

[वीर सं० २४७१ प्र० वैशाख शुक्ला ७ सोमवार ता० २०–४–५३]

व्यवहारको हेय कहा; वहां कोई निर्विचार अज्ञानी ऐसा प्रश्न करता है कि—आप व्यवहारको असत्य और हेय कहते हो, तो हम व्रत-तप-संयमादि व्यवहारकर्म किसलिये करें ? उन सबको छोड़ देंगे।

व्रतादिक व्यवहार नहीं हैं, किन्तु व्रतादि को मोक्षमार्ग मानना वह व्यवहार है।

उत्तर—अरे भाई! हमने व्रतादिको कहाँ व्यवहार कहा है? व्रतादि तो व्यवहार नहीं हैं; किंतु उन्हें मोक्षमार्ग मानना वह व्यवहार है; इसलिये उनकी श्रद्धा छोड़। व्रतादिको व्यवहारसे मोक्षमार्ग कहा है किंतु वह वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसी श्रद्धा करने का नाम व्यवहारकी हेयता है। इसलिये तू व्रतादिको मोक्षमार्ग मानना छोड़ दे; किंतु उन व्रतादिको छोड़कर यदि अशुभभाव करेगा तो पाप होगा, और उलटा नरकादिमें जायेगा। व्रत पर्याय स्वयं कहीं व्यवहार नहीं है, किंतु उस व्रतपर्यायमें मोक्षपर्यायका आरोप करना वह व्यवहार है; इसलिये उसे मोक्षमार्ग मानने की श्रद्धा छोड़ दे! मोक्षमार्गमें बीचमें भगवानकी भक्ति, निःशंकता आदि आठ आचार और व्रत-तप आदि के शुभभाव आते हैं, वे निचली भूमिकामें नहीं छूटेंगे शुद्धोपयोग उग्र होने पर ही वह शुभराग छूटता है, इसलिये वह परिणति हो तब तक उसे निश्चयसे अपनी जान; किंतु उसे मोक्षमार्ग मत मान। व्यवहारको छोड़नेका अर्थ क्या?—तो कहते हैं कि व्रतादि के रागको मोक्षमार्ग न मानना। व्रतादिको मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है; और उन व्रतादिको मोक्षमार्ग न मानना, किन्तु व्रतको व्रतरूप ही जानना वह निश्चय है। वह आत्माकी ही अशुद्ध परिणति है। यहाँ तो निश्चय-व्यवहारकी ऐसी शैली है कि अपने भावको अपना कहना वह निश्चय, और अपने भावको दूसरे का बतलाना वह व्यवहार है। व्रतादिका रागभाव वास्तवमें मोक्षमार्गका भाव

नहीं है किन्तु बंधमार्गका भाव है; तथापि उस भावको मोक्षमार्ग मानना वह व्यवहार है। वह मान्यता छोड़कर यथार्थ वीतरागभाव-रूप मोक्षमार्गको पहिचान। जहाँ स्वभावके आश्रयसे वीतरागी मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है वहाँ व्रतादिको बाह्य सहकारी जानकर उसे उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है। मोक्षमार्ग के बीचमें वे होते हैं। अंतर में निश्चय श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र स्वद्रव्यके आश्रयसे प्रगट हुए वही निश्चयसे मोक्षमार्ग है, और उसके साथ व्रत–तप–त्यागादि तो पर-द्रव्याश्रित हैं। व्यवहार मोक्षमार्ग तो परद्रव्याश्रित है। सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है वह स्वद्रव्याश्रित है; इसलिये स्वद्रव्याश्रित भावको मोक्षमार्ग कहना वह निश्चय है और व्रतादि परद्रव्याश्रित हैं उन्हें मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है, अर्थात् वह सचमुच मोक्षमार्ग नहीं है। वास्तव में मोक्षमार्ग तो दूसरा ही है—ऐसा समझने का नाम व्यवहार की हेयता है। निश्चय मोक्षमार्ग के साथ निमित्त-रूपसे व्रतादि कैसे होते हैं, उन्हें जानने को मना नहीं किया है, किन्तु उन्हीं को मोक्षमार्ग मानना छोड़ दो!

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् व्रतादि शुभभावको मोक्षमार्ग का उपचार आता है, अशुभ को नहीं

व्रतादि के परिणाम बीचमें आये बिना नहीं रहेंगे। वीतरागता हुए बिना शुभराग नहीं छूटेगा। शुद्धोपयोग न हो वहां शुभ या अशुभ उपयोग होता है। इसलिये शुभपरिणाम हों वह अलग बात है, किन्तु उस शुभको मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। शुभको मोक्षमार्ग मानना छोड़ दे। यही व्यवहारको हेय करने का अर्थ है। निश्चय

स्वभावमें दृष्टि रख और बीचमें व्रत–तपके परिणाम आयें उन्हें भी अपने परिणाम जान, किन्तु उन्हें मोक्षमार्ग न मान। व्यवहार और राग बीचमें आये वह अलग बात है, किन्तु उसीको मोक्षमार्ग मानले तो उसके मिथ्यात्व है; उसके शुभमें तो मोक्षमार्गका उपचार भी नहीं है। उपचार तो तब कहलाता है जबकि–वास्तवमें वह मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा समझे और वीतरागभावरूप सच्चे मोक्षमार्ग को जाने। व्रतादिका शुभराग सचमुच मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसी धर्मीकी मान्यता हो जाने पर भी जबतक शुद्धोपयोग नहीं हुआ तबतक भक्ति–पूजा–व्रतादिके शुभभाव आते हैं। यदि शुभ परिणाम भी छोड़दे और अशुभ परिणामोंमें वर्ते तो वहाँ मोक्षमार्गका निमित्त भी नहीं है। यदि अशुभको मोक्षमार्गका निमित्त माने, तब तो वहाँ निश्चयकी दृष्टि भी नहीं रहेगी, इसलिये वहाँ मोक्षमार्गका आरोप भी नहीं है। मोक्षमार्गका निमित्त शुभ को कहा जाता है, किन्तु अशुभ को नहीं कहा जाता। जहाँ ज्ञायक तत्त्व पर दृष्टि हो वहां शुभमें मोक्षमार्गका आरोप आता है, किंतु जहां दृष्टि ही मिथ्या है अर्थात् यथार्थ मोक्ष-मार्ग प्रगट ही नहीं हुआ है, वहां तो शुभमें मोक्षमार्गका उपचार भी नहीं आता। और शुभको छोड़कर अशुभ करे तो उस अशुभमें तो मोक्षमार्गके निमित्तका उपचार भी संभवित नहीं होता। शुद्धोपयोग तो हुआ नहीं है और शुभको छोड़ देगा तो अशुभ होकर नरकादिमें जायेगा। देखो, यह मिथ्यादृष्टिकी बात है इसलिये नरककी बात ली है। सम्यग्दर्शनके पश्चात् भी विषय–कषायके कोई अशुभभाव आ-जाते हैं, किन्तु उसे वे नरकादिके कारण नहीं होते, और वे अशुभ-परिणाम मोक्षमार्गके निमित्त भी नहीं हैं। मोक्षमार्गका उपचार

वृतादि—शुभमें आता है, किन्तु हिंसादिके अशुभ–परिणामोंमें तो वैसा उपचार भी नहीं होता। मिथ्यादृष्टि शुभको छोड़कर अशुभमें प्रवर्तन करेगा तो पाप बांधकर नरकमें जायेगा। धर्मीके अशुभ आये किन्तु अशुभके समय उसे नरकादिकी आयु का बंध नहीं होता। परंतु अभी जिसे धर्मकी दृष्टि भी नहीं है और शुभरागको व्यवहार कहकर छोड़ता है, उसे तोमोक्षमार्गकी या उसके उपचारकी भी दृष्टि नहीं रही। उसकी तो दृष्टि ही मिथ्या है। इसलिये शुभ छोड़-कर अशुभमें वर्तना वह निर्विचारीपना है। हां यदि सम्यग्दर्शनके पश्चात् वृतादिक शुभभाव छोड़कर मात्र वीतराग उदासीन भावरूप रह सके तो वैसा कर; किंतु वह शुद्धोपयोगके बिना नहीं हो सकता; और निचली दशामें चौथे-पांचवें-छट्ठे गुणस्थानमें शुद्धोपयोग नहीं रहता; इसलिये वहां शुभराग और वृतादिक के भाव आते हैं, किंतु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानना चाहिये। निचली दशामें शुभको छोड़कर अशुभमें प्रवर्तन करे तो वह स्वच्छन्दी हो जायेगा।

श्रद्धामें तो निश्चयको तथा प्रवृत्तिमें व्यवहारको उपादेय मानना—वह मान्यता मिथ्याभाव ही है; किन्तु निश्चयको तो यथार्थ वस्तु स्वरूप जानकर अंगीकार करना चाहिये, और व्यवहारको तो आरोप जानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये, —इसप्रकार दोनों नय समझना।

अब, वह जीव दोनों नयों का अंगीकार करनेके हेतुसे किसी समय अपने को शुद्ध सिद्ध समान, रागादि रहित और केवलज्ञानादि सहित आत्मा मानता है, तथा ध्यान मुद्रा धारण करके ऐसे विचारों

में लीन होता है। स्वयं ऐसा नहीं है तथापि भ्रमसे, निश्चयसे "मैं ऐसा ही हूँ"—ऐसा मानकर संतुष्ट होता है, तथा किसी समय वचन द्वारा निरूपण भी ऐसा ही करता है, किन्तु स्वयं प्रत्यक्ष जैसा नहीं है वैसा अपने को मानता है, वहां निश्चय नाम कैसे प्राप्त कर सकता है ? क्योंकि जो वस्तु की यथावत् प्ररूपणा करे उसका नाम निश्चय है। इसलिये जिसप्रकार मात्र निश्चयाभासी जीवका अयथार्थपना पहले कहा था उसीप्रकार इसे भी जानना।

द्रव्यदृष्टिसे सिद्ध समान कहा है, किंतु पर्यायमें भी अपने को सिद्ध जैसा मानकर अज्ञानी संतुष्ट होता है। पर्यायमें राग और अल्पज्ञता होनेपर भी अपने को वीतरागी, केवलज्ञान सहित सिद्ध समान मानता है, किन्तु पर्यायमें सिद्धपना तो नहीं है तथापि अज्ञानी सिद्धपना मानता है और उसे निश्चय मानता है; किन्तु वह निश्चय नहीं है; वह तो निश्चय श्रद्धा है। पर्याय में जैसा है वैसा जानना चाहिये।

अथवा वह मानता है कि—"इस नयसे आत्मा ऐसा है और इस नयसे ऐसा है"; किन्तु आत्मा तो जैसा है वैसा ही है। वहां नय द्वारा निरूपण करने का जो अभिप्राय है उसे वह नहीं जानता; क्योंकि आत्मा निश्चयनय से तो सिद्ध समान केवलज्ञानादि सहित, द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म-रहित है, तथा व्यवहारनयसे संसारी, मतिज्ञानादि सहित, द्रव्यकर्म-नोकर्म भावकर्म सहित है,—ऐसा वह मानता है। अब, एक आत्माके ऐसे दो स्वरूप तो होते नहीं हैं; क्योंकि जिस भावका सहितपना माना, उसी भावका रहितपना एक ही वस्तु में कैसे संभवित हो सकता है ? इसलिये ऐसा मानना भ्रम है।

एक ही पर्याय में परस्पर विरुद्ध दो भाव मानना वह मिथ्याश्रद्धा है।

अज्ञानी एक ही पर्याय में दो प्रकार मानता है। उसी पर्याय में सिद्धपना और उसी में संसारीपना। निश्चय से सिद्धपना और उसी में व्यवहार से संसारीपना,—इसप्रकार अज्ञानी मानता है; किन्तु वह वस्तुस्वरूप का तो निर्णय करता नहीं है।

पुनश्च, एक ही पर्याय में मतिज्ञान और केवलज्ञान—दोनों कैसे संभवित हो सकते हैं? अज्ञानी मानता है कि वर्तमान पर्याय में व्यवहार से मैं मतिज्ञानादि सहित हूँ और निश्चय से वर्तमान पर्याय में केवलज्ञानी हूँ; किन्तु इसप्रकार निश्चय-व्यवहार है ही नहीं। एक ही पर्याय में सिद्धपना और संसारीपना दो नहीं होते। एक ही पर्याय में मतिज्ञान और केवलज्ञान दोनों कैसे हो सकते हैं? एक ही पर्याय में राग और पूर्ण वीतरागता दोनों कैसे हो सकते हैं? हाँ, वस्तुमें द्रव्यदृष्टिसे सिद्ध होने की शक्ति है, और पर्याय में संसार है। द्रव्य में केवलज्ञान की शक्ति है और पर्याय में मतिज्ञानादि अल्प ज्ञान है—ऐसा जाने तो यथार्थ है, किन्तु एक ही पर्याय में दो भाव मानना वह कहीं निश्चय–व्यवहार नहीं है; वह तो मिथ्या श्रद्धा है। तो फिर किसप्रकार है?

जिसप्रकार राजा और रंक मनुष्यत्व की अपेक्षा से समान हैं; उसीप्रकार सिद्ध और संसारी—दोनोंको जीवत्व की अपेक्षासे समान कहा है। केवलज्ञानादि की अपेक्षा से समानता मानें, तो वैसा नहीं है, क्योंकि संसारी को निश्चय से मतिज्ञानादिक ही हैं और सिद्ध

को केवलज्ञान है। यहाँ इतना विशेष कि संसारी को मतिज्ञानादिक हैं वे कर्म के निमित्त से हैं, इसलिये स्वभाव अपेक्षा से संसारी को केवलज्ञान की शक्ति कहें तो उसमें दोष नहीं है। जिसप्रकार रंक मनुष्य में राजा होने की शक्ति होती है उसीप्रकार यह शक्ति भी जानना।

पर्याय अपेक्षा से तो छद्मस्थ को मतिज्ञानादिक हैं वे निश्चय से हैं। निश्चय से केवलज्ञान की शक्ति कहना वह तो द्रव्य अपेक्षा है; किंतु पर्याय में कहीं निश्चय से केवलज्ञान नहीं है। पर्याय में तो निश्चय से मति–श्रुत ज्ञान ही हैं।

पुनश्च, द्रव्यकर्म, नो कर्म को पुद्गल की पर्याय है, इसलिये निश्चय से तो वह संसारी जीव से भी भिन्न ही है; किंतु संसार पर्याय के समय उस कर्म–नो कर्म के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है वह जानना चाहिये। सिद्ध भगवान की भाँति संसारीको भी कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध सर्वथा न माने तो वह भ्रम है। हाँ, धर्मी जीव की दृष्टि में कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध छूट गया है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में जो राग-द्वेषादि भावकर्म होते हैं, वह तो आत्मा का औदयिक भाव है; वह भाव निश्चय से आत्मा का है, तथा कर्म उस में निमित्त है। इसलिये उसे कर्म का कहना वह उपचार से–व्यवहार से है। राग–द्वेषादि उदयभाव भी निश्चय से आत्मा के हैं, क्यों कि वे आत्माकी पर्याय में होते हैं; तथा शरीर, कर्म आदि निश्चय से जड़ की परिणति है, उस के साथ जीव का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है।

शुद्ध द्रव्य दृष्टि के विषय में तो ऐसा कहा जाता है कि—रागादि आत्मा के हैं ही नहीं, वे निश्चय से जड़ के हैं, किंतु वहाँ द्रव्यदृष्टि की बात है और यहाँ तो दो द्रव्यों का पृथक्त्व बतलाते हैं। जिस द्रव्य का जो भाव हो उसे उसी का कहना वह भी निश्चय है। राग को आत्मा का कहना भी निश्चय है। राग निश्चय से आत्मा का है; कर्म से राग हुआ ऐसा मानना वह भ्रम है। संसारी जीव के ही रागादि हैं वह औदयिक भाव स्वतत्त्व है, रागादि भाव कर्मके नहीं है। उन रागादिकभावोंको कर्मका मानना वह भ्रम है। इसलिये निश्चय से ऐसा है, और व्यवहार से ऐसा है,—इसप्रकार एक ही पर्याय में दो भाव मानना वह भ्रम है; किंतु भिन्न २ भावों की अपेक्षा से नयों की प्ररूपणा है; इसलिये जिस अपेक्षा से जिस भाव का कथन हो, तदनुसार यथार्थ समझना वह सत्य श्रद्धा है। मिथ्यादृष्टि को अनेकान्त के स्वरूप की खबर नहीं है।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला ६ बुधवार ता० २२–४–५३]

पुनश्च, उस जीव को वृत-शील-संयमादिक का अंगीकार होता है। उसे व्यवहार से "यह भी मोक्षमार्ग का कारण है" ऐसा मानकर उसे उपादेय मानता है। यह तो, जिसप्रकार पहले मात्र व्यवहारावलम्बी जीव का अयथार्थपना कहा था उसीप्रकार इसके भी अयथार्थपना ही जानना। और वह ऐसा भी मानता है कि—"यथायोग्य वृतादि क्रिया करना तो योग्य है, किन्तु उसमें ममत्व नहीं करना चाहिये।" अब, स्वयं जिसका कर्ता होगा उसमें ममत्व कैसे नहीं करेगा? यदि स्वयं कर्ता नहीं है तो "मुझे यह क्रिया करना योग्य है"—ऐसा भाव कैसे किया? और यदि स्वयं कर्ता है तो वह (क्रिया)

अपना कर्म हुआ, इसलिये कर्ता कर्म सम्बन्ध स्वयं सिद्ध हुआ। किंतु ऐसी मान्यता तो भ्रम है।

शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करे, निर्दोष आहार ले, शरीर से हिंसा न हो, इत्यादि बाह्य वृतादि की क्रियाको अज्ञानी मोक्षका साधन मानता है। और अज्ञानी ऐसा कहता है कि—अल्पाहार, शरीरको आसन लगाकर स्थिर रखना—आदि क्रियाएँ करना अवश्य, किंतु उनका ममत्व नहीं करना चाहिये; लेकिन यह बात मिथ्या है। प्रथम तो कर्ता हुआ वहीं ममत्व आगया। कर्ता हो और ममत्व न करे यह कैसे हो सकता है? जड़की क्रिया आत्मा कर ही नहीं सकता; तथापि "मैं करता हूँ"—ऐसा मानता है वह महामिथ्यात्व और ममत्व है। जड़ शरीरकी क्रिया मैं कर सकता हूँ—ऐसा जिसने माना है वह जीव जड़का कर्ता हुआ और जड़ उसका कर्म हुआ। वहाँ जड़के साथ कर्ता–कर्म सम्बन्ध हुआ; किन्तु यह मान्यता मिथ्यात्व है।

बाह्य वृतादिक हैं वे तो शरीरादि परद्रव्याश्रित हैं, और परद्रव्यका स्वयं कर्ता नहीं है; इसलिये उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी नहीं करना चाहिये; तथा उसमें ममत्व भी नहीं करना चाहिये। उन वृतादिकमें ग्रहण-त्यागरूप अपना शुभोपयोग होता है वह अपने आश्रित है और स्वयं उसका कर्ता है; इसलिये उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी मानना चाहिये और ममत्व भी करना चाहिये।

शुद्ध उपयोग ही धर्मका कारण है

सम्यग्दृष्टि रागका कर्ता नहीं है—ऐसा कहा है, वह तो द्रव्य-

दृष्टिकी अपेक्षा कहा है, किन्तु सम्यग्दृष्टिको भी पर्यायमें जितना राग होता है, उसका कर्ता पर्याय अपेक्षासे वह आत्मा ही है, कहीं जड़ उसका कर्ता नहीं है। इसलिये पर्यायमें जो राग होता है उसे अपना जानना चाहिये, किंतु उस शुभरागको मोक्षका कारण नहीं मानना चाहिये। शुभरागको धर्मका कारण मानना वह भ्रम है। धर्मका कारण तो राग रहित शुद्ध उपयोग है। शुद्धोपयोग और शुभोपयोग में प्रतिपक्षीपना है; शुभराग तो पुण्यबंधका कारण है और मोक्षका कारण शुद्धोपयोग है शुभरागसे पुण्यबंध भी हो और वह मोक्षका कारण भी हो—इसप्रकार एक ही भावको बंध–तथा मोक्षका कारण मानना वह भ्रम है। इसलिये व्रतादि के शुभ राग को बंध का ही कारण जानना; उसे मोक्षका कारण नहीं मानना चाहिये।

वीतराग शुद्ध उपयोग ही मोक्षका कारण है

व्रत–अव्रत दोनों विकल्पोंसे रहित जहाँ परद्रव्यके ग्रहण–त्यागका कोई प्रयोजन नहीं है—ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग है, वही मोक्षमार्ग है। किन्हीं जीवों को निचलीदशामें शुभोपयोग और शुद्धोपयोगका संयुक्तपना होता है, इसलिये उस व्रतादि शुभोपयोगको उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। वस्तुविचारसे देखने पर शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है।—इसप्रकार जो बंधका कारण है वही मोक्षका घातक है,—ऐसा श्रद्धान करना।

सम्यग्दृष्टिको शुभोपयोग भी वास्तवमें तो बंधका ही कारण है, किन्तु उस समय साथमें निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरतारूप मोक्षमार्ग है, इसलिये उसके शुभ को उपचारसे मोक्षका कारण कहा है; किन्तु सच्चा साधन तो विकल्परहित श्रद्धा–ज्ञान और वीतरागी चारित्र ही है।

राग मोक्षका साधन है ही नहीं—ऐसा श्रद्धान करना चाहिये। मोक्ष का कारण तो रागरहित ज्ञानानन्द स्वभावमें एकाग्रतारूप शुद्धोपयोग ही है। इसप्रकार शुद्धोपयोगको मोक्षका कारण जानकर उसका उद्यम करना चाहिये, और शुभाशुभ उपयोगको बंधका कारण और हेय जानकर उनकी रुचि छोड़ना चाहिये। प्रथमसे ही ऐसा निश्चय करना चाहिये।

शुद्ध उपयोग ही मोक्ष का कारण होने से आदरणीय है—ऐसी श्रद्धा तो हुई है, किंतु जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके वहाँ शुभोपयोग होता है। अशुभ को छोड़कर शुभ भाव करना—ऐसा उपदेश में कहा जाता है, किन्हीं अशुभ आता है और उसे छोड़ देना चाहिये—ऐसा नहीं है। शुभ का काल है वहाँ अशुभ राग होता ही नहीं। राग हुआ और छोड़ देना चाहिये—ऐसा नहीं है। अशुभ हुआ ही नहीं है; फिर उसे छोड़ना कैसा? और अशुभ हुआ, तो उसे छोड़ना किसप्रकार? हुआ वह तो हुआ ही है; और दूसरे समय तो वह छूट ही जाता है। इसीप्रकार शुद्धोपयोग हुआ वहाँ शुभोपयोग छूट जाता है; अर्थात् वहाँ शुभ की उत्पत्ति ही नहीं होती।

क्रमबद्धपर्याय में तो कोई फेर नहीं पड़ता, किन्तु उपदेश में तो ऐसा ही कथन आता है कि पाप छोड़ो; अशुभ छोड़ो। शुभ और अशुभ दोनों उपयोग अशुद्ध ही हैं; किंतु उनमें शुभ की अपेक्षा अशुभ में अधिक अशुद्धता है। जहाँ शुद्धोपयोग है वहाँ तो बाह्य में लक्ष ही नहीं है। चैतन्य के अनुभव में ही एकाग्रता वर्तती है, वहाँ पर द्रव्यों का तो वह साक्षी ही है, इसलिये पर द्रव्यों का तो कोई सम्बन्ध-आलम्बन ही नहीं है। परन्तु शुभोपयोग के समय बाह्य में अहिंसा

का पालन करूँ, देखकर चलूँ—इत्यादि व्रतादिक की प्रवृत्ति होती है; तथा अशुभोपयोग के समय हिंसादि अव्रतरूप प्रवृत्ति होती है।—इसप्रकार शुभ और अशुभ भावरूप अशुद्ध उपयोग के समय परद्रव्य की प्रवृत्ति के साथ निमित्त-नैमित्तिकपना होता है। जहाँ शुद्धोपयोग है वहाँ तो परद्रव्यके साथ सम्बन्ध ही नहीं है; शुद्धोपयोग का तो स्वभाव के ही साथ सम्बन्ध है। इसका ग्रहण करूँ और इसे छोड़ूँ—इत्यादि ग्रहण-त्याग के विकल्प शुद्धोपयोग में नहीं होते। जब शुद्धोपयोग न हो तब अशुद्धोपयोग में शुभ-अशुभ राग होता है।

[वीर० सं० २४७९ प्र० वैशाख शुक्ला १० गुरुवार २३–४–५३]

शुभ को और शुद्ध को कारणकार्यपना नहीं है।

कोई ऐसा मानता है कि—शुभोपयोग शुद्धोपयोग का कारण है। अब, वहाँ जिसप्रकार अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग होता है, उसीप्रकार शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग होता है,—ऐसा ही यदि कारणकार्यपना हो तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग भी सिद्ध हो। अथवा द्रव्यलिंगी को शुभोपयोग तो मिथ्यादृष्टि के योग्य उत्कृष्ट होता है, जबकि शुद्धोपयोग होता ही नहीं है। इसलिये वास्तविकरूप से दोनों में कारणकार्यपना नहीं है अशुभ में से सीधा शुद्धोपयोग किसीको नहीं होता। अशुभ दूर होकर शुभ होता है व शुभ दूर होकर फिर शुद्ध होता है। यद्यपि व्रत के परिणाम भी त्यागने योग्य हैं, किंतु सम्यग्दृष्टि को पहले अव्रत के परिणाम छूटकर व्रत के परिणाम होते हैं और फिर शुद्धोपयोग होने पर व्रत के शुभ परिणाम भी छूट जाते

हैं। वास्तव में शुभ वह शुद्ध का कारण नहीं है। यदि शुभ शुद्ध का कारण हो, तब तो अशुभ भी शुभ का कारण हो जाये; किन्तु ऐसा नहीं है। पुनश्च, यदि शुभ वह शुद्ध का कारण हो, तो द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट शुभ भाव करके नववें ग्रैवेयक में जाता है, तथापि वह शुभराग उसे किंचित् भी शुद्ध का कारण नहीं होता। इसलिये शुभराग शुद्ध का कारण नहीं है। कभी-कभी भावलिंगी मुनि प्रथम स्वर्ग में जाता है और द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि शुभ से नववें ग्रैवेयक तक पहुँचता है, किन्तु उसे उस शुभ के कारण किंचित् मात्र शुद्धता नहीं होती। इसलिये शुभ और शुद्ध को वास्तव में कारणकार्यपना नहीं है।

जैसे—किसी रोगी को पहले भारी रोग था और फिर अल्प रह गया, वहाँ वह अल्प रोग कहीं निरोग होने का कारण नहीं है। हाँ; इतना अवश्य है कि अल्प रोग रहे तब निरोग होने का उपाय करे तो हो सकता है; किंतु कोई उस अल्प रोग को ही भला जानकर उसे रखने का यत्न करे तो वह निरोग कैसे होगा? उसीप्रकार किसी कषायी को तीव्र कषायरूप अशुभोपयोग था, बाद में मंद कषायरूप शुभोपयोग हुआ; तो वह शुभोपयोग कहीं निष्कषाय शुद्धोपयोग होने का कारण नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि—शुभोपयोग होने पर यदि यत्न करे तो शुद्धोपयोग हो जाये; किन्तु कोई उस शुभोपयोगको ही भला जानकर उसी की साधना करता रहे तो उसे शुद्धोपयोग कहाँ से होगा? दूसरे, मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग का कार[illegible] है ही नहीं; किन्तु सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोग होने पर निकट

शुद्धोपयोग की प्राप्ति होती है।—ऐसी मुख्यता से कहीं २ शुभोपयोग को भी शुद्धोपयोग का कारण कहते हैं–ऐसा समझना चाहिये।

शुद्धोपयोग तो स्वभाव में एकाग्र होने पर ही होता है। शुभ तो पर के लक्ष से होता है। सारी दृष्टि बदल जाये तब शुद्धोपयोग होता है। मिथ्यादृष्टिको तो शुद्धोपयोग होता ही नहीं; इसलिये उसे तो शुभोपयोग कभी उपचार से भी शुद्ध का कारण नहीं होता। सम्यक्-दृष्टि को स्वभाव की दृष्टि तो वर्त रही है, और शुभ को तोड़कर निकट में ही शुद्धोपयोग की प्राप्ति होना है, उस अपेक्षा से कहीं २ सम्यग्दृष्टि के लिये शुभ को शुद्ध का कारण कहते हैं।

निश्चय–व्यवहार सम्बन्धी अज्ञानी का भ्रम

पुनश्च, यह जीव अपने को निश्चय–व्यवहार रूप मोक्षमार्ग का साधक मानता है, वहाँ जैसा पहले कह चुके हैं तदनुसार, आत्मा को शुद्ध माना वह तो सम्यक्दर्शन हुआ; उसीप्रकार जाना वह सम्य-क्ज्ञान हुआ और उसीप्रकार विचार में प्रवर्तित हुआ वह सम्यक्-चारित्र हुआ—इसप्रकार अपने को निश्चय रत्नत्रय का होना मानता है। किन्तु मैं प्रत्यक्ष अशुद्ध होने पर भी शुद्ध किसप्रकार मानता हूँ—जानता हूँ—विचार करता हूँ।—इत्यादि विवेक रहित मात्र भ्रमसे सन्तुष्ट होता है।

आत्मा को "शुद्ध-शुद्ध" कहता है, किंतु किसप्रकार शुद्ध है उस की उसे खबर नहीं है। द्रव्यदृष्टि के बिना यों ही कहता है कि—आत्मा तो सिद्धसमान शुद्ध है, किंतु पर्याय में अशुद्धता होने पर भी शुद्धता मानना वह तो भ्रम है। वस्तु को समझे बिना शुद्ध आत्मा की

मान्यता किस प्रकार की ! यदि शुद्ध द्रव्य की यथार्थ मान्यता, ज्ञान और एकाग्रता करे तो पर्याय में शुद्धता होना चाहिये, किन्तु पर्याय की तो उसे खबर नहीं है। मैं शुद्ध हूँ—ऐसा कल्पना से मानता है, जानता है और उस रागमिश्रित विचार में लीन होता है—उसीको वह निश्चय रत्नत्रय मानता है; किन्तु निश्चय रत्नत्रय के सच्चे स्वरूप की उसे खबर नहीं है। और अज्ञानी व्यवहार-रत्नत्रय को भी अन्य प्रकार से भ्रमरूप मानता है।

"अरिहन्तादिके अतिरिक्त अन्य देवादिको मैं नहीं मानता; और जैन शास्त्रानुसार जीवादिक के भेद सीख लिये हैं उन्हीं को मानता हूँ, अन्य को नहीं मानता, वह तो सम्यग्दर्शन हुआ। जैन शास्त्रों के अभ्यासमें बहुत प्रवर्तन करता हूँ वह सम्यग्ज्ञान हुआ, तथा व्रतादिरूप क्रियाओं वर्तता हूँ वह सम्यक् चारित्र हुआ।"—इस प्रकार अपने को व्यवहार-रत्नत्रयरूप हुआ मानता है; किन्तु व्यवहार तो उपचारका नाम है और वह उपचार भी तभी हो सकता है जब कि सत्यभूत निश्चय रत्नत्रयके कारणादिरूप हो, अर्थात् जिसप्रकार निश्चयरत्नत्रयकी साधना होती है उसीप्रकार उसे साधे तो व्यवहारपना संभवित होता है। किन्तु इसे तो सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय की पहिचान ही नहीं हुई है, तब फिर तदनुसार साधना कैसे कर सकता है ? मात्र आज्ञानुसारी होकर देखा देखी साधना करता है; इसलिये उसे निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग भी नहीं हुआ है।

इसप्रकार यह जीव निश्चयाभास को जानता—मानता है, किन्तु व्यवहार साधनको भला समझता है; इसलिये स्वच्छन्दी होकर अशु-

भरूप प्रवंतन नहीं करता; किन्तु व्रतादि शुभोपयोगरूप व्रतंता है; इसलिये अंतिम ग्रैवेयक तक का पद प्राप्त करता है; तथा यदि निश्चयाभासकी प्रबलतासे अशुभरूप प्रवृत्ति होजाये तो उसका कुगति में भी गमन होकर परिणामानुसार फल पाता है; किंतु संसारका ही भोक्ता रहता है, अर्थात् सच्चा मोक्षमार्ग प्राप्त किये बिना वह सिद्ध-पद को प्राप्त नहीं कर सकता।—इसप्रकार निश्चय-व्यवहाराभास दोनों नयावलम्बी मिथ्यादृष्टियोंका निरूपण किया। वह जीव निश्चया-भास को जानता—मानता है, किन्तु व्यवहार साधनको भला समझता है इसलिये स्वच्छन्दी होकर अशुभरूप प्रवर्तन नहीं करता।

अब, जो मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व सन्मुख है, उसका निरूपण करते हैं।



१२

सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टिका निरूपण

किन्हीं मंदकषायादिका कारण पाकर ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयोपशम होने से जीवके तत्त्व विचार करने की शक्ति प्रगट होती है; और सत्य समझने का इच्छुक हुआ होने से देव-गुरु-शास्त्र, नव-तत्त्व, छह द्रव्य आदि तत्त्वोंका विचार करने में उद्यमी हुआ,—ऐसा होने से उसे देव-गुरु-शास्त्रादि सच्चे बाह्य निमित्तों का योग मिला और वहाँ सच्चा उपदेश श्रवण किया। उस उपदेशमें अपने को प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के, देव-गुरु-धर्मादि के, जीवादि तत्त्वों के, स्व-परके अथवा अपने को अहितकारी-हितकारी भावों के—इत्यादि उपदेश से सावधान होकर उसने ऐसा विचार किया कि—अहो! मुझे इस बातकी तो खबर ही नहीं थी; मैं भ्रमसे भूलकर मनुष्यादिक—शरीर में तन्मय हो रहा हूँ, किंतु यह शरीर तो अल्पकाल रहता है।—इसप्रकार वैराग्य होता है, तथा निर्णय करता है कि पूर्वोक्त तत्त्वोंकी मुझे खबर नहीं थी। "मैं तो यह सब जानता हूँ"—ऐसा जो भ्रमपूर्वक मान बैठे वह तो पात्र ही नहीं है; क्योंकि वह पूर्वकी और वर्तमान की अपनी मान्यताके बीच कोई भेद नहीं करता।

पुनश्च, वह विचार करता है कि मुझे यह सर्व निमित्त प्राप्त हुए हैं, इसलिये मुझे इस बात का निर्णय करना चाहिये; क्योंकि इसीमें मेरा हित है—ऐसा विचार कर जो उपदेश सुना उसकी धारणा करने का उद्यम करता है। यहाँ उपदेशका श्रवण लिया है; पहले शास्त्र पढ़कर तत्त्व विचार करता है—ऐसा नहीं कहा।

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख शुक्ला ११ शुक्रवार २४-४-५३]

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पूर्वकी पात्रता

सम्यग्दर्शन-सन्मुख हुए जीवकी पात्रता कैसी होती है उसका यह वर्णन है। जिसने अभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया है किन्तु प्राप्त करने के लिये तत्त्व निर्णय आदि का उद्यम करता है—ऐसे जीवकी यह बात है। जिसे आत्माका हित करने की भावना हुई है, सम्यग्दर्शन प्रगट करके आत्माका कल्याण करने की आकांक्षा जागृत हुई है—ऐसे जीवको प्रथम तो कषायकी मंदता हुई है, तत्त्वनिर्णय करने जितना ज्ञानकी शक्तिका विकास हुआ है, निमित्तरूपसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र मिले हैं और स्वयं को उनकी प्रतीति हुई है। ज्ञानीके निकट यथार्थ उपदेश प्राप्त हुआ है और स्वयं अपने प्रयोजन के लिये मोक्षमार्ग आदिका उपदेश सुना है। कौनसे भाव आत्माको हितकारी हैं और कौनसे अहितकारी हैं; सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका स्वरूप क्या है और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र कैसे हैं; जीवादि नवतत्त्वोंका स्वरूप क्या है? द्रव्य-गुण-पर्याय क्या हैं? उपादान निमित्तका स्वरूप कैसा है? मोक्षमार्गका सच्चा स्वरूप क्या है?—इत्यादि प्रयोजनभूत विषयों का यथार्थ उपदेश गुरुगमसे प्राप्त हुआ है, और स्वयं अंतरमें उनका

निर्णय करके समझने का प्रयत्न करता है; उसे समझकर स्वयं अपना ही प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है; उपदेशकी धारणा करके मैं दूसरे को सुनाऊं अथवा समझा दूँ—इस आशयसे नहीं सुनता, किन्तु समझकर अपना कल्याण करने की ही भावना है।

देखो, यह तो अभी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पहले की पात्रता बतलाते हैं। जो अपना कल्याण करना चाहता है उसे मंदकषाय और ज्ञानका विकास तो होता ही है; तदुपरान्त ज्ञानी के पास से सच्चा उपदेश मिलना चाहिये। अज्ञानी–कुगुरुओं के उपदेशसे यथार्थ तत्त्व-निर्णय नहीं हो सकता। जिसे कुदेव–कुगुरु तो छूट गये हैं; निमित्त रूपसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र मिले हैं, और कषायकी मंदता पूर्वक जो तत्त्व निर्णयका उद्यम करता है ऐसे जीव की यह बात है। देखो, उस सम्यक्त्व-सन्मुख जीवमें कैसी-कैसी पात्रता होती है वह बतलाते हैं।

(१) प्रथम तो मंदकषाय हुई है। आत्माका हित करने की जिज्ञासा हुई वहाँ मंदकषाय हो ही गई। तीव्र विषय-कषायके भावों में डूबे हुए जीवको आत्माके हितका विचार ही नहीं उठता।

(२) मंदकषायसे ज्ञानावरणादिका ऐसा क्षयोपशम हुआ है कि तत्त्वका विचार और निर्णय करने जितनी ज्ञानकी शक्ति प्रगट हुई है। देखो, तत्त्व निर्णय करने जितनी बुद्धि तो है, किन्तु जिसे आत्माकी दरकार नहीं है वह जीव तत्त्व निर्णयमें अपनी बुद्धि नहीं लगाता और बाह्य विषय-कषायोंमें ही लगाता है।

(३) जो सम्यक्त्व-सन्मुख है उस जीवको मोहकी मंदता हुई

है; इसलिये वह तत्त्व विचारमें उद्यमी हुआ है। दर्शनमोहकी मंदता हुई है और चारित्रमोहमें भी कषायों की मंदता हुई है। अपने भावमें मिथ्यात्वादिका रस अत्यन्त मंद होगया है और तत्त्वनिर्णय की ओर ढला है। सांसारिक कार्योंकी लोलुपता कम करके आत्माका विचार करने में उद्यमी हुआ है। संसार के कार्योंसे निवृत्त हो, (उनकी प्रीति कम करे), तब आत्माका विचार करे न ! जो संसारकी तीव्र लोलुपतामें मग्न हो उसे आत्माका विचार कहाँ से आयेगा ? जिसके हृदयमें से संसारका रस उड़ गया है और जो आत्माके विचार का उद्यम करता है कि—"अरे ! मुझे तो अपने आत्मा का कल्याण करना है, दुनिया तो इसीतरह चलती रहेगी; दुनियाकी चिन्ता छोड़कर मुझे तो अपना हित करना है।"—ऐसे जीवकी यह बात है।

(४) उस जीवको बाह्य निमित्तरूपसे सच्चे देव–गुरु–शास्त्र आदि मिले हैं; कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्रकी मान्यता छूट गई है और सर्वज्ञ-वीतरागदेवको ही मानता है। अरिहन्त भगवान की वीतरागी प्रतिमा भी देव है। शास्त्रमें नौ देव पूज्य कहे हैं–पंच परमेष्ठी, जिनधर्म, जिनवाणी, जिन-चैत्यालय और जिनबिम्ब—यह नौ देवरूप से पूज्य हैं। सर्वज्ञ-वीतरागदेवको पहिचाने, और दिगम्बर संत भावलिंगी मुनि मिलें वे गुरु हैं; तथा कोई ज्ञानी सत्पुरुष निमित्तरूप से प्राप्त हो वह भी ज्ञानगुरु है। पात्र जीवको ज्ञानीका उपदेश ही निमित्तरूप होता है। नरकादिमें मुनि आदिका सीधा निमित्त नहीं है, किन्तु पूर्वकालमें ज्ञानीकी देशना मिली है, उसके संस्कार वहाँ निमित्त होते हैं। देव-गुरु के बिना अकेला शास्त्र सम्यग्दर्शन में निमित्त नहीं

हो सकता। इसलिये कहा है कि सम्यक्त्व सन्मुख जीवको कुदेवादि की परम्परा छोड़कर सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी परम्परा प्राप्त हुई है।

(५) पुनश्च, उस जीवको सत्य उपदेशका लाभ मिला है। ऐसे निमित्तोंका संयोग प्राप्त होना तो पूर्व पुण्यका फल है, और सत्यतत्त्व का निर्णय करने का उद्यम वह अपना वर्तमान पुरुषार्थ है। पात्र जीव को कैसे निमित्त होते हैं वह भी बतलाते हैं कि—निमित्तरूपसे सत्य उपदेश मिलना चाहिये। यथार्थ मोक्षमार्ग क्या है? नवतत्त्वोंका स्व-रूप क्या है? सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं? स्व-पर, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, सम्यग्दर्शनादि हितकारी भाव तथा मिथ्या-त्वादिक अहितकारी भाव—इन सबका यथार्थ उपदेश मिला है। उपदेश मिलना तो पुण्यका फल है, किन्तु उसे सुनकर तत्त्व-निर्णय करने की जिम्मेवारी अपनी है।—यह बात अब कहते हैं।

(६) ज्ञानी के पास से यथार्थ तत्त्वका उपदेश मिलने के पश्चात् स्वयं सावधान होकर उसका विचार करता है। यों ही ऊपर से नहीं सुन लेता, किन्तु अच्छी तरह ध्यानपूर्वक सुनकर सावधानी से उसका विचार करता है; और उपदेश सुनते समय बहुमान आता है कि—"अहो! मुझे इस बातकी तो खबर ही नहीं है, ऐसी बात तो मैंने पहले कभी सुनी ही नहीं। देखो, यह जिज्ञासु जीवकी योग्यता!

जिसे अपने आत्माका हित करना हो, वह जगत् को देखने में नहीं रुकता। बाह्य में बहुत से ग्रामों में जिनमंदिरों का निर्माण हो और बहुत से जीव धर्म प्राप्त करें तो मेरा कल्याण हो जाये;—ऐसा विचार करके यदि बाह्य में ही रुका रहे तो आत्मा की ओर कब देखेगा? अरे भाई! तू अपने आत्मा में ऐसा मन्दिर बना कि जिसमें

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी भगवान आकर विराजमान हों। भक्ति-प्रभावनादि का शुभराग आये वह अलग बात है, किन्तु पात्र जीव उस राग पर भार न देकर आत्मा के निर्णय का उद्यम करता है। अहो! ऐसे तत्त्व की मुझे अभी तक खबर नहीं थी। मैंने भ्रम से रागादि को ही धर्म माना था, और शरीर को अपना स्वरूप मानकर उसमें तन्मय था। यह शरीर तो जड़-अचेतन है और मैं तो ज्ञान-स्वरूप हूँ। इस शरीर का संयोग तो अल्पकाल पर्यन्त ही है, यह मनुष्य भव कहीं नित्यस्थायी नहीं रहेगा। यहाँ मुझे सर्व हितकारी निमित्त मिले हैं; इसलिये मैं तत्त्व समझ कर अपने आत्मा का उद्धार करूँ और मोक्षमार्ग आदिका अच्छी तरह विचार करूँ—ऐसा सोच कर तत्त्वनिर्णय आदिका उद्यम करता है। "काम एक आत्मार्थका अन्य नहीं मन रोग।"

(७) वहाँ उद्देश सहित निर्देश अर्थात् नाम जानता है, और लक्षण निर्देश अर्थात् जिसका जो लक्षण हो वह समझता है, तथा परीक्षा द्वारा विचार करके निर्णय करता है। जीव—अजीवादिके नाम सीखता है, उनके लक्षण समझता है और परीक्षा करके निर्णय करता है। जो उपदेश सुना उसकी धारणा करके फिर स्वयं अंतरमें उसका निर्णय करता है। उपदेशानुसार तत्त्वों के नाम और लक्षण जानकर स्वयं विवेक पूर्वक निर्णय करता है। देखो, आत्महित के लिये ये प्रथम कर्तव्य है।

तत्त्वनिर्णय करने के लिये प्रथम तो तत्त्वों के नाम और लक्षण जानता है और फिर स्वयं परीक्षा द्वारा तत्त्व के भावों को पहिचान

कर निर्णय करता है। अज्ञानी के विरुद्ध उपदेश को तो मानता ही नहीं है, किन्तु ज्ञानी के पास से जो यथार्थ उपदेश मिला है, उसका भी स्वयं उद्यम करके निर्णय करता है। यों ही नहीं मान लेता, किंतु स्वयं अपना विचार मिलाकर तुलना करता है। ज्ञानी के पास से सुन लिया, किंतु पश्चात् "यह कौन-सी रीति है"—इसप्रकार स्वयं उसके भावको पहिचान कर स्वयं निर्णय न करे तो सच्ची प्रतीति नहीं होती। इसलिये कहा है कि ज्ञानी के पास से जो तत्त्व का उपदेश सुना उसे धारण कर रखना चाहिये, और फिर एकान्त में विचार करके स्वयं उसका निर्णय करना चाहिये। उपदेश सुनने में ही जो ध्यान नहीं रखता, और उसी समय अन्य सांसारिक विचारों में लग जाता है उसे तो तत्त्वनिर्णय की दरकार ही नहीं है। क्या कहा—उसकी धारणा भी न करे तो विचार करके अंतर में निर्णय कैसे करेगा? जिसप्रकार गाय खाने के समय खा लेती है और फिर आराम से बैठी बैठी जुगाली करके उसे पचाती है; उसीप्रकार जिज्ञासु जीव जैसा उपदेश सुने वैसा अच्छीतरह याद कर लेता है और फिर एकान्त में विवेक पूर्वक विचार करके उसका निर्णय तथा अंतर में परिणमित करने का प्रयत्न करता है।

यथार्थ उपदेश सुनना, याद रखना, विचारना और उसका निर्णय करना—ऐसी चार बातें रखी हैं। तत्त्व निर्णय करने की शक्ति स्वयं में होना चाहिये। उस जीव के इतना ज्ञानका विकास तो हुआ है, किंतु उस ज्ञान को तत्त्वनिर्णय करने में लगाना चाहिये। सुनने के पश्चात् स्वयं मात्र अपने उपयोग का विचार करे कि—श्री गुरु ने जो कहा है वह किस प्रकार होगा!—इस प्रकार स्वयं उपदेशानुसार निर्णय करनेका प्रयत्न करता है। मात्र सुनता ही रहे या पढ़ता ही

रहे, किन्तु स्वयं कुछ भी विचार करके तत्त्वनिर्णय में अपनी शक्ति न लगाये तो उसे यथार्थ प्रतीति का लाभ नहीं हो सकता।

विपरीत अभिप्राय रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है—ऐसा जो ज्ञानी उपदेश देते हैं, उसे स्वयं सुने और फिर एकान्त में बैठकर विचार करे कि जीवादि सात तत्त्व कहे हैं उनका स्वरूप क्या है ? उनके श्रद्धान को सम्यक्दर्शन का लक्षण कहा, वह किस प्रकार घटित होता है ? इसप्रकार स्वयं विचार करके निर्णय करना चाहिये। सात तत्त्वों की परीक्षा करके पहिचानना चाहिये।

"सम्यग्दर्शन"—ऐसा कहा वह नाम हुआ। "तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन"—ऐसा कहा वह सम्यग्दर्शन का लक्षण हुआ। "जीव"—ऐसा कहा वह नाम हुआ। "जीव ज्ञान स्वरूप है"—ऐसा कहा वह जीव का लक्षण हुआ। इसप्रकार तत्त्वों का नाम और उनका लक्षण जानना चाहिये। देव-गुरु-शास्त्र, मोक्षमार्ग, उपादान-निमित्त, स्व-पर हित-अहित आदिके नाम तथा लक्षण सुनकर जानना चाहिये और स्वयं परीक्षा करके उनका निर्णय करना चाहिये। ज्ञानी ने कहा वह तो ज्ञानीके पास रहा, किंतु स्वयं निर्णय न करे तो स्वयं को तत्त्वका यथार्थ लाभ नहीं हो सकता। इसलिये नाम और लक्षण जानकर निर्णय करना चाहिये। सम्यक् चारित्र—यह नाम; वहाँ वीतरागभाव उसका लक्षण है। जीव-अजीवादि नाम कहना वह नाम निर्देश है, और फिर प्रत्येक का भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाना वह लक्षण निर्देश है।

नवतत्त्वों को तथा मोक्षमार्गादि को पहिचान कर स्वयं एकान्तमें विचार करना चाहिये। एकान्त में विचार करने को कहा, उसमें विचारकी एकाग्रता बताते हैं। क्षेत्रकी बात नहीं ली है कि-

निर्णय करने के लिये जंगल में जाना चाहिये। भगवान के समवशरण में बैठा हो और अंतर के विचारों में लीन होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करले, तो वहाँ भी उसे एकान्त कहलाया। वहाँ युक्ति–अनुमान—प्रत्यक्षादि से उपदेशमें आये हुए तत्त्व वैसे ही हैं या अन्यथा हैं उसका निर्णय करना चाहिये। तथा विशेष विचार करना चाहिये कि उपदेश में तो यह कथन आया है, किन्तु यदि ऐसा न माना जाये तो क्या बाधा आयेंगी ?

एकद्रव्य दूसरे द्रव्य के आश्रित नहीं रहता; एक में दूसरे से किंचित् लाभ हानि नहीं है;–इसप्रकार जहाँ द्रव्य की स्वतंत्रता का उपदेश आये वहाँ भी बराबर विचार करके निर्णय करना चाहिये। धर्मास्तिकाय के निमित्त से जीव–पुद्गल गति करते हैं;–ऐसा कथन जहाँ आये वहाँ विचार करना चाहिये कि जब जीव–पुद्गल स्वयं गति करते हैं तब धर्मास्तिकाय निमित्तमात्र है। वह कहीं जबरन् गति नहीं कराता;—इसप्रकार युक्ति द्वारा तत्त्व निर्णय करना चाहिये। पुनश्च, एक तत्त्व के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी दो युक्तियाँ आयें, तो वहाँ कौनसी युक्ति प्रबल, तथा कौन निर्बल है–उसका विचार करना चाहिये। वहाँ जो युक्ति प्रबल भासित हो उसे सत्य मानना चाहिये और जो युक्ति निर्बल भासित हो उसे छोड़ देना चाहिये,–ऐसा विचार कर तत्त्व का निर्णय करना चाहिये।

[वीर० सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला १२ शनिवार २५–४–५३]

विकार जीव का उस समय का स्वकाल है; कर्म के कारण विकार नहीं है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान सहित निर्विकल्प प्रतीति; सम्यग्ज्ञान का लक्षण स्व-पर प्रकाशकपना; सम्यक्चारित्र का लक्षण वीतरागता; जीवतत्त्व का लक्षण ज्ञान स्वभाव;—इसप्रकार समस्त तत्त्वों के नाम और लक्षण जानना चाहिये। आश्रव आत्माकी विकारी पर्याय है; उस पर्यायमें आत्माके द्रव्य-गुण विद्यमान हैं, क्योंकि गुण अपनी सर्व पर्यायोंमें रहता है। उसके बदले ऐसा माने कि कर्मके कारण रागादि विकार हुआ है, तो उसने अपने चारित्रगुण को सर्व पर्यायोंमें विद्यमान नहीं माना; इसलिये गुण को ही नहीं माना और द्रव्य को भी नहीं माना। [गुण तो उसे कहा जाता है जो द्रव्य के पूरे भाग में और उसकी सर्व अवस्थाओं में व्याप्त हो।] उसीप्रकार मिथ्यात्व भाव हुआ और वह भी जीव की पर्याय है, वह जड़ मोह-कर्म के कारण नहीं हुआ है। मिथ्यात्व पर्याय में जड़ कर्म नहीं रहता किन्तु उसमें श्रद्धागुण रहता है। राग पर्याय हुई तो वह कहाँ २ से आई? त्रिकाली द्रव्य-गुण में राग नहीं है, तो क्या कर्म ने राग कराया? नहीं। कर्म में राग कहाँ है? कर्म में कहीं ऐसी शक्ति नहीं है कि वह विकार कराये। राग पर्याय भी चारित्रगुण का उस समय का स्वकाल है। चारित्रगुण अपनी सर्व अवस्थाओं में रहता है। देखो, ऐसा न जाने तो उसने गुण का लक्षण नहीं जाना है। राग कर्म के कारण होता है—ऐसा माने तो चारित्रगुण अपनी समस्त पर्यायों में व्यापक नहीं रहा। तो राग के समय चारित्रगुण कहाँ गया?—इसप्रकार तत्त्व का भाव भासन होने पर ऐसी प्रतीति करना चाहिये कि इन्द्र डिगाने आयें फिर भी चलित न हो।

राग में जड़कर्म निमित्त है, किन्तु उस निमित्त के गुण अपनी

पर्याय में (निमित्तमें) वर्त रहे हैं। निमित्त के गुण कहीं पर में नहीं जाते। उपादान के गुण उपादान की समस्त पर्यायों में रहते हैं और निमित्तके गुण उसकी समस्त पर्यायों में व्याप्त होते हैं;—एकके गुण दूसरे की पर्याय में व्याप्त नहीं होते।

गुण स्वतन्त्ररूप से वर्तते हुए–परिणमित होते हुए अपनी पर्याय में व्याप्त होते हैं। वे गुण ही अपनी पर्याय के स्वतन्त्ररूप से कर्ता हैं।

परमाणु में विकार हुआ अर्थात् दो गुण चिकनाहट आदि परिणमित होकर अनन्त गुण चिकनाहट आदि हुई, तो उन किसी ने उसे परिणमित नहीं किया, किन्तु वह स्वयं परिणमित हुआ है, उसकी पर्याय में उसके गुण प्रवर्तमान हैं। दो गुण रूक्षता या चिकनाहट परिवर्तित होकर चार गुण रूक्षता या चिकनाहट वालेके साथ बँधे, वहाँ चार गुण वाले ने उसे परिणमित नहीं किया है; किन्तु स्वयं अपने गुण से ही परिणमित हुआ है।—इसप्रकार समस्त तत्त्वों को स्वतन्त्र जानना।

त्रिकाली द्रव्य-गुण में विकार नहीं है, तथापि विकार कहाँ से आया ?—तो कहते हैं कि अपने स्वस्थ भाव से च्युत होकर पर्याय रुकी इसलिये रागादि विकार हुआ। पुनश्च, एक को सम्यग्दर्शन हुआ और सब को क्यों नहीं हुआ ? दूसरे को सम्यग्दर्शन हुआ और मुझे क्यों नहीं हुआ ?–तो कहते हैं कि उसने पुरुषार्थ किया इसलिये हुआ।—इसप्रकार निर्णय करना।

समस्त तत्त्वों के यथार्थ निर्णय का उद्यम करते ही रहना चाहिये और स्वयं एकान्त में विचारना चाहिये तथा समझने के लिये विशेष

ज्ञानी के निकट प्रश्नोत्तर करना चाहिये। मैं पूछूंगा तो लोगों को खबर पड़ जायेगी कि "मुझे आता नहीं है"—ऐसा मानने में नहीं रुकना चाहिये, किन्तु समझने के लिये पूछते ही रहना चाहिये तथा जो उत्तर दें उसे बराबर विचारना चाहिये। पूछने में शर्म नहीं रखना चाहिये, किन्तु निर्मानता होना चाहिये पुनश्च, अपने समान बुद्धि के धारक साधर्मी के साथ विचार और परस्पर चर्चा करना चाहिये तथा एकान्त में विचार करके निर्णय करना चाहिये। जिसे सम्यक्त्व की चाह हो, सम्यग्दर्शन प्रगट करने को गर्ज हो—उस जीवकी यह बात है। देखो, यह सम्यग्दर्शन का उद्यम !

अहो ! चैतन्य वस्तु तो अपूर्व है। अनंतबार शुभभाव किये तथापि चैतन्य वस्तु लक्ष में नहीं आई, तब फिर राग से पार चैतन्य वस्तु तो अंतर की अपूर्व वस्तु है, उसकि निर्णय में कोई बाह्य कारण या राग सहायक नहीं होता। अनंतबार द्रव्यलिंगी साधु होकर शुभ-भाव से नववें ग्रैवेयक तक गया, तथापि चैतन्यवस्तु की प्रतीति नहीं हुई। वह चैतन्यवस्तु राग के अवलम्बन से पार अपूर्व महिमावान है, तथा अन्तर्मुख ज्ञान से ही उसे पकड़ा जा सकता है।—ऐसा विचार कर चैतन्य को पकड़ने का उद्यम करता है।

स्वानुभव प्रगट करने के लिये प्रेरणा

पहले तो उपदेश सुनकर, ज्ञानीसे पूछकर, साधर्मीजनों के साथ चर्चा करके और विचारकर तत्त्वका बराबर निर्णय करता है। तत्त्व के निर्णयमें ही भूल हो तो अनुभव नहीं हो सकता। इसलिये कहा है कि तत्त्वनिर्णयका उद्यम करना चाहिये। "सम्यक्त्व सहज है,

कौन-सा जीव कब सम्यक्त्व प्राप्त करेगा—वह सब केवली भगवान के रजिस्टरमें दर्ज है;"—ऐसा कहा जाता है, किन्तु वहाँ सहज कहते ही उद्यम भी साथ ही है। केवली ने देखा होगा तब सम्यग्दर्शन होगा—ऐसा "सहज" का अर्थ नहीं है। श्री समयसारमें कहा है कि हे जीव! तू जगतका व्यर्थ कोलाहल छोडकर अंतरमें चैतन्य वस्तु के अनुभवनका 'छह महीने' प्रयत्न कर तो तुझे अवश्य उसकी प्राप्ति होगी। रुचि हुई हो और अंतरमें अभ्यास करे तो अल्पकालमें उसका अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा। इसलिये सम्यग्दर्शनके लिये अन्तरमें तत्त्वनिर्णय और अनुभवका उद्यम करना चाहिये।

पुनश्च, अन्यमतियों द्वारा कल्पित तत्त्वका उपदेश दिया है, उसके द्वारा यदि जैन उपदेश अन्यथा भासित हो, उसमें सन्देह हो; तो भी उपरोक्तानुसार उद्यम करता है। इसप्रकार उद्यम करने से "जैसा श्री जिनदेवका उपदेश है वही सत्य है; मुझे भी ऐसा ही भासित होता है"—ऐसा निर्णय होता है; क्योंकि जिनदेव अन्यथा-वादी नहीं हैं।

सनातन दिगम्बर जैन मतके अतिरिक्त सब अन्यमती हैं। सर्वज्ञ भगवान को रोग होता है, दस्त लगते हैं और आहार-दवा लेते हैं;—ऐसा जो मानता है वह अन्यमती है–जैनमती नहीं। दिगम्बर सम्प्रदाय में रह कर भी जो ऐसा माने कि–व्यवहार करते-करते परमार्थ प्रगट हो जायेगा, निमित्त के अवलम्बन से धर्म होगा, वह अन्यमती जैसा ही है।

आठ वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त करें और फिर करोड़ों-अरबों वर्ष

तक शरीर बना रहता है। आहार-जल आदि न होने पर भी शरीर ज्यों का त्यों रहता है;—ऐसा परमौदारिक शरीर का स्वभाव है; किंतु उस में सन्देह कर के भगवान को आहारादि मनाये तो वह मिथ्यादृष्टि अन्यमती है। सनातन सर्वज्ञ परम्परा में भगवान कुन्द-कुन्दाचार्य, वीरसेनाचार्य, समन्तभद्राचार्य—इत्यादि संतों ने जैसा स्वरूप कहा है वही यथार्थ है। उस परम्परा से जो विपरीत मनाये वह कल्पित मार्ग है।

शुभराग से संसार परिमित नहीं होना

मुनिको आहार देने से मिथ्यादृष्टि को संसार परिमित होता है-ऐसा मनाये, खरगोश आदि परजीवों दया पालने के शुभरागसे संसार परिमित होना माने मनाये तो वह कल्पित तत्त्व है। वह जैन मार्ग नहीं है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि के तो अनंतानुबंधी राग-द्वेष विद्यमान हैं; उसे दया-दानादि के शुभराग से परिमित संसार (-संसारका टूटना) नहीं होता। सम्यग्दर्शन से ही संसार परिमित होता है। उसके बदले जो राग से संसार परिमित होना मनाता है—वह बात मिथ्या है। यहाँ तो कहते हैं कि वैसा मानने वाले जैनमती नहीं किंतु अन्यमती हैं। इसप्रकार तत्त्वका यथार्थ निर्णय करना चाहिये। महाविदेह क्षेत्र में सनातन सत्यमार्ग चलरहा है। जैसा मार्ग वहाँ है वैसा ही यहाँ है; और जैसा यहाँ है वैसा ही वहाँ है। भरत, ऐरावत और महाविदेह—सर्वत्र सनातन वीतराग मार्ग एक ही प्रकार का है। उसका जैसा भाव सर्वज्ञभगवान ने कहा है वैसा ही अपने को भासित होना चाहिये। अपने को भाव भासन सहित प्रतीति हो वही यथार्थ प्रतीति है। एक

मक्खी भी मिसरी और फिटकरी के स्वादका भेद करके विवेक करती है और मिसरी का स्वाद लेने जाती है। उसीप्रकार पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों को तत्त्वनिर्णयकी शक्ति प्राप्त हुई है, इसलिये अपने ज्ञानसे तत्वनिर्णय करके उसका भावभासन होना चाहिये। सम्यग्दर्शनके लिये क्या उपादेय है ? क्या हेय है ?—उन सब तत्त्वोंका भावभासन होना चाहिये। विचार तो करे किन्तु विचार करके तत्त्वका अवाय (निर्णय) होना चाहिये। भगवान ने कहा इसलिये सच्चा है—ऐसा मानले, किन्तु स्वयं को उसका भाव भासित न हो, तो वह प्रतीति यथार्थ नहीं है; इसलिये "भावभासन" पर मुख्यतः भार दिया है।

भावभासनपूर्वक प्रतीति ही सच्ची प्रतीति है

प्रश्न—यदि जिनदेव अन्यथावादी नहीं हैं, तो जैसा उनका उपदेश है वैसा ही श्रद्धान कर लेना चाहिये; परीक्षा किसलिये करें ?

उत्तर—परीक्षा किये बिना ऐसा तो माना जा सकता है कि—"जिनदेव ने इसप्रकार कहा है वह सत्य है," किंतु स्वयं को उसका भाव भासित नहीं हो सकता, और भाव-भासन हुए बिना श्रद्धान निर्मल नहीं होता; क्योंकि—जिसकी किसी के वचनों द्वारा प्रतीति की हो, उसकी अन्य के वचनों द्वारा अन्यथा प्रतीति भी हो सकती है; तो उन वचनों द्वारा की हुई प्रतीति शक्ति-अपेक्षा से अप्रतीति समान ही है; किन्तु जिसका भावभासन हुआ हो उसे अनेक प्रकारों द्वारा भी अन्यथा नहीं मान सकता। इसलिये जो प्रतीति भावभासन सहित होती है वही सच्ची प्रतीति है।

ज्ञानमें भावभासन-निर्णय-निश्चय-होगया हो तो सारी दृष्टि

बदल जाती है। कभी अन्यथा कथन करके इन्द्र भी परीक्षा करता हो, तथापि उसकी प्रतीति बदल नहीं सकती—उसमें अडिग रहता है। भावभासनके बिना भूल हुए बिना नहीं रहती। उसका दृष्टान्त देते हैं—एकबार किसी लड़के को मच्छरका ज्ञान कराने के लिये बड़ा चित्र बनाकर बतलाया कि—मच्छरके ऐसे चार पैर होते हैं, ऐसी सूँड होती है—इत्यादि। कुछ दिनों बाद उस गांवमें हाथी आया, और उस लड़के से पूछा कि यह क्या है?—लड़केने उत्तर दिया कि उस दिन चित्रमें बतलाया था, वैसा ही यह मच्छर है! देखो, भाव भासित हुए बिना बड़े भारी हाथी को मच्छर मान लिया। उसीप्रकार जिसे जीवादि तत्त्वोंका भाव भासित नहीं हुआ है वह क्षणिक राग को जीव मान लेता है, इसलिये जीवादि तत्त्वोंका भावभासन हुए बिना उनकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती। यथार्थ भावभासन सहित जो प्रतीति होती है वह सच्ची प्रतीति है। कोई कहे कि—पुरुष प्रमाणता से वचन प्रमाण करते हैं, किन्तु पुरुषकी प्रमाणता भी स्वयं नहीं होती। पहले उसके कुछ वचनोंकी परीक्षा कर लेने पर ही पुरुषकी प्रमाणता होती है।

उपदेशमें अनेक प्रकार के तत्त्व कहे हैं, उनमें कौन-कौनसे तत्त्वों की परीक्षा करना चाहिये वह अब कहते हैं।

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख शुक्ला १३ रविवार ता० २६-४-५३]

जो जीव मिथ्यादृष्टि होने पर भी सम्यक्त्व सन्मुख है, सम्यक्त्वकी तत्परता और उद्यम है—ऐसे जीवकी बात चल रही है। वह जीव तत्त्वनिर्णय करने का उद्यम करता है। कुदेवादिकी मान्यता

तो छूट ही गई है, और सच्चे देव-गुरु-शास्त्रको पहिचानकर उन्हीं को मानता है, तथा उनके कहे हुए तत्त्वोंका निर्णय करता है। जिन वचनों में अनेक प्रकार के तत्त्वोंका उपदेश है; उनमें प्रयोजनभूत तत्व कौन-कौनसे हैं, किन-किन तत्वोंकी परीक्षा करके निर्णय करना चाहिये वह कहते हैं।

परीक्षा करके हेय–ज्ञेय–उपादेय तत्त्वों को पहिचानना चाहिये।

उपदेश में कोई तत्व उपादेय तथा कोई तत्त्व हेय हैं; उनका वर्णन है। आत्माकी संवर-निर्जरा-मोक्षरूप निर्मल पर्याय वह उपादेय तत्व है, तथा मिथ्यात्वादि बंध भाव वे हेय तत्व हैं। व्यवहारमें सच्चे देव-गुरु-शास्त्र उपादेय हैं और कुदेव-कुगुरु कुशास्त्र हेय हैं। निश्चय में अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। अन्य जीव-अजीव तत्व ज्ञेय हैं।—इसप्रकार नवों तत्वों में हेय-ज्ञेय और उपादेयकी परीक्षा करके निर्णय करना चाहिये।

उपदेश में किसी तत्वका उपादेयरूप और किसी का हेयरूप निरूपण किया जाता है। वहाँ उन उपादेय-हेय तत्वोंकी परीक्षा अवश्य कर लेना चाहिये; क्योंकि उनमें अन्यथापना होने से अपना अहित होता है; अर्थात् यदि उपादेय को हेय मानले तो अहित होता है, और हेयको उपादेय मानले तो भी अहित होता है।

अब, कोई पूछता है कि स्वयं परीक्षा न करे, और जिनवचन में कहे अनुसार हेयको हेय तथा उपादेय को उपादेय माने तो क्या आपत्ति है? उसका उत्तर देते हैं।

उत्तर—अर्थका भाव भासित हुए बिना वचनों का अभिप्राय नहीं जाना जा सकता। स्वयं तो मानले कि मैं जिनवचनानुसार मानता हूँ; किन्तु भावभासित हुए बिना अन्यथापना हो जाता है।

तत्वका जैसा भाव है वैसी ही श्रद्धा करना वह तत्व श्रद्धान है। प्रयोजनभूत तत्त्वका जैसा स्वरूप है वैसा जाने बिना यथार्थ श्रद्धान नहीं होता। प्रयोजनभूत तत्वकी तो परीक्षा करके श्रद्धा करता है, और किन्हीं सूक्ष्म तत्वोंकी परीक्षा करके उन्हें कहे अनुसार मान लेता है। इस सम्बन्धमें स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२३-३२४ में कहा है कि—इसप्रकार निश्चयसे सर्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन छह द्रव्यों को तथा उन द्रव्योंकी सर्व पर्यायों को सर्वज्ञके आगम अनुसार जो जानता है—श्रद्धान करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है; तथा जो इसप्रकार श्रद्धान नहीं करता किन्तु उसमें शंका करता है वह सर्वज्ञके आगमसे प्रतिकूल है—प्रगटत्तया मिथ्यादृष्टि है।

प्रयोजनभूत हेय—उपादेय तत्त्वों की परीक्षा करके यथार्थ निर्णय करना चाहिये

जो जीव ज्ञानावरणके विशिष्ट क्षयोपशम बिना तथा विशिष्ट गुरुके संयोग बिना सूक्ष्म तत्त्वार्थको नहीं जान सकता वह जीव जिन वचनमें इसप्रकार श्रद्धान करता है कि—"जिनेन्द्रदेव ने जो सूक्ष्म तत्त्व कहा है वह सब मैं भलीभाँति इष्ट करता हूँ"—इसप्रकार भी वह श्रद्धावान होता है।

सामान्यतया तत्त्वोंका निर्णय तो स्वयं किया है, किन्तु विशेष क्षयोपशमज्ञान नहीं है, इसलिये सूक्ष्म तत्त्वों को नहीं जान सकता। वह सर्वज्ञकी आज्ञानुसार मानता है। किन्तु जो मूलभूत तत्त्वोंका निर्णय भी न करे उसे यथार्थ प्रतीति नहीं होती। इसलिये यहाँ कहते हैं कि तत्त्वार्थका भाव अपने ज्ञानमें भासित हुए बिना, केवली के वचनका यथार्थ अभिप्राय समझमें नहीं आता; और स्वयं परीक्षा करके जाने बिना अन्यथा प्रतीति हो जाती है। लोकमें भी किसी आदमी को काम के लिये भेजा हो; वहाँ वह आदमी अगर उसका भाव न समझे तो कुछ के बदले कुछ कर लाता है। इसी आशयका एक दृष्टान्त है—एक सेठ ने अपने नौकर से कहा कि—जा, घोड़े को पानी दिखा ला। वहाँ सेठ के कहने का तात्पर्य तो घोड़े को पानी पिला लाने का था, किन्तु वह नौकर उसे नहीं समझा और घोड़े को नदी किनारे ले जाकर कहने लगा कि—देखले घोड़ा पानी!—इसतरह पानी दिखाकर उसने घोड़े को घर लाकर बाँध दिया। घोड़ा प्यास के मारे हिनहिनाने लगा। तब सेठ ने नौकर से पूछा क्यों भाई! घोड़े को पानी पिलाया या नहीं? वह बोला कि—आपने तो पानी दिखाने के लिये कहा था, पिलाने के लिये कब कहा?—नौकर का उत्तर सुनकर सेठ आश्चर्यमें पड़ गये और बोले कि—अरे मूरख! कहने का भाव तो समझ लेता। उसीप्रकार भगवान ने कहा है इसलिये मान लो,—इसप्रकार परीक्षा किये बिना मान ले, किन्तु स्वयं उसका प्रयोजन न समझे तो लाभ नहीं हो सकता। इसलिये हेय और उपादेय तत्त्व कौन-कौनसे हैं उसका बराबर निर्णय करके समझना चाहिये। भगवान ने कहा है तदनुसार अपने ज्ञानमें बराबर

निर्णय न हो, तबतक परीक्षा करके अपनी भूलको ढूँढ़ता है और सत्यका निर्णय करता है। चाहे जैसा देव–गुरु–शास्त्र को नहीं मान लेता।

जिन वचन और अपनी परीक्षा–इन दोनों की समानता हो, तो जानना कि सत्यकी परीक्षा हुई है। जबतक वैसा न हो तबतक जिसप्रकार कोई हिसाब करता हो और रकम बराबर न मिले तो अपनी भूलको ढूँढ़ता ही रहता है, उसीप्रकार यह भी अपनी परीक्षा में विचार करता रहता है। तथा जो ज्ञेयतत्त्व है उसकी भी परीक्षा हो सके तो करता है, नहीं तो अनुमान लगाता है कि—जिसने हेय-उपादेय तत्त्व ही अन्यथा नहीं कहे वह ज्ञेयतत्त्व अन्यथा किसलिये कहेगा ? जिसप्रकार कोई प्रयोजनभूत कार्योंमें झूंठ नहीं बोलता हो, तो अप्रयोजनभूत कार्यमें किसलिये झूंठ बोलेगा ? इसलिये ज्ञेयतत्त्वों का स्वरूप परीक्षा द्वारा तथा आज्ञा द्वारा भी जानना।

जैन शासनमें जीवादि तत्त्व, सर्वज्ञदेव–गुरु–शास्त्र आदि का मुख्यतया निरूपण किया है। उसका तो हेतुसे–युक्तिसे–अनुमानसे निर्णय हो सकता है; उन्हें तो परीक्षा करके पहिचानना चाहिये। तथा त्रिलोक, गुणस्थान, मार्गणास्थान और पुराणकी कथाओं को आज्ञानुसार समझ लेना चाहिये। समस्त सूक्ष्मतत्त्वोंकी परीक्षा न हो सके वहाँ सर्वज्ञकी आज्ञाका बहुमान करके मान लेना चाहिये।

लोग प्रश्न करते हैं कि भगवान ने ऐसा क्यों नहीं कहा जो हमारी समझमें आता ? तो यहाँ कहते हैं कि—भगवान ने और मुनियों ने तो वही कहा है जो समझ में आये, किन्तु तुझे परीक्षा

करने की दरकार नहीं है। हेतु-युक्ति आदि द्वारा निर्णय करने में तू उपयोग नहीं लगाता, इसलिये तेरी समझमें नहीं आता। हेतु-युक्ति आदि द्वारा वैसा ही कथन किया है जो समझमें आजाये। जो समझने का प्रयास करे उसकी समझमें आता है।

अवश्य जानने योग्य तत्त्व

जीवादि द्रव्यों तथा तत्त्वों को जानना चाहिये। त्यागने योग्य मिथ्यात्व–रागादि तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप बराबर जानना और निमित्त नैमित्तिकादिक को यथावत् समझना चाहिये। इत्यादिकमें उपादान-निमित्त, उपादान-उपादेय आदि जानना। चिद्विलास में कहा है कि–जो कारण कार्य को यथार्थ रूप से जानता हो उसने सब जान लिया। श्री समयसार में निमित्त को हेय तत्त्व कहा है। यह सर्व तत्त्व मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के लिये अवश्य जानने योग्य हैं। इसलिये उन्हें तो बराबर हेतु-युक्ति, प्रमाण नय द्वारा जानना चाहिये। तथा यदि विशेष क्षयोपशम हो तो निर्देश-स्वामित्व द्वारा तथा सत्-संख्यादि द्वारा उन तत्त्वों के विशेष भी जानना चाहिये, अर्थात् जैसी बुद्धि हो और जैसा निमित्त बने तदनुसार सामान्य–विशेषरूप उन तत्त्वों को पहिचानना चाहिये।–इसप्रकार यहाँ द्रव्यानुयोग को प्रधान कहा है। पुनश्च, उन तत्त्वों को विशेष जानने के लिये उपकारी गुणस्थान-मार्गणास्थान आदि जानना। यह करणानुयोग जानने को कहा, तथा पुराणादि (प्रथमानुयोग), व्रतादि क्रिया को (चरणानुयोग को), भी जानना चाहिये, तथा जहाँ समझ में न आये वहाँ आज्ञानुसार जानना।

इसप्रकार उन्हें जानने के लिये विचार-शास्त्र स्वाध्याय-श्रवण-अभ्यासादि करता है। अपना कार्य—सम्यग्दर्शन प्रगट करने का जिसे अत्यन्त हर्ष-उल्लास है, प्रमाद नहीं है, वह अंतरंग प्रीति पूर्वक उसका साधन करते हुये जबतक तत्त्वश्रद्धान-अंतरंग प्रतीति न हो, तब तक उसीके अभ्यास में प्रवृत्त रहता है।

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख शुक्ला १४ सोमवार ता० २७-४-५३]

सम्यक्त्वसन्मुख जीव का उत्साह पूर्वक प्रयत्न

जो जीव सम्यक्त्वसन्मुख हुआ है, उसे अंतर में अपना सम्यग्दर्शनरूपी कार्य करने का महान हर्ष है, इसलिये उत्साह पूर्वक प्रयत्न करता है किन्तु प्रमाद नहीं करता। तत्त्वविचार का उद्यम करता है, और वह उद्यम करते-करते मात्र अपने आत्मा में ही "यह मैं हूँ"— ऐसी अहं बुद्धि हो तब सम्यक्दृष्टि होता है। जैसे—शरीर में अहंबुद्धि है कि "यह मैं हूँ" उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप आत्मा में अनुभव पूर्वक अहंबुद्धि हो तभी सम्यग्दर्शन होता है। चौथे गुणस्थान से ही शुद्ध परिणति प्रारम्भ हो जाती है। शुद्ध उपयोग चौथे गुणस्थान में अल्पकाल तक ही रहता है। उस समय बुद्धि पूर्वक कषाय नहीं है। शुद्धोपयोग होने पर भी अभी बुद्धि पूर्वक राग भी है, सर्वथा वीतरागता नहीं हो गई है। स्वभाव सन्मुख ही उपयोग है वहाँ बुद्धि पूर्वक राग नहीं है। अन्तर में अनुभूति पूर्वक वेदन हो गया है कि—मैं तो ज्ञानमूर्ति आत्मा ही हूँ।—इसका नाम सम्यग्दर्शन है। जब तक ऐसा अनुभव न हो तबतक तत्त्वविचार का उद्यम करता ही रहता है। अपने भावों को बराबर जानता है। मैं ज्ञानानन्द आत्मा हूँ, आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि हों वे मुझे हितरूप हैं—इस-

प्रकार अनुभूतिपूर्वक स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्ञान से जाने तभी सम्यक्‌दृष्टि है। निर्विकल्प अनुभव में मति-श्रुतज्ञान भी स्वानुभव प्रत्यक्ष है। ऐसे ज्ञान से आत्मा के स्वभाव को ही अपने रूप जाने वह जीव सम्यग्दृष्टि है। जो सम्यक्त्वसन्मुख जीव वैसा अभ्यास करता है वह अल्पकाल में ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; इसी भव में प्राप्त करता है; अथवा इस भव के संस्कार लेकर जहाँ जाये वहाँ प्राप्त करता है। तिर्यञ्च में भी कोई जीव पूर्व संस्कारों के बल से निमित्त बिना भी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। अंतर में स्व सन्मुख होने का अभ्यास करते-करते मिथ्यात्व का रस एकदम कम होता जाता है; और ऐसा अभ्यास करते-करते स्वरूप सन्मुख होने पर मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है। यहाँ उद्यम करे और सामने कर्मोंका रस (-अनुभाग) दूर न हो ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ सम्यक्त्व हुआ वहाँ सामने मिथ्यात्व कर्मों का अभाव होता ही जाता है;—ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबंध है। तथापि कोई किसी का कर्ता नहीं है। अंतर में स्वरूप सन्मुख होने का उद्यम करना ही सम्यक्त्व का मूल कारण है, तथा देव-गुरु आदि बाह्य निमित्त हैं। किसी जीव को वर्तमान में वैसे निमित्त न भी हों तथापि पूर्व संस्कारों के बल से सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाता है। पूर्वकाल में उसे देशनालब्धि तो अवश्य प्राप्त होना ही चाहिये यह तो नियम है। तत्त्वविचार करके यथार्थ तत्त्वनिर्णय का उद्यम न करे तो वह जीव सम्यक्त्व का अधिकारी नहीं है।

तत्त्वविचार होते ही सम्यक्त्व का अधिकारी

देखो, तत्त्व विचार की महिमा! तत्त्व विचार रहित देवादिक

की प्रतीति करे, अनेक शास्त्रोंका अभ्यास करे, तथा व्रत-तपश्चरणादि करे तथापि उसे सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं है और तत्त्वविचार वाला उनके बिना भी सम्यक्त्वका अधिकारी होता है। पुनश्च, किसी जीवको तत्त्वविचार होनेसे पूर्व किसी कारणवश देवादिककी प्रतीति होती है, तथा व्रत-तप अंगीकार करता है और फिर तत्त्वविचार करता है, किन्तु सम्यक्त्व का अधिकारी तो तत्त्वविचार होनेपर ही होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि को पहले एक बार ज्ञानी के पास से सीधी देशनालब्धि तो अवश्य प्राप्त होती ही है, फिर भले ही पूर्व भवमें देशनालब्धि प्राप्त की हो और उसके संस्कार से वर्तमानमें सम्यक्-दर्शन प्राप्त कर ले। वहाँ उसे निसर्गज कहा जाता है; किंतु निसर्गज का अर्थ ऐसा नहीं है कि ज्ञानी की देशना बिना सम्यक्त्व होगया। निसर्गज सम्यक्त्व वाले को भी एक बार पूर्वकालमें ज्ञानीके पाससे देशनालब्धि तो अवश्य प्राप्त हुई ही होती है। यहाँ तो कहना है कि— तत्त्वविचारके अभ्याससे जीव सम्यक्दर्शन प्राप्त करता है। सम्य-ग्दर्शन के लिये मूल तो तत्त्वविचारका उद्यम ही है। जिसे तत्त्व का विचार नहीं है और देव-गुरु आदि की प्रतीति करता है; अनेक शास्त्रोंका अभ्यास करता है, व्रत-तपादि करता है, तथापि वह जीव सम्यक्त्व सन्मुख नहीं है; इसलिये तत्त्वविचार की मुख्यता है।

चैतन्य की निर्विकल्प अनुभूति ही सम्यग्दर्शन है।

प्रथम स्वरूप सन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभूति हो—आनन्दका वेदन हो तभी यथार्थ सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है; उसके बिना

यथार्थ प्रतीति नहीं कहलाती। अनुभूति से पूर्व तत्त्वविचार करके दृढ़ निर्णय करना चाहिये, निर्णय में ही जिसकी भूल हो उसे यथार्थ अनुभूति कहाँ से होगी ? नहीं हो सकती। मात्र विकल्पसे तत्त्व-विचार करता रहे तो वह जीव भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं होता। अंतरमें चैतन्य स्वभाव की महिमा करके उसकी निर्विकल्प अनुभूति करना ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्त्व के साथ देव–गुरु आदि की प्रतीति का नियम है।

पुनश्च, किसी को तत्त्वविचार होने पर भी तत्त्व प्रतीति न होने से सम्यक्त्व तो नहीं हुआ, किंतु मात्र व्यवहार धर्म की प्रतीति— रुचि हो जानेसे वह देवादिककी प्रतीति करता है अथवा व्रत-तपको अंगीकार करता है। तथा किसी को देवादिक की प्रतीति और सम्यक्त्व एक साथ होते हैं। तथा व्रत-तप सम्यक्त्व के साथ हों या न भी हों; किंतु देवादिक की प्रतीतिका तो नियम है। उसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता। व्रतादिक होने का नियम नहीं है। अनेक जीव तो पहले सम्यक्त्व होनेके पश्चात् ही व्रतादिक धारण करते हैं, तथा किसी को एक साथ भी हो जाते हैं।

निमित्त की अपेक्षासे अभीतक तत्त्वविचार की मुख्यतासे कथन किया। अब अंतरंग में उतरनेके लिये तत्त्वविचार की प्रधानता को भी उड़ाते हैं।

किसी को तत्त्वविचार होने पर भी तत्त्वप्रतीति न होने से सम्यक्त्व तो नहीं हुआ किन्तु मात्र व्यवहारधर्म की प्रतीति–रुचि हो जाने से वह देवादिक की प्रतीति और व्रत-तप को अंगीकार करता है।

तत्त्व प्रतीति–अंतरंग अनुभूति नहीं की, ज्ञायक सन्मुख नहीं हुआ तो उसे तत्त्व विचार द्वारा व्यवहार धर्म की रुचि रह जाती है, किन्तु वस्तुस्वभाव को प्राप्त नहीं होता। इसलिये ज्ञायक सन्मुख अनुभूति ही प्रधान है, वही सम्यक्त्व है।

पुनश्च, किसी को देवादिक की प्रतीति और सम्यक्त्व एक साथ होते हैं। पहले कहा है कि देवादिक की प्रतीति करता है और फिर सम्यक्त्व होता है, अथवा नहीं भी होता। यहाँ कहा है कि देवादिक की प्रतीति हुई वहाँ अंतरंग ज्ञायक स्वभाव की दृष्टि की, इसलिये दोनों एक साथ होते हैं। तथा सम्यक्त्व के साथ ही किसी को वृत–तपादि होते हैं, किसी को नहीं भी होते, किन्तु सम्यक्त्व के समय देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीति तो नियमरूप होती है। सच्चे देवादिक की प्रतीति के विना तो सम्यक्त्व नहीं हो-सकता। हाँ, सच्चे देवादिक की प्रतीति हो, किन्तु अंतरंग तत्त्व की अनुभूति न करे तो सम्यक्त्व नहीं हो सकता। अनेक जीव तो सम्यक्त्व होने के पश्चात् वृतादि अंगीकार करते हैं, किन्हीं के एक साथ भी होते हैं।

इसप्रकार तत्त्वविचार वाला सम्यक्त्वका अधिकारी है; किन्तु उसे सम्यक्त्व हो ही जाये–ऐसा नियम नहीं है। आत्मसन्मुख परिणाम न करे तो सम्यक्त्व नहीं होता; क्योंकि सम्यक्त्व होने से पूर्व पाँच लब्धि का होना कहा है। सम्यक्त्व होते समय शुद्धोपयोग–निर्विकल्प ध्यान होता है। वहाँ बुद्धिपूर्वक के विकल्प छूट जाते हैं; अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है।

पाँच लब्धियों का स्वरूप

क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि, और करणलब्धि–यह पाँच लब्धियाँ सम्यक्त्व होने से पूर्व होती हैं।

(१) क्षयोपशमलब्धिः—जिसके होने से तत्त्वविचार हो सके—ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हो, अर्थात् उदयकाल को प्राप्त सर्वघाति स्पर्धकों के निषेकों के उदय का अभाव वह क्षय है, तथा भविष्यकाल में उदय आने योग्य कर्मों का सत्ता रूप से रहना वह उपशम है। ऐसी देशघाती स्पर्धकों के उदय सहित कर्मों की अवस्था का नाम क्षयोपशम है, और—ऐसे ज्ञान की प्राप्ति वह क्षयोपशम लब्धि है।

(२) विशुद्धिलब्धिः—मोहकी मंदता अर्थात् मंदकषायरूप भाव हों कि जिनसे तत्त्वविचार हो सके वह विशुद्धिलब्धि है।

(३) देशनालब्धिः—श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदेशित तत्त्वों की धारणा होना, उनका विचार होना वह देशनालब्धि है। नरकादि में जहाँ उपदेश का निमित्त न हो वहाँ वह पूर्व संस्कारों से होती है। यहाँ "उपदेश" कहा है। कोई उपदेश के बिना मात्र शास्त्र पढ़कर देशनालब्धि प्राप्त कर सके—ऐसा नहीं हो सकता। उपदेशित तत्त्वों का बराबर श्रवण, ग्रहण पूर्वक पक्की धारणा होना चाहिये।

(४) प्रायोग्यलब्धिः—कर्मोंकी पूर्व सत्ता घटकर अंतः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाये तथा नवीन बंध भी अंतः कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण के संख्यातवें भागमात्र हो; वह भी उस लब्धिकाल से लेकर क्रमशः घटता ही जाये और कुछ पाप प्रकृतियोंका बंध क्रमशः मिटता जाये;—इत्यादि योग्य अवस्था होनेका नाम प्रायोग्यलब्धि है। यह चारों लब्धियाँ भव्य और अभव्य दोनोंके होती हैं। यह चारों लब्धियाँ होनेके पश्चात् सम्यक्त्व हो तो हो, और न हो तो न भी

हो—ऐसा श्री लब्धिसार में कहा है; इसलिये उस तत्त्वविचारवाले को भी सम्यक्त्व होनेका नियम नहीं है। जैसे—किसीको हितशिक्षा दी; उसे जानकर वह विचार करे कि—यह जो शिक्षा दी है वह किस प्रकार है ? फिर विचार करने से उसे "ऐसी ही है"—इस-प्रकार उस शिक्षा की प्रतीति होजाती है; अथवा अन्यथा विचार होता है, तथा अन्य विचारमें लीन होकर उस शिक्षाका निर्धार न करे तो उसे प्रतीति नहीं भी होती। उसी प्रकार श्री गुरुने तत्त्व उपदेश दिया; उसे जानकर विचार करे कि—यह जो उपदेश दिया वह किस प्रकार है ? फिर विचार करने से उसे "ऐसा ही है"—ऐसी प्रतीति हो जाती है, अथवा अन्यथा विचार होता है; तथा अन्य विचारमें लीन होकर उस उपदेश का निर्धार न करे तो प्रतीति नहीं भी होती। किंतु उसका उद्यम तो मात्र तत्त्वविचार करने का ही है।

प्रथम चार लब्धियाँ तो मिथ्यादृष्टि भव्य-अभव्य दोनों जीवोंको होती हैं; किन्तु सम्यक्त्व होनेपर तो यह चार लब्धियाँ अवश्य होती ही हैं। पांचवीं करणलब्धि होनेपर तुरन्त सम्यक्त्व अवश्य प्रगट होता है इसलिये तत्त्व विचारवाले को सम्यक्त्व होने का नियम नहीं है। जैसे—किसीने किसी को हित शिक्षा दी हो; उसे जानकर वह विचार करे कि—यह जो शिक्षा दी है वह किस प्रकार है ? फिर विचार करने पर "ऐसी ही है"—इसप्रकार उस शिक्षा की प्रतीति हो जाये।

अथवा अन्यथा विचार हो जाये या अन्य विचार में लग जाये और उस शिक्षा का निर्धार न करे, तो प्रतीति नहीं होती। उसी-

प्रकार श्री गुरुने उपदेश दिया हो, वहाँ पहले विचार करे और फिर अन्यथा विचारमें लग जाये, अथवा विशेष विचार करके निर्धार न करे तो अन्तरंग प्रतीति नहीं होती।

पाँचवीं करणलब्धि होने पर सम्यग्दर्शन अवश्य होता है;— उसका अब वर्णन करेंगे।

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख शुक्ला १५ बुधवार २९-४-५३]

यह सम्यक्त्वसन्मुख जीवका वर्णन चल रहा है। तत्त्वविचार का उद्यम करनेसे जीवको सम्यग्दर्शन होता है, तब पहले पाँच लब्धियाँ होती हैं। उनमें पहली चार लब्धियाँ तो प्रत्येक जीवको हो सकती हैं, किन्तु पाँचवीं जो करणलब्धि है वह होने पर जीवको अंतर्मुहूर्त में अवश्य ही सम्यक्त्व होता है। उस करणलब्धि का यह वर्णन हो रहा है।

(५) **करणलब्धिः**—पाँचवीं करणलब्धि होनेपर सम्यक्त्व अवश्य होता ही है—ऐसा नियम है; किन्तु वह करणलब्धि तो उसी जीवके होती है जिसके पूर्व कथित चार लब्धियाँ हुई हों और अंतर्मुहूर्त के पश्चात् सम्यक्त्व होना हो। उस करणलब्धिवाले जीवके बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि–उपयोग को तत्त्वविचार में तद्रूप होकर लगाता है और उससे प्रति समय उसके परिणाम निर्मल होते जाते हैं। जैसे—किसी को शिक्षा का विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसे तुरन्त ही शिक्षा की प्रतीति हो जायेगी। उसीप्रकार तत्त्व उपदेशका विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसे उसका श्रद्धान हो जायेगा। और उन परिणामों का तारतम्य

केवलज्ञान द्वारा देखा, उसीके द्वारा करणानुयोग में उसका निरूपण किया है। उस करणलब्धि के तीन भेद हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। उसका विशेष विवरण तो श्री लब्धिसार शास्त्रमें किया है, उससे जानना।

अंतरमें चैतन्य स्वभाव सन्मुख परिणाम होने पर भीतर कोई सूक्ष्म परिणाम हो जाते हैं वे केवलीगम्य हैं। "मैं अधःकरण करूं, अनिवृत्तिकरण करूं";—ऐसा लक्ष नहीं होता, किन्तु अन्तरमें चैतन्य सन्मुख तत्त्वविचार का उद्यम करने पर वैसे अधःकरणादिके परिणाम हो जाते हैं, वे अपनेको बुद्धिगम्य नहीं हैं।

अध्यात्मदृष्टि से आत्मसन्मुख परिणाम हुए हैं, और आगमदृष्टि से तीन करण के परिणाम हुए हैं—ऐसा कहा जाता है। जीव को विशुद्ध परिणामों का निमित्त होने पर कर्मोंका वैसा परिणमन हो जाता है, किन्तु जीवका उद्यम तो अपने स्वभाव-सन्मुख परिणाम का ही है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके पश्चात् फिर कोई जीव विपरीत अभिप्राय द्वारा भ्रष्ट होकर संसारमें परिभ्रमण करता है। मिथ्यात्व कर्म के उदयमें युक्त होने से सम्यक्त्वका अभाव हो जाता है और मिथ्यात्वकर्मका अभाव होने पर सम्यक्त्व हो जाता है—ऐसा कहा है वह निमित्तसे कथन है। जिस समय यहां जीवके परिणाम स्वभाव—सन्मुख होते हैं, और सम्यक्त्व होता है, उस समय सामने मिथ्यात्व कर्मोंका उदय नहीं होता—ऐसा जानना।

परिणामों की विचित्रता

देखो, परिणामोंकी विचित्रता! कोई जीव तो ग्यारहवें गुण-

स्थानमें यथाख्यात चारित्र प्राप्त करके फिर मिथ्यादृष्टि होकर किंचित् न्यून अर्ध पुद्गल परावर्तन काल तक संसारमें भटकता है, और कोई जीव नित्य निगोदमें से निकलकर मनुष्य होकर आठ वर्ष की आयु में मिथ्यात्वसे छूटकर अंतर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त करता है।—ऐसा जानकर अपने परिणामोंको बिगाड़ने का भय रखना तथा सुधारने का उपाय करना चाहिये।

अनादि निगोद में से निकलकर मनुष्य होता है और आठ वर्षमें सम्यक्त्व प्राप्त करके अंतर्मुहूर्तमें ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है; और कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर फिर निगोदमें जाता है। उसमें जीवके परिणामोंकी ही विचित्रता है; किसी अन्यके कारण वैसा नहीं होता। किसी जीवने निगोद और सिद्धपर्यायके बीच मनुष्यका एक ही भव किया—आठ वर्ष पहले निगोदमें और आठ वर्ष बाद केवली! और दूसरा कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर फिर निगोदमें!—ऐसा जानकर स्वयं अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना, सावधान-होकर स्वसन्मुखतासे उद्यम रखना चाहिये। स्वयं अपने परिणामों को बिगाड़ने का भय और सुधारनेका उद्यम रखना चाहिये।

पुनश्च, उस सादि मिथ्यादृष्टिको यदि कुछ काल मिथ्यात्वका उदय रहे तो बाह्य जैनपना नष्ट नहीं होता, तत्त्वोंका अश्रद्धान प्रगट नहीं होता तथा विचार किये बिना या अल्प विचारसे ही उसे पुनः सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है; तथा यदि अधिक काल तक उसे मिथ्यात्वका उदय रहे तो जैसी अनादि मिथ्यादृष्टिकी दशा होती है वैसी ही दशा उसकी हो जाती है। गृहीत्व मिथ्यात्वको भी वह ग्रहण

करता है; तथा निगोदादिक में भी भटकता है; उसका कोई प्रमाण नहीं है।

पुनश्च, कोई जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादनी होता है तो वहाँ जघन्य एकसमय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल रहता है। उसके परिणामोंकी दशा वचनद्वारा नहीं कही जा सकती। यहाँ सूक्ष्मकालमात्र किसी जातिके केवलीगम्य परिणाम होते हैं वहाँ अनन्तानुबन्धीका उदय होता है; किन्तु मिथ्यात्वका उदय नहीं होता। उसका स्वरूप आगम प्रमाणसे जानना।

पुनश्च, कोई जीव सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होकर मिश्र गुणस्थानको प्राप्त होता है। वहाँ उसे मिश्रमोहनीयका उदय होता है। उसका काल मध्य अन्तर्मुहूर्त मात्र है। उसका काल भी अल्प है इसलिये उसके परिणाम भी केवलज्ञानगम्य हैं। यहाँ इतना भासित होता है कि—जैसे किसी को शिक्षा दी; उसे वह कुछ सत्य तथा कुछ असत्य एक ही कालमें मानता है; उसीप्रकार इसे भी तत्त्वका श्रद्धान–अश्रद्धान एक ही कालमें होता है, वह मिश्रदशा है।

सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट होकर जो जीव अज्ञानी होकर निगोदमें गया है, उसकी दशा भी अनादि अज्ञानी की भाँति हो जाती है। हाँ, उसे संसार परिमित हो गया है, किन्तु वर्तमानमें तो उसे मिथ्याज्ञान ही है। सम्यक्त्व प्राप्त करके फिर भ्रष्ट हुआ उसके ज्ञानको "मिथ्याज्ञान" न कहा जाये–ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले की दृष्टि तो स्वभावसन्मुख ही है; उसके समय-समय के सूक्ष्मपरिणामों को छद्मस्थ नहीं पकड़ सकता।

तीसरा मिश्रगुणस्थान है, किन्तु वहाँ मिश्रका अर्थ ऐसा नहीं है कि सच्चे देव–गुरुको माने और कुदेव–कुगुरु को भी माने। कुदेव–कुगुरुको मानता है वह तो प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न—"हमारे तो जिनदेव तथा अन्यदेव सभी वंदन करने योग्य हैं"—इत्यादि मिश्रश्रद्धानको मिश्रगुणस्थान कहते हैं ?

उत्तर—नहीं; वह तो प्रत्यक्ष मिथ्यात्वदशा है। व्यवहाररूप देवादिकका श्रद्धान होने पर भी मिथ्यात्व रहता है; तब फिर यह तो देव–कुदेवका कोई निर्णय ही नहीं है, इसलिये इसके तो प्रगट विनय मिथ्यात्व है—ऐसा मानना।

सच्चे देव–गुरुको माने, तथापि अंतरमें आत्माकी निर्विकल्प श्रद्धा न हो तो वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है; उसे भी मिश्रगुणस्थान नहीं कहते, तब फिर जिसे अभी सच्चे सर्वज्ञदेव और कुदेव का विवेक नहीं है। और सबको समान मानता है वह तो विनयमिथ्यादृष्टि है। उसके मिश्रगुणस्थान नहीं है, किन्तु स्पष्ट पहला मिथ्यात्व-गुणस्थान है।

—इसप्रकार सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टियोंका कथन किया, तथा प्रसंगोपात्त अन्य कथन भी किया। इसप्रकार जैन मतावलम्बी मिथ्यादृष्टियों के स्वरूप का निरूपण किया। यहाँ नानाप्रकार के मिथ्यादृष्टियों का कथन किया है; उसका प्रयोजन इतना ही जानना कि—उन प्रकारों को समझकर अपने में वैसा कोई दोष हो; तो उसे दूर करके सम्यक्श्रद्धान युक्त होना, किन्तु अन्य के ऐसे दोष देखकर कषायी नहीं बनना चाहिये; क्योंकि अपना भला-बुरा तो अपने

परिणामों से होता है। यदि अन्य को रुचिवान देखे तो उसे उपदेश देकर उसका भी भला करना।

जड-चेतन के परिणाम प्रतिसमय स्वयं अपने से क्रमबद्ध होते हैं:—ऐसा वस्तुस्वरूप सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य मतों में कहाँ है ?– कहीं नहीं है। आत्मा का ज्ञायक-स्वभाव है स्वयं ज्ञायक है; एकद्रव्य दूसरे पदार्थ का भी कार्य कर सकते नहीं, प्रत्येक जड़-चेतन के प्रति समयके परिणाम सदा स्वतंत्र होते हैं।—ऐसी यथार्थ वस्तुस्थिति दिगम्बर जैनमत में ही है।

मिथ्यादृष्टि जीवों का कथन किया है उसे समझकर अपने में वैसा कोई दोष हो तो उसे दूर करने के लिये वह वर्णन किया है। आत्महित के लिये स्वयं अपना विचार कर आत्माकी रुचि करके मिथ्यात्व टालकर सम्यक्त्वका उद्यम करना वह प्रयोजन है।

संसार का मूल मिथ्यात्व है

अपने परिणामों को सुधारने का उपाय करना योग्य है, इसलिये सर्वप्रकार के मिथ्यात्व भाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है; क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई पाप नहीं है। एक मिथ्यात्व और उसके साथ अनंतानुबंधी का अभाव होने पर इकतालीस कर्म प्रकृतियों का बंध तो मिट ही जाता है, तथा कर्मों की अंत: कोड़ा कोड़ी सागर की स्थिति रह जाती है और अनुभाग भी अल्प रह जाता है। अल्पकाल में ही वह मोक्षपद प्राप्त करता है; किंतु मिथ्यात्व का सद्भाव रहने से अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष नहीं होता। इसलिये हरएक प्रयत्न द्वारा भी सर्व प्रकार से उस मिथ्यात्व का नाश करना योग्य है।

कर्मादि पर के कारण जीव के परिणाम बिगड़ते-सुधरते नहीं हैं; किंतु अपने ही उद्यम से बिगाड़-सुधार-होता है; इसलिये ऐसा उपदेश है कि अपने परिणामों को सुधारने का उद्यम करना योग्य है।

इसलिये सर्व प्रकार के मिथ्याभाव छोड़कर स्वभावसन्मुख होना योग्य है। सम्यग्दर्शन ही परम हितका उपाय है। सम्यक्दर्शनके बिना शुभभाव करे तो भी कल्याण नहीं है; क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं हैं। सम्यग्दर्शन होने से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ तथा जीवकी इतनो शुद्ध परिणति हुई कि उस जीव को ४१ कर्म प्रकृतियों का बंध तो होता ही नहीं, और पूर्वकर्म की स्थिति अन्त: कोड़ा-कोड़ी सागर ही रहती है; तथा घातिकर्म आदिमें अनुभाग भी अल्प ही रह जाता है। देखो, यह सम्यग्दर्शन का प्रताप! सम्यग्दर्शन होने पर अवश्य ही अल्पकालमें मोक्षपद प्राप्त करता है और मिथ्यात्ववाले जीवको चाहे जितने उपाय करने पर भी मोक्ष नहीं होता। इसलिये हर किसी प्रयत्न द्वारा सर्व प्रकारसे उस मिथ्यात्वका नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना योग्य है—इस उपायसे जीवका कल्याण होता है।

—इसप्रकार श्री "मोक्षमार्ग प्रकाशक" की किरणों में जैनमतावलंबी मिथ्यादृष्टियों का निरूपण करनेवाला सातवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

❀ समाप्त ❀

शुद्धि पत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
३८	१६	सबध	सम्बन्ध
५०	३	त्रिकाल हूं;	त्रिकाल भिन्न हूं;
५८	अंतिम	नगवान	भगवान
७७	४	स्वबोध	स्वरबोध
७७	५	सयपें	सबपें
१०४	२	आार	और
११६	४	व्यवह	व्यवहार
११६	२०	स्वर	स्व
१४५	४	ब्रह्मचर्य	ब्रह्मचर्य
१५४	२०	भाजनादि	भोजनादि
१५५	१०	आत्मां	आमां
१५५	अंतिम	आ व	आत्मभान
१५९	अंतिम	कम	कर्म
१८३	५	अशानी	अज्ञानी
१८७	१७	सवेदन	संवेदन
२०५	९	आस्माकी	आत्माकी
२०७	५	जजीव	अजीव
२५८	५	सवेगादि	संवेगादि
२६४	५	सह श्री	सहस्री
२९४	२	आता	जाता
३१८	६	मिथ्यादृष्टि	सम्यग्दृष्टि
३४९	अंतिम	मिथ्या	अभूतार्थ
३६४	१९	क्रम	काम
४१५	अंतिम	का	कारण
४५२	६	का भी	का

हमारे हिन्दी प्रकाशन

ज्ञेयस्वभाव और ज्ञान स्वभाव	२-८-०
लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका	०-३-
मूलमें भूल	०-१२-
मुक्तिकामार्ग	०-१०-
अनुभवप्रकाश	०-८-
पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	०-१२-०
समयसार प्रवचन भाग २	५-४-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-८-०
प्रवचनसार	५-०-०
अष्टपाहुड़	३-०-०
चिद्विलास	१-२-०
आत्मावलोकन	१-०-०
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें प्रथम भाग १) द्वि० २)	
दसलक्षणधर्म	०-१२-०
जैन बालपोथी	०-४-०
सम्यग्दर्शन	१-१०-०
समयसार सटीक	छपते हैं
द्वादशानुप्रेक्षा	२-०-०
भेदविज्ञानसार	२-०-०
अध्यात्म पाठ संग्रह	४-०-०
समयसार पद्यानुवाद	०-४-०
निमित्तनैमित्तिक संबन्ध क्या है ?	०-२-६
स्तोत्रत्रयी	०-७-०
आत्मधर्म-मासिक लवाजम-	३-०-०
आत्मधर्म फाइल वर्ष १-२-३-४-५-६-७	३-१२-०

प्राप्ति स्थान—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर

सोनगढ-(सौराष्ट्र)